दिनकर के काव्य में द्वन्द्व

पी–एच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
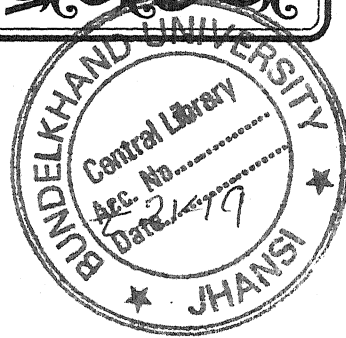
शोध पर्यवेक्षिका -
डॉ० (श्रीमती) नीलम मुकेश
रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई

अनुसंधित्सु
श्रीमती स्वयंप्रभा दुबे
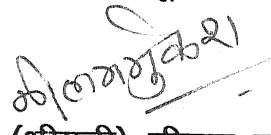
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
सन् 2005 ई०

प्रमाण–पत्र

सहर्ष प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती स्वयंप्रभा दुबे आत्मजा श्री महेशचन्द्र दुबे ने मेरे निर्देशन में रहकर 'दिनकर के काव्य में द्वन्द्व' विषय पर विद्या–वाचस्पति (पी–एच.डी.) उपाधि के लिये बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी के नियमों का पालन करते हुये निर्धारित समय में अपना शोध–कार्य सम्पन्न किया है।

इनकी वृत्ति सारग्राही एवं दृष्टि अन्वेषी रही है। इन्होंने बड़ी लगन, परिश्रम व रूचि के साथ अपने अभिप्रेत कार्य को पूर्ण किया है। यह शोध प्रबन्ध मौलिक है तथा मानक की दृष्टि से खरा उतरता है।

अतः निरीक्षण के पश्चात इनकी सफलता की कामना करते हुये इस पर विद्या–वाचस्पति (पी–एच. डी.) की उपाधि प्रदानं करने के लिये अपनी संस्तुति के साथ विश्वविद्यालय को अग्रसारित करती हूँ।

नीलममुकेश

डा0 (श्रीमती) नीलम मुकेश
शोध पर्यवेक्षिका

घोषणा-पत्र

मैं **स्वयंप्रभा दुबे** यह घोषित करती हूँ कि मैंने अपना शोधकार्य **"दिनकर के काव्य में द्वन्द्व"** डॉ0 (श्रीमती) नीलम मुकेश के निर्देशन में पूर्ण किया है। यह शोध प्रबन्ध मेरा अपना ही कृत कार्य है और इसका कोई भाग मेरी जानकारी में किसी भी विश्वविद्यालय में अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

शोधकर्त्री

स्वयंप्रभा दुबे

स्वयंप्रभा दुबे

प्राक्कथन

साहित्य सृजन मानस मन्थन का प्रतिफल है। मानस मन्थन द्वन्द्व के परिणामस्वरूप प्रारम्भ होता हैं। वैचारिक द्वन्द्व कल्पना के विविध द्वार खोलता है।

वैज्ञानिक सीधे सहज शब्दों में अपनी बात कह लेता है, परन्तु साहित्यकार द्वन्द्व की विविध वीथियों में भटकता रहता है, और यह भटकाव साहित्य सृजन के विविध द्वार खोलता है। दिनकर का व्यक्तित्व भी अन्तर्विरोधों का, जटिलताओं का पुंज है। वैसे तो दिनकर पर पर्याप्त कार्य हो चुका है जिसमें उनके व्यक्तित्व और उनके कृतित्व का विश्लेषण किया गया है। किन्तु मुझे लगता है विभिन्न स्तरों पर एक साथ जीने वाले, अपने ही अन्तर्विरोधों में उलझे हुये और ''उर्वशी'' के पुरूरवा की भाँति द्वन्द्व में जीने वाले कवि दिनकर के द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व पर अभीष्ट कार्य नहीं हुआ है। दिनकर के इस द्वन्द्व, संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्विरोध पर भी पर्याप्त कार्य किया जा सकता है। दिनकर के काव्य में यह अन्तर्विरोध भावजगत और शिल्पजगत दोनों में दृष्टिगोचर होता है। आधुनिकता पर परम्परागत द्वन्द्व भी दिनकर में स्थान–स्थान पर दिखाई देता है। दिनकर के काव्य में विविध आयामों पर शोधार्थियों ने अनेक कार्य सम्पादित किये हैं, किन्तु ''दिनकर के काव्य में द्वन्द्व'' विषय पर अभी भी शोध कार्य सम्पन्न नहीं किया गया है। इसी प्रेरणा से अभिभूत होकर अनुसंधित्सु ने दिनकर के समग्र काव्य में द्वन्द्व को परिलक्षित करना ही अभीष्ट माना है। वस्तुतः कवि के चेतन–अवचेतन में रचे–बसे द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व को परिलक्षित किये बिना काव्य के सही मर्म का उदघाटन नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का मूल अभिप्रेत

दिनकर के काव्य में द्वन्द्व को रेखांकित करना है। मैं "दिनकर के काव्य में द्वन्द्व" विषय पर अपना शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत कर रही हूँ।

मैं अपनी शोध निर्देशिका एवं गुरू विद्वान डा० नीलम मुकेश की विशेष ऋणी हूँ जिन्होंने अध्यक्ष हिन्दी विभाग ऐसे गरिमामय पद की व्यस्तता रहते हुये भी मुझ अल्पज्ञ, अनुभवहीन शिष्या का मार्ग प्रशस्त किया। मुझ पर पूजनीया गुरूदेव की विशेष कृपा न होती तो मेरा अनुसंधान कार्य पूरा होना दूभर हो जाता। मैं अपने संरक्षक एवं प्राचार्य डा० नारायणदास समाधिया की भी विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अनुसंधान क्रम में समस्त साधन उपलब्ध कराये। मैं विद्वान साहित्यकार डा० जयसिंह 'नीरद' निदेशक, कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी हिन्दी संस्थान, डा० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुझे इस शोधकार्य के लिये प्रेरणा दी एवं मेरा मार्गदर्शन किया। मैं अपने पति श्री जयनारायण चंसौलिया के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ जिन्होंने अनुसंधान क्रम के समापन की दिशा में प्रोत्साहित किया और पूर्ण सहयोग दिया। मैं अपनी माता श्रीमती मीरा दुबे, परम विदुषी एवं मानस प्रवक्ता के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना श्रेयस्कर समझती हूँ जिन्होंने शोध कार्य का सरलीकरण किया जिसकी वजह से ही शोध पूरा हो सका है। मैं अपने पिता श्री महेशचन्द्र दुबे के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिन्होंने सदैव मुझे अपने मार्ग की ओर अग्रसर किया। मैं अपने भाइयों सर्वेश दुबे व अभय दुबे की विशेष आभारी हूँ जिन्होंने हर सम्भव सहयोग दिया। अपने स्नेह से मैं अपने दो नन्हें मुन्नों को वंचित नहीं रख सकती। मेरा बेटा शाश्वत अपनी छोटी बहिन को यह कहकर समझाता कि साक्षी माँ को पढ़ने दो क्योंकि माँ को डॉक्टर बनना

है। मैं उनकी इस भावना की कद्र करती हूँ और उन्हें हृदय से आशीष देती हूँ। मेरी माँजी (सास) एवं पापा जी(ससुर) के प्रति आदर व्यक्त करना मेरा परम कर्तव्य होगा जिन्होंने सदैव मुझे आशीर्वाद किया। टाइपिस्ट श्री धीरज गुप्ता ने इस शोध–प्रबन्ध के छपने में इतना समय व मन लगाया, मैं उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। अनेक विद्वानों की इस शोधकार्य की सफलता के लिये सहायता प्राप्त करती रही हूँ, उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना मेरा नैतिकदायित्व है। इस शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में अत्यन्त सहायक, अपने निजी पुस्तकालय से विषयानुरूप पुस्तकें सुलभ कराने वाले अनेक विषयों के विद्वान श्री स्वामी रमेश (वानप्रस्थी) का मैं हार्दिक आभार प्रदर्शित करने में अपने को गौरवान्वित अनुभव करती हूँ।

अन्त में इस शोध में अनेक विद्वानों के विचारों का उपयोग हुआ एवं जिनकी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सद्भावनायें मेरे साथ रहीं उनके प्रतिं आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में दिनकर के काव्य में द्वन्द्व को परिलक्षित किया गया है। अनुसंधान के सुनियोजित वैज्ञानिकीकरण हेतु विषय को पांच अध्यायो में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय के पूर्व विषय प्रवेश को और पांचवे अध्याय के अन्त में उपसंहार और परिशिष्ट रखा है।

विषय प्रवेश में दिनकर व्यक्ति और रचनाकार, प्रेरक परिस्थितियाँ एवं दिनकर का व्यक्तित्व द्वन्द्वों का जटिल संपुंज की विवेचना है।

प्रथम अध्याय में द्वन्द्व का आशय और स्वरूप है। जिसके अन्तर्गत द्वन्द्व का सामान्य आशय, विभिन्न अभिमत और उनका विश्लेषण, द्वन्द्व निकटवर्ती सन्दर्भ में, द्वन्द्व और संघर्ष, द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व, द्वन्द्व और अन्तर्विरोध,

द्वन्द्व और विरोध और द्वन्द्व समग्र स्वरूप का प्रस्तुतीकरण है। दिनकर के काव्य का संक्षिप्त परिचय भी प्रतिपादित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में दिनकर के पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों पर आश्रित द्वन्द्व कथ्यात्मक स्रोत परक द्वन्द्व एवं शिल्पात्मक प्रयोग परक द्वन्द्व की विवेचना है।

तृतीय अध्याय में दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीयता और द्वन्द्व, भाषिक प्रयोगधर्मी द्वन्द्व का प्रस्तुतीकरण है।

चतुर्थ अध्याय में दिनकर के अन्यस्फुट काव्य रचना धर्मिता में परम्परा और आधुनिकता बोधीय द्वन्द्व और शैल्पिक रचना धर्मी द्वन्द्व का परिचय है।

पाँचवे अध्याय में दिनकर के काव्य में विचारधारा और अन्तर्द्वन्द्व का सहसम्बन्ध के अन्तर्गत हिन्दी कविता के वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि दिनकर, उपभोक्ता मूलक संस्कृति के समर्थ प्रतिरोधक कवि दिनकर, परम्परा के प्रति उपयोगपरक दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर, प्रगतिशील और प्रयोगपरक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर को परीक्षित किया गया है।

अन्त में उपसंहार है। परिशिष्ट के अन्तर्गत उपजीव्य ग्रन्थ, उपस्कारक ग्रन्थ और पत्र पत्रिकाओं की सन्दर्भ सूची है।

अनुसंधित्सु

स्वयंप्रभा दुबे

दिनांक,
26 दिसम्बर, 2005

श्रीमती स्वयंप्रभा दुबे

विषय-अनुक्रमणिका

विषय प्रवेश

१. दिनकर व्यक्ति और रचनाकार।
२. प्रेरक परिस्थितियाँ
३. दिनकर का व्यक्तित्व- द्वन्द्वों का जटिल संपुंज।

दिनकर व्यक्ति और रचनाकार

दिनकर का व्यक्तित्व और रचनाकार का विवेचन करने के लिये हमने दिनकर का जन्म, दिनकर का रूप–रंग, दिनकर के संस्कार, पारवारिक परिस्थिति और परिवार के प्रति उनका दृष्टि कोण के अन्तर्गत अध्ययन किया है।

दिनकर का जन्म मुंगेर जिला (बेगूसराय) के सिमरिया ग्राम में 13 सितम्बर सन् 1908 में हुआ था। दिनकर एक मध्यम परिवाऱ के व्यक्ति थे। दिनकर के तीन भ्राता थे। दिनकर दूसरी संतान थे। सबसे वरिष्ठ भ्राता श्री बसन्त सिंह एवं सबसे कनिष्ठ भ्राता श्री सत्यनारायण सिंह थे। दिनकर के पिता का देहावसान उस समय हुआ जब ये मात्र तेरह वर्ष के थे। माता के रक्षण में ही इनका पालन पोषण हुआ था।

अति तेजस्वी स्वरूप वाले दिनकर का रंग गोरा लम्बा चौड़ा शरीर, बड़ी बड़ी सुन्दर आँखें इनके व्यक्तित्व को निखारने वाली थीं। 5 फुट 11 इंच की लम्बाइ वाला शरीर आकर्षण उपस्थित करता था।

व्यक्ति जिस वातावरण में जन्म लेता है, उसके प्रभाव से वह अछूता नहीं रह सकता। सामाजिकता, संस्कृति, अनुवांशिकता व पर्यावरण का उसके तन मन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी वातावरण के अनुरूप ही वह संस्कारित होता हैं

दिनकर के पिता श्री रविसिंह एक कृषक साक्षर थे। रविसिंह जी को सम्पूर्ण तुलसी कृत ''राम चरित मानस'' कंठस्थ था। दिनकर की माता भी धार्मिक प्रवृत्ति की थी।[1]

---

1. दिनकर के साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति– डा0 रमारानी सिंह– पृ0 18

दिनकर ने प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हेतु राष्ट्रीय पाठशाला ग्राम बारो में प्रवेश लिया। पाठशाला के वातावरण ने इनके मन मस्तिष्क पर राष्ट्रीय भाव अंकित कर दिये। हाईस्कूल मोकामाघाट से हाईस्कूल परीक्षा दिनकर ने उत्तीर्ण की थी। दिनकर सन् 1932 में पटना कालेज से स्नातक हुए।

सन् 1933 में बरबीघा हाईस्कूल में प्रधानाध्यापक पद पर आसीन हुए। सन् 1934 में सब रजिस्ट्रार हुए। सन् 1947 में बिहार सरकार के प्रचार विभाग में उपनिर्देशक बनाये गये। सन् 1950 ई0 में उक्त पद को छोड़कर पुनः दिनकर जी ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया और मुजफ्फर पुर कालेज में हिन्दी के विभागाध्यक्ष पद को सुशोभित किया। दिनकर जी ने अधिक समय तक किसी भी पद को स्थाई रूप से सुशोभित नही किया।

दिनकर जी सारे जीवन में संघर्षरत रहे; इसी कारण उनकी विचार धारा में संघर्ष समा सा गया था। इसी से प्रभावित होकर काव्यालोचना समबन्धी पुस्तक "शुद्ध कविता की खोज" में वे लिखते हैं– "जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, वह संघर्ष की अवस्था है, जब तक वह अवस्था बनी रहती है। तभी तक 'व्यक्तित्व कायम रहता है।"[2] दिनकर इतिहास विषय के होते हुए उन्हें हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, फ्रेन्च, रसियन, बंगला अनेक भाषाओं का ज्ञान था। इन भाषाओं में वे साधारणतया बोलते व लिखते भी थे।

दिनकर की पारिवारिक स्थिति अच्छी नहीं थी। बचपन में ही पिता स्वर्गवासी होने के कारण घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। दिनकर जी ने बडे संघर्षो में अपनी पढ़ाई पूरी की। संयुक्त परिवार का बोझ इनके कंधों पर

---

1. "रामधारी सिंह दिनकर" – पृष्ठ–14, श्री मन्मथ नाथ गुप्त
2. दिनकर के साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति– डा0 रमारानी सिंह, पृ0–21

रख गया। पारिवारिक परिस्थितियों को ढोते हुए ही इनका विवाह हुआ। स्वार्थी और कर्कशा पत्नी से इनकी कभी पटी नहीं। आपसी मतभेद सदैव बना रहा। ऐसी स्थिति में सुखद दाम्पत्य की कामना करना निर्मूल है। दिनकर का दाम्पत्य जीवन क्लेशमय व उद्विग्न रहा। सन् 1973 में कानपुर आयोजित एक गोष्ठी में स्वयम् दिनकर के उद्‌गार थे–

''बाबा तुलसी के अपने काव्य में रत्ना का नाम कहीं नही आया, क्योंकि जब वह बोलती थी विष ही उगलती थी।'' इन वाक्यों से दिनकर जी की मानसिक व्याकुलता स्पष्ट झलकरही है। वे यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से अपनी ही व्यथा को उद्‌घाटित कर रहे हैं।

दिनकर जी के दो बेटे थे। बड़ा रामसेवक तथा छोटा केदारसिंह था। पढ़ाई व नौकरी के कारण बेटों का सुख दिनकर जी को प्राप्त न हुआ और वैसे भी बच्चों में मातृपक्ष के गुण अधिक समावेशित थे। इस कारण दोनों पुत्र भी वितृष्णा भाव के कारण पिता को मानसिक सन्तुष्टि प्रदान न कर सके। दिनकर जी के ऊपर दो पुत्रियों, छै भतीजियों तथा पुत्र रामसेवक की मृत्योपरान्त दो पौत्रियों के विवाह का भार आ पड़ा। जिसे उन्होंने बखूबी निभाया। विवाहों में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी। दिनकर जी के अत्यधिक संघर्षशील जीवन को देखकर बड़े–बड़े साहित्यकार सोचने पर विवश थे कि ऐसे पारिवारिक संघर्षो में भी इतनी सुन्दर रचनाओं का सृजन करना कैसे सम्भव हुआ। इसी सन्दर्भ में श्री प्रफुल्ल चन्द्र ओझा के शब्द हैं–

''दिनकर जिस पारिवारिक परिवेश में रहने को मजबूर थे, उसमें पढ़ने–लिखने की बात तो बहुत दूर है, कोई जीवित भी कैसे रह सकता है।

सोचकर आश्चर्य होता है कि हृदय में भयानक ज्वालमुखी छिपाये वे ऊपर से कितने शान्त दिखते थे। मित्रों के साथ ऐसे अट्टहास करते थे कि कौन कल्पना कर सकता है कि वह आदमी अन्दर से दुखी व टूटा हुआ है।"[1]

दिनकर के व्यक्तित्व का प्रमुख पहलू उनका परिवार ही था। वे परिवार के प्रति बड़े कर्तव्यनिष्ठ थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन अपने परिवार पर ही न्योछावर कर दिया। वे एक आदर्श पुत्र होनें के साथ साथ आदर्श पति व आदर्श पिता भी थे। यह बात अलग है कि वे प्रेम को प्रकट करना नहीं चाहते थे। ऊपर से वे जितने सरल व तटस्थ दृष्टि गोचर होते थे, अन्दर से वे उतने ही अधिक भावुक, कोमल, संवेदनशील व सहज थे। वे अपने व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार की चोट लगने पर पूरी तरह बिखर जाते थे तथा अपनी ही अश्रुधारा में डूब जाते थे।

दिनकर ने जीवन पर्यन्त अपने परिवार का निर्वाह किया। उनके बड़े पुत्र रामसेवक की मृत्यु के पश्चात पुत्र बधू व चार बेटियों तथा एक बेटे का भार भी उन्हीं के कन्धों को वहन करना पड़ा। अब वे पूर्णताः टूटने लगे थे। उनके पुत्रों से उन्हें कोई सुख की आशा नहीं थी फिर भी उन्हें पुत्रों से लगाव था। जब उनके ज्येष्ठ पुत्र की बीमारी के मध्य डाक्टरों के जवाब देने पर देवी मन्दिर में जाकर रोते हुए माँ से कहा– "हे माँ मेरी आयु मेरे पुत्र को दे दो, मेरे पुत्र को शीघ्र ही स्वस्थ कर दो।" लेकिन विधि के विधान को कौन टाल सकता है।

दिनकर के मन में न जाने कौन सा द्वन्द्व था जो उन्हें नौकरी बदलने पर विवश करता था। वे एक के बाद एक नौकरी बदलते रहते तथा कभी भी

1. समीक्षा, श्री गोपाल राम, पृष्ठ 8

एक नौकरी में स्थिर नहीं रह पाते थे।

पारिवारिक क्लेश व ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु ने उनके मन को झकझोर कर रख दिया। अन्त में वे इतने थक गये कि उन्होंने नौकरी से विश्राम ले लिया फिर भी उन्हें शान्ति प्राप्त न हो सकी। जीवन भर परिवार का बोझा ढोने वाले को जब सहारे की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उस व्यक्ति ने अपने को अकेले ही पाया। दिनकर जी के शब्दों में–

"जिन्हें नौकरी करके मैने आजन्म पाला उन आत्मियों की आज यह स्थिति है कि बिना नौकरी के उन्हें मैं दो माह भी सहन नहीं हुआ।"[1]

दिनकर की अजीब सी छटपटाहट आन्तरिक घुटन, टूटा व्यक्ति, वेचैन होता मन ने ऐसे साहित्य का सृजन किया जो मन के अन्तःस्तल में प्रवेश करने वाला था।

प्रेरक परिस्थितियाँ

व्यक्ति परिस्थितियों का दास होता है, परिस्थितियाँ ही उसके मन का निर्माण करती हैं। पारिवारिक परिस्थितियाँ प्रेम और कुण्ठा का निर्माण करती हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को संघर्ष शील बनाती हैं। राजनैतिक परिस्थितियाँ उसे क्रान्ति की ओर ढ़केलती हैं। इन्हीं परिस्थितियों का अध्ययन करने हेतु, जिन्होंने दिनकर का काव्य सृजन कराया, निम्न तीन वर्गो में बांटकर अध्ययनरत हूँ–

1. पारिवारिक परिस्थितियाँ
2. सामाजिक परिस्थितियाँ

---

1. "दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व", सम्पादक जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पृष्ठ 125.

3. राजनीतिक परिस्थितियाँ

पारिवारिक परिस्थितियाँ–

एक कलाकार या साहित्यकार जब भी आसमान की ऊँचाइयों को छूता है, इसका प्रेरणास्रोत उसके आसपास का परिवेश होता है। एक साधारण व्यक्ति किसी नदी, पहाड़, झरने व हिमालय को देखकर वह कल्पना नहीं कर सकता जो एक साहित्यकार कल्पना करता है। जिसका अध्ययन जितना गहन होता है वह व्यक्ति किसी भी वस्तु से उतना ही अधिक प्रभावित होता है। दिनकर ने जब इस धरा पर आँखे खोली तो अपने आपको परिस्थितियों से घिरा पाया। बचपन में ही पिता का देहान्त हो जाने से पिता के प्यार से वंचित रहे। माँ पर ही समस्त उत्तरदायित्व का बोझा आ पड़ा। माता ने अपने तीन पुत्रों का पालन पोषण किया। दिनकर का सुकुमार शरीर व सुन्दर रूपरंग देखकर उनके ज्येष्ठ भ्राता ने उन्हें कृषि कार्य से विमुख रखा। दिनकर के ज्येष्ठ भ्राता बसन्त सिंह की प्रबल इच्छा थी। कि दिनकर पढ़ लिखकर सरकारी नौकरी करें। विषम परिस्थितियों में उन्होंने अपनी पढ़ाई समाप्त की और परिवार की डोर अपने हाथ में सम्हाल ली। बड़े भाई बसन्तसिंह की पाँच बेटियों व एक बेटा, दिनकर के दो बेटों व दो बेटियों तथा छोटे भ्राता सत्यनारायण की एक बेटी व दो बेटों का दायित्व उनके ऊपर आ पड़ा। समस्त परिवार का बोझ उनको ही ढोना पड़ा। दिनकर ने अपने जीवन काल में छै भतीजियों, दो पुत्रियों, तथा दो पौत्रियों का वैवाहिक यज्ञ सम्पन्न किया। जीवन भर की कमाई बेटियों के वैवाहिक कार्यक्रमों में लगा दी। किसी भी विवाह में मात्र आर्थिक सहयोग ही नहीं वरन् शारीरिक सहयोग भी देना पड़ता था। सारा कार्य उन्हें ही सम्पादित करना पड़ता था। निमन्त्रण पत्र

छपवाना, भेजना, सामान की लिस्ट तैयार करना व बाजार से स्वयम् क्रय करने हेतु जाना पड़ता था। कोई भी व्यक्ति परिवार में इस योग्य नहीं था जो सत्यता से उत्तरदायित्व निभा सके।

दिनकर जी के पारिवारिक जीवन में बड़ी खिन्नता रही। पत्नी से आपसी मतभेद सदैव बना रहा। इस मतभेद के उत्तरदायी स्वयम् दिनकर जी ही थे। छोटी उम्र में विवाह हो जाने के कारण परम्पराओं में बंधे रहे। उन्होंने सदैव यह प्रयत्न किया कि मेरी माँ को इस बात का भान कभी न हो किसी पराई स्त्री ने उनके बेटे को छीन लिया है। मर्यादा व रूढिवादिता में फंसे हुए दिनकर जी एक पुत्र का कर्त्तव्य तो निभाते रहे परन्तु अपनी पत्नी के अनुसार वे कभी न चल सके। पत्नी को वे प्रसन्न न रख सके। पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य को न निभा सके, जिसके लिए वे जीवन पर्यन्त कसकते रहे। पुत्रों से भी उनकी अधिक नहीं पटी, बड़े पुत्र रामसेवक ने उनके हृदय को अत्यधिक पीड़ा पहुँचाई। छोटा पुत्र केदारनाथ भी झगड़े पर उतारू रहता था। दिनकर जी को अनुचित सहन नहीं हो पाता था। अनुचित कार्य होने पर दिनकर जी में सिंह गर्जना के पश्चात रूदन का क्रम था। बालक हृदय लेकर दिनकर जी सारे जीवन कष्टों के झंझाबात में उलझे रहे।

दिनकर जी का संकल्प प्रकाशन व्यवसाय चलाने का था। बड़े बेटे से इस व्यवसाय को सम्हालने की चाह थी। रामसेवक ने बचपन में कठोर अनुशासन का जीवन जिया था। इस कारण वे प्रतिबन्धों के मध्य कार्य न कर स्वच्छन्दता चाह रहे थे। दिनकर जी ने संकल्प की पूर्ति हेतु रामसेवक के अनुसार ही प्रकाशन कार्य सौंप दिया, जिसका नाम 'उदयाचल' रखा गया। रामसेवक के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप व्यवसाय पनप गया। लाभ ने गृह

को स्तरीय बना दिया। पिता पुत्र में अति विश्वास पनप गया था। दोनो मित्रवत बन गये थे। हिसाब कभी नहीं मांगा। रामसेवक के मन में विवेकहीन भाव जागा। प्रकाशन का श्रेय स्वयम् रामसेवक अपने को समझने लगे। वे एक मात्र अपना अधिकार समझने लगे थे। अहंकार व्यक्ति को अंधकार पूर्ण दलदल में प्रवेश कराता है। द्वेष पनपा। रामसवेक की सोच बदली। पिता का पूरा वेतन बचने के फलस्वरूप पर्याप्त धन इकत्रित हो गया है। इसी भाव ने पिता–पुत्र में झगड़ा उत्पन्न करा दिया। दिनकर जी के भरोसे को ठेस लगी। गृह कलह चरम सीमा पर पहुंच गया। विस्वास में धोखा खाया।

भेंट में ज्योतिषी की वाणी थी– ''आपका बड़ा पुत्र तो आपको बड़ा कष्ट दे रहा होगा''?[1] दिनकर जी के प्रतिवाद में प्रतिउत्तर आया– ''तो वह जियेगा नहीं, क्योंकि उसका जन्म तो आपको कष्ट देने के लिए ही हुआ हैं।''

रामसेवक ने प्रेस का भुगतान नही किया। फलस्वरूप तकादा दिनकर जी को झेलना पड़ा।

कठोर परिश्रम से संचित धनराशि से बेटियों के विवाह करने थे। एक या दो नहीं बल्कि दस बेटियों के विवाह का भार उन पर था। दिनकर जी बड़े भावुक व संवेदनशील व्यक्ति थे। मन को दुखाने वाले बेटों से लगाव व प्रेम था। पहले वे एक पिता थे बाद में कवि थे। रामसेवक के अत्यधिक घातक रोग से दिनकर जी का मन पिघल गया। डाक्टरों के जबाब देने पर उनका मन बेचैन हो उठा। पुत्र की बीमारी का कारण स्वयम् को मानकर विचार कौंध जाता था कि वे पुत्र से न झगड़ते तो वह तनाव ग्रस्त न होता। मन्दिरों में देवताओं के समक्ष रूदन पूर्वक आग्रह करते– हे भगवान मेरे पुत्र को मेरी

1. दिनकर एक सहज पुरूष, शिवसागर मिश्रा–13, पृष्ठ 41

आयु दे दो और उसे आरोग्य कर दो। दिनकर जी ने अपने नेत्रों के समक्ष अपने पुत्र को मृत्यु के गाल में जाते देखा। पीड़ा की इस यात्रा में दिनकर जी अपने को अकेला ही पाते। रामसेवक की चार बेटियों के विवाह का भार भी दिनकर जी के ऊपर आ पड़ा। पारिवारिक बोझ ने उन्हें इतना दबोचा कि वे शान्ति की खोज में निकल पडें; परन्तु शान्ति से उन्हें भेंट न हो सकी।

संसद की सदस्यता छूटने के पश्चात एकान्त तलाशता, विश्रामरहित जीवन के समय दिनकर जी ने अपनी आत्मकथा का लेखन प्रारम्भ किया। दिनकर जी के साहित्यिक मित्र बहुत थे। ईर्ष्यालु व्यक्तियों की भी कमी नहीं थी। दिनकर जी महान साहित्यकार होने के साथ सहृदय, दयालु और परोपकारी व्यक्ति थे। वे सदैव लिखने के लिए तत्पर रहते थे। लिखने की जिज्ञासा उनका पीछा नहीं छोड़ती थी। अत्याधिक क्रोधित स्थिति से सामान्य स्थिति में आने में उन्हें देर नहीं लगती थी। ऐसी स्थिति पश्चात् क्षणभर में लेखन प्रारम्भ हो जाता था। रेणुका और हुंकार के पश्चात युवाओं के हृदय को आकर्षित करने वाले दिनकर जी का व्यक्तित्व, ओजस्वी वाणी का गर्जन सबको आकर्षित और प्रभावित करता था।

दिनकर जी एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं ठहरपाते थे। वे संसद सदस्य तो बन गये पर राजनीतिज्ञ नहीं बन पाये थे। इसका प्रमुख कारण इनकी स्पष्ट वादिता और सत्यवादिता ही थी। उनके विचार थे कि व्यक्ति जितना सत्य से दूर होगा वह उतना ही बड़ा राजनीतिज्ञ होगा। यह जानते हुए भी वे अपने को मोड़ नहीं सके।

दिनकर जी को जीवन पर्यन्त विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। परिवार की ओर से असहयोग ने उनको चिन्तामुक्त नहीं होने दिया।

कुरीतियों से ग्रसित समाज और दस पुत्रियों के विवाह के बोझ तले वे दब गये। इतना ही नहीं जिस परिवार का बोझ वे ढ़ोते रहे अन्त में जब उन्हें सहारे की आवश्यकता हुई उस समय उन्होंने अपने को अकेले ही पाया। ऐसी विषम परिस्थिति में भी वे लिखते रहे। पारिवारिक, धार्मिक व आर्थिक कठिनाइयों के फलस्वरूप उनकी लेखनी में इन्द्रधनुषी रंग तो कभी अंगारे बारीबारी से उभरते रहे।

दिनकर जी के विरोधी मित्र उन्हें 'रश्मिरथी' का कर्ण न मानकर उन्हें 'उर्वशी' का पुरूरवा मानते रहे। विरोधियों ने उन्हें निराधार चारित्रिक आरोप लगाये। वे एक मर्यादित पुरूष थे। द्वन्द्व की परिस्थिति ही उन्हें काव्य सजृन हेतु प्राप्त हुई थी। काम और आध्यात्म के भाव एक साथ समावेशित होने के फलस्वरूप 'उर्वशी' का जन्म हुआ। 'उर्वशी' नामक प्रबन्धकाव्य में काम व आध्यात्म का द्वन्द्व काव्यात्मक स्वरूप लेकर उत्पन्न हुआ है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने पत्र में लिखा था–

"क्या अद्भुत विराट कल्पना है आपकी? उर्वशी विश्व बृम्हाण्ड व्यापी मानस की नित्य नवीन सौन्दर्य कल्पना के रूप में ऐसी निखरी है कि आश्चर्य होता है.................। आपके इस काव्य में बहुत कुशलता से युग–युग की मनीषा का सारभूत तत्व आ गया है। शब्द आपके आदेश पर पीछे पीछे हाथ जोड़कर दौड़ते हैं तथा छन्द आगे–आगे दौड़ता है।..................... निश्चय ही समाधिष्टचित्त की रचना है। 'उर्वशी' को देखकर कालिदास के शब्दों में थोड़ा बदलकर कह सकते हैं– तालंपिर्विदे धेरनूनं महाभूत समाधिना।"[1]

व्यवहारिक जीवन में परास्त दिनकर जी को मधुमेह ने जकड़ लिया।

---

1. दिनकर एक सहज पुरूष, शिवसागर मिश्रा, पृष्ठ 168

उनका मन दुखों से निर्वाण पाने के लिये मृत्यु के आलिंगन को तड़प उठा था। आत्महनन की भावना से हटकर दिनकर का मन भक्ति की ओर पदार्पण कर गया। 'हारे को हरिनाम' रचना इसी मनोवेदना का रूप है। जीवन के अन्तिम क्षणों को उन्होंने दिल्ली में रहकर बिताये। दिनकर जी ने अपने दामाद शिवसागर मिश्र को एक पत्र में लिखा था–

"जल्दी शरीर छूटे तो मालकिन व रामसेवक को शान्ति मिले।"[1]

दिनकर जी ने अपनी डायरी में स्वयम् अपनी मनोदशा का चित्रण इस प्रकार किया है–

" संघर्ष से टूटा हुआ,

दुर्भाग्य से लूटा हुआ।

परिवार से छूटा हुआ,

कितना अकेला आज मैं।"[2]

सामाजिक परिस्थितियाँ

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य में ही समाज के विविधरूपों की अभिव्यक्ति होती है। धर्म, राजनीति, रीति–रिवाज, संस्कृति व रहन सहन सभी की साहित्य में उपस्थिति रहती है। साहित्यकार अपने युग का सृष्टा व दृष्टा होता है। वह अपने चारो ओर के परिवेश से जो गृहण करता है उसे अपने साहित्य में समाहित कर लेता हैं।

साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है इसलिये साहित्य की सर्जना करके वह समाज को नई दिशा प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक

1. दिनकर एक सहज पुरूष, शिवसागर मिश्रा, पृष्ठ 189

2. दिनकर की डायरी, पेज 92.

परिवेश से प्रभावित है। गम्भीर व भावुक व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों की ओर अधिक आकृष्ट होते देखे गये हैं। साधारण व्यक्ति वर्तमान की सामाजिक कुरीतियों को ओझल कर देता है। साहित्यकार सामाजिक कुरीतियों पर अपने साहित्य के माध्यम से आक्रमण करता है। साहित्यकार भूत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को सुधारता हुआ भविष्य पर भी दृष्टिपात करता है। कवि अपने समय का सजग प्रहरी होता है। दृष्टि गोचर होने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं का आकलन साहित्य में समाहित हो जाता है। 'जहाँ न जाये रवि, वहाँ पहुंचे कवि।' की कहावत चरितार्थ होती है। साहित्यकार का प्रेरणा स्रोत उसका परिवेश ही है। सामाजिक दृष्टिकोण से संकीर्णता, नारी की दयनीय स्थिति, पर्दाप्रथा आदि नारी के मानसिक व बौद्धिक विकास में बाधा बन कर खड़े हैं। नारी का जीवन, दासी का जीवन जीना है। पति का अत्याचार सहना ही उनका धर्म माना जाने वाला समाज अपनी ऊँचाइयों को नहीं छू पाता है।

दिनकर जी के समकालीन सामाजिक परिवेश में बाल–विवाह, बहुविवाह, दहेज का बोल बाला, आर्थिक विपन्नता के कारण सुकुमारियों का वृद्धों के साथ विवाह, जवानी में विधवा होकर सारा जीवन कठिनाइयों में व्यतीत करना आदि कुप्रथायें थीं। दिनकर जी के साहित्य ने इन समस्त कुप्रथाओं को उजागर किया। सुधारने का मार्ग प्रशस्त किया। दिनकर जी का ग्राम एक निर्धन कृषकों का ग्राम था। यहाँ का मुख्य धन्धा कृषि था। अतिवृष्टि और बाढ़ आने से कृषकों की विपन्नता, गरीबी को बढ़ावा मिल रहा था। गंगातट पर बसा गांव देखने में मनोरम था। पर उजड़ते हुए खेत खलिहानों को भी दिनकर जी ने दृष्टिपात किया। जहाँ प्राकृतिक आपदा थी वहीं जमीदारों का उत्पीड़न भी कृषक जीवन में था। जमींदारी उत्पीड़न की मार झेलने वाले

कुछ परिवारों का रात्रि भोजन मात्र जल ही था। जमींदारी उत्पीड़न झेलने वाले कृषक दिन रात परिश्रम करके अन्न उपजाने वाले कृषक परिवार को भूखा ही मरना पड़ता था। दिनकर जी के चक्षुओं ने अनाज पैदा करके भी भूखे रहने वाले कृषक, दिनभर भूखे रहकर, पसीना बहाकर, मारखाकर, सिसकियाँ लेते हुए अश्रुओं के घूट पीकर, खाली हाँथ घर लौटते हुए हजारों कृषकों को देखा था। भूख से तड़प–तड़प कर लोगों को मरते देखकर दिनकर जी के चक्षु अश्रुपूर्ण हो जाते थे। इन्हीं परिस्थितियों ने दिनकर जी को विद्रोही स्वर प्रदान किया। दिनकर जी ने अकाल के समय पाठशाला के गुरूजी को भूख से पीड़ित महुए के फल खाते देखा इनका बाल हृदय रो पड़ा। कभी–कभी अतीत की स्मृति आने पर बच्चों की भांति दिनकर जी के चक्षु नम हो जाते थे। यही नम आँखे साहित्य सृजन में विद्रोही स्वर को गति देती थी। सामाजिक जीवन के कडुए घूंटो को पी–पी कर लेखनी ने गति प्राप्त की। उक्त समस्त घटनाओं को दिनकर के काव्य में स्थान मिला। सामाजिक उत्पीड़न, कुरीतियो का सफल चित्रण करने वाले दिनकर ने मानवीय शोषण, स्वार्थ परता, जमींदारी दमन चक्र, जाति–पांति वर्ण–भेद, विघटित मानव जीवन, ऊपर से शिष्ट दृष्टिगोचर व्यक्ति जिसके अन्दर बैठा हुआ दैत्य आदि पर दिनकर की लेखनी को गति मिली। दिनकर जी शोषित वर्ग के प्रति क्रान्तिकारी उद्घोषक थे। शासक वर्ग स्वार्थी था। समाज के कमजोर वर्ग को दुर्बल बनाने वाली अर्थ विषमता की समाप्ति दिनकर जी के जीवन का उद्देश्य था। दिनकर जी ने दलितवर्ग–संघर्ष द्वारा पाशविक वृत्तियों से सने मानवों का मार्गदर्शन किया। उनकी लेखनी निरासा का जीवन जीने को तैयार नहीं थी।

दिनकर जी पहले छायावादी कवि थे। बाद में कविता को कल्पना के आकाश से उतार कर यथार्थ के धरातल पर लाये। निर्धनता के बोझ तले दबी जनता को उन्होंने बहुत ही निकट से देखा था और सम्पूर्ण शक्ति से उनके बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न किया है। कवि ने स्वयम् ही कहा है–

"मेरी कविता में जो अनुभूतियाँ थीं वे भारतीय जनता की ही अनुभूतियाँ थीं। वे उस काल की अनुभूतियाँ थी; जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था। कवि होने की सामर्थ्य शायद मुझमें नही थी। यह शक्ति भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात करने से ही स्फुटित हुई।"[1]

"मैं वायु और धातु से बना यन्त्र मात्र था, फूंक इसमें काल ने मारी और उसमें झंकार भी काल ने ही उठाई।"[2]

दिनकर का व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही मानवतावादी रहा है। उन्होंने मानवता विरोधी अत्याचारों के प्रति बिगुल फूंका। उनका विचार था कि जब अत्याचारी, समाज के विनाश पर तुला हो उस समय अहिंसा, दया, क्षमा, करूणा तथा गांधी वादी विचार अस्त्र होना नही चाहिये। ये अस्त्र काम नहीं करेंगे। उनके विरुद्ध तो बम व गोलियों की बौछार करना ही उचित है। परशुराम की प्रतीक्षा में कवि ने निम्न पंक्तियों में अन्याय के विरूद्ध हिंसा को ही उचित ठहराया है–

"कारगर कोई उपाय नहीं, गिराओ बम, गोली दागो।

गांधी की रक्षा करने को, गांधी से भागो।।[3]

समाज में फैली ऊँच–नीच जातीय भेदभाव पर रश्मिरथी की रचना में

---

1. दिनकर काव्य कला और दर्शन– डा० प्रतिभा जैन, पृष्ठ 64
2. चक्रवाल, पृष्ठ 64
3. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ–59

कर्ण के द्वारा करारा प्रहार किया है–

"ऊपर सिर पर कनक छत्र, भीतर काले के काले।

शरमाते है नही जगत में जाति पूछने वाले।"[1]

राजनीतिक परिस्थितियाँ

दिनकर के शैशवाकाल और काव्य क्षेत्र में पदार्पण के समय भारत पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था। भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर विद्रोह रूपी बादल छाये हुए थे। अंग्रेजी दमन नीति के कारण निराशा रूपी अंधकार छाने लगा था। ऐसी स्थिति में दिनकर के काव्य का उदय हुआ। जिसने अरूणाम ऊषा रूपी रक्तरंजित क्रान्ति का बिगुल फूंका। इस बिगुल ने क्रान्तिकारियों में स्फूर्ति उत्पन्न की। युवा वर्ग में नवीन उत्साह भर कर संघर्षरत किया। अन्याय को चुनौती मिली। दिनकर के काव्य ने जन–जन में आक्रोश के स्वर भर दिये।

यह ऐसा समय था जब आपसी कलह, द्वेष, शोषण, उत्पीड़न का प्रसार था। सोने की चिड़िया कहलाने वाले भारत को अंग्रेजी सत्ता ने ताल्लुकेदारों व जमीदारों के माध्मय से जनता को चूस कर बेकारी, निर्धनता की आग में झोंक दिया। अंग्रेजों के पहले भी अनेक आक्रमणकारियों ने भारत को लूटा; पर वे भारत की सम्पत्ति ही लूट पाये। उन्होंने अंग्रेजों की तरह भारतीय व्यापार और भारतीय ग्रामीण उद्योगों को नष्ट नही किया। अंग्रेजों ने सर्वप्रथम भारत की शिक्षा व्यवस्था, ग्रामींण उद्योगपर कुठाराघात किया। बौद्धिक वर्ग को दास बनाना प्रारम्भ किया। पद और नौकरी का लालच देकर पाश्चात्य सभ्यता में रंगा। ये शिक्षित व्यक्ति शरीर से भारतीय पर सांस्कृतिक

1. रश्मिरथी– पृष्ठ 15

स्तर पर अंग्रेज बन गये। इन्हीं भारतीय अंग्रेज और अंग्रेजों ने मिलकर सन् 1985 ई0 में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। इस संस्था का लक्ष्य सरकार को प्रशासनिक कार्यों में सहयोग करना था। कांग्रेस की बागडोर जब बालगंगाधर तिलक के हाथों आयी, तो उन्होंने कांग्रेस का लक्ष्य ही परिवर्तित कर दिया। यहीं से स्वाधीनता संग्राम का शुभारम्भ हुआ।

सन् 1899 में लार्ड कर्जन भारत के वाइसराय बने। उस समय भारत की जनता प्लेग ऐसे गम्भीर रोग का सामना कर रही थी। प्रथक्करण शिविरों में कठिनाइयों का अंबार था। परीक्षण गृह अपमान के केन्द्र थे इन कठिनाइयों के असहनीय होने के कारण जन आन्दोलित हो उठा। सरकार उग्रतापूर्वक आन्दोलन का दमन कर रही थी। बंगाल दो भागों में बांट दिया गया था। मुस्लिम लीग की स्थापना ने अंग्रेजों में भय उत्पन्न कर दिया। अंग्रेजों ने कूटनीतिक चाल चली। हिन्दू–मुसलमानों में भेद नीति अपनायी। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। अंग्रेजों ने जनता से सहयोग की याचना की। उसके बदले में भारतीयों को उनका अधिकार सौपने का बादा किया। इस पर अंग्रेजों के विरूद्ध चल रहे कांग्रेस के आन्दोलन को स्थगित कर दिया गया। भारतीय जनता ने अंग्रेजी सरकार की तन–मन–धन से सहायता की। युद्ध समाप्ति पश्चात अंग्रेजों ने अपना वादा पूरा नहीं किया। परिणाम स्वरूप कांग्रेस का आन्दोलन पुनः प्रारम्भ हो गया।

जलियावाला बाग के निर्मम हत्याकाण्ड से सारा भारत आन्दोलित हो उठा महात्मा गांधी ने कांग्रेस की बागडोर सम्हालकर असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस असहयोग के अन्तर्गत सरकारी पद त्याग, स्कूल व कालेजों का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं का परित्याग आदि सम्मिलित थे।

गांधी जी के असहयोग में तकुली चर्खा भारतीय राष्ट्रीयता के प्रमुख चिन्ह थे। और असहयोग के सत्य एवं अहिंसा प्रमुख अस्त्र थे। इसी समय भारत का मजदूर वर्ग भी आन्दोलित हो उठा। शोषण के विरुद्ध क्रान्ति का उद्घोष पूर्ण स्वर उभरा।

दिनकर जी का मन क्षोभ, अन्याय एवं शोषण से तड़प उठा। यह तड़प दिनकर के काव्य 'हुंकार' 'रेणुका' व 'सामधेनी' आदि काव्य में स्पष्ट झलकती है। 'हिमालय' नामक कविता में दिनकर जी की तड़प का नमूना देखिये—

" रे ज्वालाओं से दग्ध विकल,

है तड़प रहा पद पर स्वदेश।"[1]

इसी प्रकार 'आग की भीख' नामक कविता में व्याकुलता में डूबे हुये भारत की स्थिति का संकेत है—

"आगे पहाड़ को पा धार रूकी हुयी है।"[2]

इसी कविता के अन्तर्गत जनता को भारत को उजड़ने का संदेश दे रही पंक्तियाँ देखिये—

"तू ध्यान मग्न ही रहा इधर,

वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।"[3]

दिनकर जी ने अंग्रेजी सत्ता का विरोध करने वालों पर हो रहे अत्याचारों और दमन नीति की स्पष्ट झलक दी है—

---

1. 'रेणुका', दिनकर, पृष्ठ—5
2. 'सामधेनी', दिनकर, पृष्ठ 57
3. 'सामधेनी', दिनकर, पृष्ठ 7

''अरी विवश है कहो करें क्या? पैरों में जंजीर हाय,

हाथों में है कड़ियाँ कस जातीं।।''[1]

दिनकर जी की '–सामधेनी' काव्य पंक्तियों में देश पर मर मिटने वाले नव युवकों की स्वाधीनता के लिये छटपटाहट दृष्टिगोचर होती है–

''मन की बंधी उमंगे असहाय जल रही हैं।

अरमान आरजू की लाशें निकल रही हैं।।''[2]

15 अगस्त सन् 1947 में अन्याय, उत्पीड़न का अन्त हुआ भारत माता की बेड़ियाँ टूट कर बिखर गयीं। भारत स्वतन्त्र हुआ। परन्तु अंग्रेजों का एक प्रतिनिधि बना रहा। शासन सत्ता भारतीय जनता के हाथ में तो आ गयी परन्तु शासन ब्रिटिश सरकार के नाम से ही चल रहा था। सन् 1950 ई0 में भारत एक गणतन्त्र राष्ट्र बना। भारत का अपना राष्ट्रपति और अपना संविधान जनता को समर्पित हुआ। इस अवसर पर 'नीलकुसुम' की इन पंक्तियों में जनता द्वारा शासन करने का संकेत दिया है–

''अभिषेख आज राजा का नहीं प्रजा का है।''[3]

भारत को स्वतन्त्रता तो प्राप्त हुई परन्तु भारत में अनेक समस्याओं का जन्म हो गया। इसका मूल कारण था नेताओं का स्वार्थी भाव। भारत को स्वतन्त्र कराने में तन–मन, धन न्योछावर करने वाले लोगों में लोभ और स्वार्थ भर गया। भ्रष्टाचार से जनता काँप उठी। ऐसी परिस्थिति में चीन का आक्रमण हुआ देश की प्रगति रूक गयी। इसके पश्चात भारत. सम्हल भी नहीं

---

1. 'हुँकार', दिनकर, पृष्ठ 61
2. सामधेनी, दिनकर, पृष्ठ 57
3. नीलकुसुम, दिनकर, पृष्ठ 67

पाया था, पाकिस्तान का आक्रमण हो गया। जनता ने दोनों युद्धों का तन–मन–धन से सामना किया। पाकिस्तानियों के पर्याप्त भाग पर भारत का अधिकार हो गया। रूस और अमेरिका के दबाव में भारत को पाकिस्तान को विजित भूमि वापस करनी पड़ी। इस वापसी में भारत को लाल बहादुर ऐसा सपूत खोना पड़ा।

आगे भारत की स्थिति अति दयनीय होती चली गयी। नेता मानसिक संकीर्णता के कारण स्वार्थी हो गये। जिस व्यक्ति ने स्वतन्त्रता संग्राम के समय कठोर कारावास की यातनायें सहन की हों वह स्वतन्त्रता के देवता में व्याप्त भ्रष्टाचार को देख कर चुप न रह सका–

'और जनता नहीं अभागे मंदिर का देवता,

चोर बाजारी में पकड़ा जाता है।''[1]

दिनकर का व्यक्तित्व : द्वन्द्वों का जटिल संपुंज

'व्यक्तित्व' शब्द सापेक्षतयः भिन्न–भिन्न मत–मतान्तरों के साहचर्य में अनुमान्य किया गया है, जिसमें व्यक्ति विशेष के वाह्य एवं अन्तः पटलों को संश्लेषित किया जाता हैं मानवीय विराट धरातल पर व्यक्ति के सापेक्ष व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का चिन्तन, संवदेना एंव उसका व्यवहार व्यक्तित्व को उत्कर्षमय एवं अपकर्षमय निर्मित करता है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से व्यक्ति की अन्तर्मुखी चेतना को क्रमागत परम्परा से मनोवैज्ञानिकों ने नाना प्रकार से विश्लेषित किया है; जिसमें व्यक्ति स्वयं, उसका परिवार, समाज, देश, काल, वातावरण आदि विभिन्न आयाम सामंजित रहते है।

---

1. नीलकुसुम, दिनकर, पृष्ठ–28

व्यक्ति सामाजिक वातावरण की इकाई है, जिसका प्रभाव उसके क्रिया कलापों पर पड़ता है। विद्वानों के अनुसार व्यक्तित्व को जीवन की प्रक्रिया मानकर अध्ययन किया गया है।

''व्यक्तित्व' समष्टि में ही एक व्यष्टि है। संकुचित अर्थ में न वह केवल व्यक्तित्व है और न उसमें विच्छिन्न वातावरण का अंशमात्र, अपितु वृहत व संगठित अर्थ में व्यक्तित्व एक जीवन शैली है।''[1]

''व्यक्ति की वे समस्त क्रियाएँ जिनके अन्तर्गत वह वातावरण से सम्बन्ध स्थापित करता है, व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व शारीरिक, मानसिक, तथा सामाजिक क्रियाओं का समन्वय है। इस विषय पर विभिन्न विचारधारायें हैं, जिसके अनुसार व्यक्तित्व के स्वरूप का निर्धारण किया गया है। अनेक विचारधाराओं के अनुसार व्यक्तित्व का सम्बन्ध मुखौटा की तरह है। जब पात्र मंच पर मुखौटा लगाकर आता है तो दर्शक पात्र की पहचान सरलता से कर लेते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वानों के अनुसार मनुष्य का व्यवहार ही उसका व्यक्तित्व है''[2]

''व्यक्ति के वे समस्त क्रियाकलाप जिसके अन्तर्गत वह वातावरण से समायोजन स्थापित करता है वही व्यक्तित्व है। प्रो0 हाल व्यवहार के सिद्धान्त में व व्यक्तित्व के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं मानते।''[3]

व्यक्ति के अपने दिन भर के क्रिया—कलापों के आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यदि यह कहा जाये कि व्यक्तित्व जन्मजात होता है। यह

---

1. दिनकर के काव्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, डा0 रमारानी सिंह, पृ0—23
2. वही पृ0—29
3. Personality and Inter disciplinary approach, L.P. Thropes, Page -5

उचित नहीं है, क्योंकि मनुष्य का रूप–रंग, आकृति उसे जन्मजात मिलती है परन्तु व्यक्तित्व का विकास मानसिक विकास के पश्चात ही होता है। सामाजिक वातवारण ही मानसिक विकास का कारण हैं अतः मनुष्य का व्यक्तित्व मानव व्यवहार पर ही आधारित है। ''उपर्युक्त विचार एक दूसरे के पूरक हैं, जिन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के चित्र को देखकर उसके व्यवहार का पता लग जाता है। चन्द्रशेखर आजाद का चित्र क्रान्तिकारी भाव चित्रित करता है। लक्ष्मण का चित्र ओज व वीरता को दर्शाता है; जबकि राम का चित्र देखने से सौम्यता, शान्ति, गम्भीरता व उदारता परिलक्षित होती है। मुखौटा व व्यवहार दोनों ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रदर्शित करते हैं।''[1]

वेदों के अनुसार, ज्ञान, बुद्धि व अहम् भी व्यक्तित्व के ही रूप हैं, जिसकी समीक्षा ऋग्वेद के इस श्लोक में मिलती हैं–

'ओऽम महोअर्णः सरस्वती प्रचेतयतिके,

तुनाधियो विश्वा विराजती।।''[2]

महाभारत के अनुसार – मनुष्य का चरित्र, व्यवहार उसकी मनोवृत्तियाँ जो सत्य के स्वरूप को पहचान कर बुद्धि में धीरता का प्रदर्शन करता है ऐसे व्यक्तित्व वाला व्यक्ति ही योगी कहलाया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप योगीराज भगवान श्री कृष्ण का व्यक्तित्व निम्न श्लोक में वर्णित है–

''वेद वेदांग विज्ञानं बलम् चाम्यधिकं तथा।

नृणाम लोकेहि को अन्योऽस्ति केशवा हते।।''[3]

---

1. दिनकर के साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, डा0 रमारानी सिंह, पृ0 –35
2. ऋग्वेद मं–1, अं02, सूत्र–3, मं02
3. महाभारत, सभापर्व, 3–109

जैन दर्शन के अनुसार– ज्ञान के सुनने, मनन करने और आचरण से ही सम्यक चरित्र का निर्माण होता है, जो पूर्ण व्यक्तित्व है।

महाकवि कालिदास धर्म को परम् पुरूषार्थ कहते हैं। उनके अनुसार धर्म निष्ठ पुरूषार्थ ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व है।

पाश्चात्य दार्शनिक जुंग ने व्यक्तित्व को अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी स्वरूप में रखा। फ्रायड के अनुसार– व्यक्तित्व का विकास चार कारणों से होता है। प्रथम– शारीरिक, द्वितीय–संघर्ष, तृतीय–तनाव, चतुर्थ–भय। इन्हीं के अनुसार वह व्यक्ति क्रियाकलापों का सृजन करता है; जिसमें उसके व्यक्तित्व का विकास होना प्रारम्भ होता है। व्यक्तित्व विकास शैशवावस्था से ही उत्पन्न होने लगता हैं ओटोरांक के अनुसार व्यक्तित्व विकास की तीन अवस्थायें हैं–

1. शिशु का अपने जन्म, माता–पिता, समाज तथा कामवृत्तियों के साथ समायोजन करना।
2. बालक आदर्शों को वातावरण से ग्रहण करने लगता है।
3. कला के सृजन की क्षमता उत्पन्न कर स्वतन्त्रता का भाव रखने लगता है।

फ्राम ने अपनी पुस्तक 'दि मैन हिमसेल्फ' में लिखा है कि "व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के अनुवांशिक गुणों से अर्जित गुणों से है।"[1]

व्यक्ति शैशवकाल से ही अपने परिवार व समाज से अनुभव प्राप्त करता है। वह उसके व्यक्तित्व विकास में सहायक है। व्यक्ति में केवल

---

1. (27) ई. फ्राम, दि मैन हिमसेल्फ, पृष्ठ–23

वैयक्तिक चरित्र ही नही बल्कि सामाजिक चरित्र भी निहित रहता है। व्यक्तित्व का अर्थ मात्र मानव शरीर ही नहीं अपितु उसके गुण, बुद्धि, कर्म व वृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं। व्यक्तित्व न तो अस्थि और मांस; न ही वृत्तियों की कल्पना है; अपितु व्यक्तित्व सम्पूर्ण समग्रता का स्वरूप है।

"प्रचलित विचारधारा के अनुसार दिनकर जी द्वन्द्व के कवि थे"[1] डा० सावित्री सिन्हा ने दिनकर जी को 'युगचारण का कवि'[2] कहा है। प्रो० कामेश्वर शर्मा ने दिनकर जी को 'दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि"[3] कहा है। डा० विजेन्द्र नारायण सिंह ने 'सुकुमार भावों का कवि"[4] कहा है। लेकिन ये सब आश्चर्य जनक सम्बोधन एक ही कवि के लिए क्यों और कैसे? "आखिर दिनकर के अन्तर्मन में ऐसा कौन–सा द्वन्द्व था जिसने आलोचकों को भी द्वन्द्व, की दो समानान्तर पंक्तियों में लाकर खड़ा कर दिया, यह उनके व्यक्तित्व की प्रतिभा थी या स्खलन, जो विपरीत आख्याओं का उत्तरदायी है? यह सत्य है कि दिनकर द्वन्द्व के कवि थे लेकिन यह द्वन्द्व व्यक्तित्व के स्खलन का नही, अपितु प्रतिभा और शालीनता का द्योतक है।"[5]

इस विषय में श्री कान्तिमोहन शर्मा के अग्रलिखित शब्द स्मरणीय है– "उनका व्यक्ति पक्ष जितना ही कोमल और भावुक है। उनका सामाजिक पक्ष उतना ही प्रबल, आग्रहशील एवं नियामक है और इन्हीं दो पक्षों के द्वन्द्व का इतिहास उनके कवि के विकास को समझने के लिए अमूल्य सहायक है।"[6]

1. कुरूक्षेत्र मीमांसा–कान्ति मोहन शर्मा, पृ० 27
2. दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ–आचार्य कपिल, पृ० 63
3. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि– प्रो० कामेश्वर शर्मा
4. दिनकर एक पुनर्मल्यांकन– डा० विजयेन्द्र नारायण सिंह, पृ० 13
5. दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, डा० रमारानी सिंह, पृ० 147
6. कुरूक्षेत्र में मीमांसा, कान्तिमोहन शर्मा, पृ026

जिनके कारण दिनकर जी को आश्चर्यजनक सम्बोधन प्राप्त हुए हैं, ये सभी विशेषण दिनकर जी के कवि के दो विचार–प्रवाहों के द्योतक हैं, जिनका संगम उनके अन्तर्मन में संभव हुआ है। इस संगम का प्रथम प्रवाह है अन्तर्मुखी जो उनके हृदय को लावाण्यमय स्त्रीभाव अथवा प्रकृति सौन्दर्य से सिंचित करता है। दूसरा प्रवाह बहिर्मुखी है जो उन्हें समाज के प्रति जागृत कर, एक उत्तरदायित्व–पूर्ण व्यक्तित्व का निर्वाह कराता है। फलतः एक विषयी प्रधान है और द्वितीय विषय–प्रधान है। प्रो0 विजेन्द्र नारायण सिंह ने दिनकर जी को 'सुकुमार कवि कहा हैं' इसे दिनकर जी ने स्वयं स्वीकार किया है। "संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन–तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कवितायें लिखूं जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो।"[1]

काम और पराक्रम एक दूसरे के सहायक है। दिनकर जी ने इस तथ्य को अपनी 'डायरी' में प्रतिपादित किया है। वह इस प्रकार है–

"गाय गोबर भी देती है और दूध भी। मक्खी मधु भी देती है और मोम भी। उसी प्रकार कलाकार भी सौन्दर्य और शोक दोनो जगाता है, प्रेम और क्रोध दोनो उत्पन्न करता है।'[2]

पृथ्वीराज चौहान का संयोगिता से प्रणय उनके पराक्रम और शौर्य का बाधक नही था, वरन प्रेरक था। इसीप्रकार दिनकर जी के कोमल भाव कहीं भी उनके क्रान्तिकारी रूप पर आँच आने नही देते वरन् उनमें चिंगारी और शोले का कार्य करते हैं। यह कहना असत्य न होगा कि "जीवन में जो कुछ कोमल है, उसके प्रति दिनकर का आन्तरिक आग्रह है, और जो कुछ भीषण

1. चक्रवाल, दिनकर, पृ0 33
2. दिनकर की डायरी, दिनकर, पृ0 130

है, उसे वे सामाजिक चेतना के आदेश से स्वीकार कर पाये हैं।"[1]

दोनों ही भाव दिनकर जी की काव्य यात्रा में एक दूसरे का पोषण करते हुए समानान्तर रूप से बढ़ते हैं। अस्तु उपरोक्त विचारधारा के आधार पर "दिनकर का व्यक्तित्व उभयनिष्ठ है— अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी— जिसका निक्षेप और प्रक्षेपण उनके मुक्तक समग्रता के साथ दृष्टिगत होता है।"[2]

दिनकर जी जिस भूमि में पैदा हुए, जिस परिवार और वर्ग से उनका सम्बन्ध था, जिन रीति रिवाजों और आर्थिक स्थितियों में वे पले और बढ़े, उनका असर उनके प्रारम्भिक जीवन में मिलता अवश्य है, परन्तु साथ में यह भी मिलता है कि उन परिवेशगत संस्कारों के विरूद्ध किसी न किसी सीमा तक वे लड़ते अवश्य रहे। उनके अन्दर का यह द्वन्द्व उनकी जीवन शैली को यथार्थ के पास लाता गया। जनता में प्रसारित निर्धनता, अशिक्षा और शोषण की पीड़ा उनकी 'रेणुका' से लेकर 'हुंकार' तक की रचनाओं में प्रति ध्वनित होती हैं इसके अलावा उनमें सिद्धान्तों का द्वन्द्व भी था। कहीं वे समाजवाद की ओर आकर्षित होते हुए लगते हैं तो कहीं गांधीवाद की ओर। बाद में एक ऐसा समय भी आया जब वे साम्यवाद का मुखर विरोध भी करने लगे, फिर भी साम्यवादी साहित्यकारों के प्रति उनका प्रेम व उनकी रचनाओं के प्रति लगाव अटूट था।

दिनकर जी का काव्य–संग्रह जिसमें विभिन्न संकलनों से उनकी विभिन्न कविताएँ संकलित की गई थीं, 'चक्रवाल' है। 'चक्रवाल' की भूमिका में उन्होंने प्रयोगवाद के प्रति अपनी बढ़ती हुई रूचि की झलक दिखाई है,

---

1. दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ, आचार्य कपिल, पृ0 60
2. दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, डा0 रमारानी सिंह, पृ0 148.

परन्तु इस सन्दर्भ में उन्होंने बहाव में आकार 'प्रगतिवाद' को 'साहित्येतर आन्दोलन बताया है। और प्रयोगवाद को साहित्यिक आन्दोलन'। जहां तक साहित्य के सृजनात्मक पक्ष का सम्बन्ध है वहाँ प्रगतिवाद साहित्येतर आन्दोलन नहीं था यदि ऐसा मान लिया जाय तो प्रेमचन्द्र को साहित्य से अलग करके मात्र राजनीति का व्यक्ति मानना पड़ेगा। श्री गोपाल कृष्ण कौल ने 'दिनकर के साहित्य की अभिव्यक्ति' की भूमिका में लिखा है– "मैने इस भूमिका के विरूद्ध 'प्रगति' नामकपत्र में एक लेख लिखा, जिसमें मैने यह विश्लेषण करने का प्रयत्न किया कि अगर प्रगतिवाद की साहित्यिक उपलब्धियों को नकार कर केवल वामपंथी साहित्य से जोड़कर देखा जा सकता है तो प्रयोगवाद की साहित्यिक उपलब्धियों को नकार कर उसे दक्षिणपंथी साहित्य से जोड़ कर देखा जा सकता है। मेरी यह टिप्पणी जब दिनकर जी ने पढ़ी तो पहले तो रूष्ट हुए पर बाद में शान्त होने पर कहने लगे कि बात तुमने ठीक ही लिखी है।"[1]

ऐसे अनेक प्रसंग है जिनसे दिनकर जी की मानवीयता का पता चलता है। जिन लोगों ने दिनकर जी का ईर्ष्या, द्वेष के कारण या सैद्धान्तिक संकीर्णता के कारण विरोध किया, मानवीय आधारों पर दिनकर जी ने उनकी मदद भी की थी।

जहाँ तक सिद्धान्तों और मूल्यों का प्रश्न है, उनका द्वन्द्व जिस तरह उनके जीवन में था, उसी तरह उनके साहित्य में भी प्रतिध्वनित और प्रतिबिम्बत हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' में हिंसा और अहिंसा का 'रश्मिरथी' में

1. दिनकर के साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, डा० रमारानी सिंह, पृष्ठ भूमिका, VII-VIII

कुलीनता–अकुलीनता का, 'उर्वशी' में काम और अध्यात्म का द्वन्द्व काव्यात्मक ढंग से व्यक्त हुआ है। एक ओर निबन्ध में दिनकर जी ने मशहूर शायर इकबाल पर लिखते हुए उनमें उत्तरकृति में पैदा हुई 'मजहबी संकीर्णता' पर चोट की है तो दूसरी ओर 'संस्कृति' के चार अध्याय में सामाजिक संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) का समर्थन किया है। चीन के आक्रमण के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ओजस्वी वीर स्वर मुखर हुआ है, तो 'हारे को हरिनाम' में संघर्ष से टूटे हुए व्यक्ति का हताश स्वर है। हारे को हरिनाम' के रचनाकाल और उसके बाद उसके अन्दर का असंग पुरूष प्रकृति के मोह से मुक्त होता जा रहा था। बीमारी के आघात और पारिवारिक तनाव के बीच उनके अन्तरंग में मूल्यगत द्वन्द्व छिड़ गया था। एक बार तो वे इतने निराश हो गए थे कि आत्महत्या की बात सोचने लगे थे। लेकिन उनकी निराशा भी 'प्रोस्ट्रेट' की निराशा थी। यह उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व की द्वन्द्वात्मक स्थिति थी।

कवि जो दृष्टिगत करता है वही दृश्य उसके साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। दिनकर जी की द्वन्द्वात्मक–पारिवारिक स्थिति, सामाजिक स्थिति ही काव्य की द्वन्द्वात्मक कृति बनी। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर दिनकर जी द्वन्द्वों का जटिल संपुंज थे।

अध्याय-प्रथम

(क) द्वन्द्व आशय और स्वरूप

1. द्वन्द्व—सामान्य आशय

2. विभिन्न अभिमत और उनका विश्लेषण

3. द्वन्द्व निकटवर्ती सन्दर्भ

क) द्वन्द्व और संघर्ष

ख) द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व

ग) द्वन्द्व और अन्तर्विरोध

घ) द्वन्द्व और विरोध

4. द्वन्द्व समग्र स्वरूप

(ख) दिनकर के काव्य का संक्षिप्त परिचय

द्वन्द्व आशय और स्वरूप

द्वन्द्व का आशय और स्वरूप के सरलीकरण हेतु विषय को निम्न प्रकार से बांटकर विवेचन किया है।

1. द्वन्द्व सामान्य आशय
2. विभिन्न अभिमत और उनका विश्लेषण
3. द्वन्द्व निकटवर्ती सन्दर्भ
    क) द्वन्द्व और संघर्ष
    ख) द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व
    ग) द्वन्द्व और अर्न्तविरोध
    घ) द्वन्द्व और विरोध
4. द्वन्द्व समग्र स्वरूप

    ख दिनकर के काव्य का संक्षिप्त परिचय

द्वन्द्व का सामान्य आशय

राजपाल हिन्दी शब्द कोष जो डा0 हरदेव बाहरी द्वारा निर्मित हैं डा0 हरदेव बाहरी भाषा विज्ञान के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से है। डा0 हरदेव बाहरी ने द्वन्द्व का अर्थ बताते हुए इसे दो वस्तुओं का जोड़ा युग्म कहा है।[1] परन्तु यह अर्थ इस शोध–प्रबन्ध के अनुरूप नहीं है। दिनकर जी की द्वन्द्वात्मक स्थिति का आशय 'दो वस्तुओं का जोड़ा नही है। यहाँ पर द्वन्द्व का आशय

---

1. राजपाल हिन्दी शब्दकोष, डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ–411

लड़ाई–झगड़ा[1], व संघर्ष[2] से है। संघर्ष–दो व्यक्तियों का पारस्परिक संघर्ष[3] ही द्वन्द्व कहलाता है। दिनकर जी का पारिवारिक जीवन संघर्षमय रहा है। पत्नी से दिनकर जी की पटती नही थी। विवाह के पश्चात पत्नी की कुछ आवश्यक पूर्तियाँ हो जाती है। दिनकर जी बिना माता की आज्ञा के पत्नी की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते थे। दूसरा पत्नी से मनमुटाव का कारण दिनकर जी का सम्मिलित परिवार का भरण–पोषण भी था। जिसकी वजह से अपने पुत्र, पुत्रियों की मूल आवश्यकताओं में कटौती होना था। सम्मिलित परिवार के भाई, चाचा के पुत्र और पुत्रियों व अपने पुत्र और पुत्रियों में दिनकर जी का समभाव था। यह भी दिनकर जी की पत्नी को अच्छा नहीं लगता था। यही कारण था कि दिनकर जी व उनकी पत्नी दोनों का झगड़ा चला करता था। बाहरी जी का यह अर्थ यहाँ पर सटीक बैठता है।

दिनकर जी की बड़े बेटे से भी नही पटती थी। बड़ा बेटा मातापक्ष का होने के कारण अक्सर अपने पिता का सामना कर बैठता था। ऊटपटांग बक देता था। "दिनकर जी ने पारिवारिक विसंगतियों के मध्य अपना जीवन व्यतीत किया, परन्तु इनमे से कुछ विसंगतियाँ भी उनकी रूचि का विषय रहीं।"[4] प्रत्येक कन्या के लिए वर ठीक करना, वर–वधू के लिए साज–सामान जुटाना और अपनी जेब से जी खोल कर विवाह में खर्च करना। यह सब घर–गृहस्थी के मामले में उनका प्रिय धन्धा था।"[5] अपने बड़े पुत्र और पत्नी की सहमति के बिना यह कार्य पारिवारिक झगड़े का कारण बनता था।

---

1. राजपाल हिन्दी शब्दकोष, डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ–411
2. राजपाल हिन्दी शब्दकोष, डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ–411
3. राजपाल हिन्दी शब्दकोष, डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ–411
4. दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति– डा0 रमारानी सिंह, पृष्ठ 61
5. समीक्षा दिनकर स्मृति अंक, पृष्ठ 8

डा0 हरदेव बाहरी ने अपने शब्दकोष में द्वन्द्व का एक और अर्थ दिया है "मानसिक संघर्ष"[1]। यह मन की आन्तरिक दशा है। मन कभी इधर जाता है कभी उधर जाता हैं स्थिर न रहने वाला मन भटकता रहता हैं "जब समाज चिन्तन का विषय बनता है तो वह गांधीवादी विचार–धारा के पोषक नहीं बन पाते। परशुराम की प्रतीक्षा' शान्तिवादी नारे 'पंच शील' के विरोध में लिखी गयी है। दिनकर जी मनुष्य की स्वतन्त्रता के पोषक हैं, साथ ही भारत की स्वाधीनता को बचाये रखने के लिये वे क्रान्ति का ही सहारा लेना चाहते हैं। 'कुरूक्षेत्र', 'परशुराम की प्रतीक्षा' उनके इन्हीं भावों का परिणाम हैं।"[2]

दिनकर जी कांग्रेस के कार्यकर्ता थे। गांधी जी के साथ उनके आह्वान पर अंग्रेजी सत्ता का विरोध करते थे। जेल यात्रायें करते रहे। फिर भी दिनकर जी का आन्तरिक मन गांधी जी के अहिंसावाद को स्वीकार न कर सका। उनके अन्तर्मन की यही द्वन्द्वात्मक स्थिति थी। दिनकर जी ने स्वयम् 'डायरी' में लिखा है–

"रक्त स्नान से भारत शुद्ध हो सकता है। अग्नि–स्नान से देश की ताकत बढ़ सकती है। विपत्तियों के झकोर से वह स्वराज्य जिन्दा किया जा सकता है, जो पार्सल से आया था.......देखिए जिसे ही वही जोर से आजाद है।"[3] परन्तु क्रान्तिकारी विचारों वाले दिनकर के मन में बिल्कुल विरोधी एक पहलू और है। वह है निःस्वार्थ काम व दानशीलता– "अपनी आदत से मजबूर हो दूसरो की मदद करते हैं, इनमें न कोई दिखावा होता है, न कोई

1. राजपाल हिन्दी शब्दकोष, डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ 411
2. दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, डा0 रमारानी सिंह, पृष्ठ–72
3. दिनकर की डायरी– दिनकर, पृष्ठ 58

गरज।"[1]

"दिनकर जी एक स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में साहित्य जगत में उभरकर आए। प्रगतिवादी आन्दोलन को इन्होंने कभी भी साहित्यिक आन्दोलन नहीं स्वीकारा। वे इसे उस काल की परिस्थितियों के समक्ष रख मात्र राजनीतिक आन्दोलन मानते हैं।"[2] जब तक इसमें राष्ट्रीयता का बोल–बाला रहा, दिनकर इसके हामी थे। उन्होंने वर्ग–वैषम्य, शोषित और शोषक दल के साथ ही सर्वहारा दल की आवाज को बुलन्द किया। समय के साथ ही इन्होंने अपनी आवाज को दबाया नहीं, वरन् उसके बाद 'रश्मिरथी', 'कुरूक्षेत्र', 'सामधेनी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' आदि में उनका यह स्वर दृढ़ और मुखर होता चला गया। दिनकर के अन्तः का आक्रोश ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं था, वरन् यह उनके जीवन का सत्य था। जिसे उन्होंने जिया था। जो द्वन्द्वात्मक स्थिति उनके मन में अनन्त समय से व्याप्त थी, वह इस प्रकार बह निकली–

'वे भी यहीं दूध से जो अपने कुत्तों को नहलाते हैं,

वे बच्चे भी यही कब्र में दूध–दूध जो चिल्लाते है।"[3]

यहाँ उनके विचार साम्यवादी विचारधारा के पोषक हैं, परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक नही रही। सन् 1942 की क्रान्ति उनकी आँखें खोलती हैं। 'दिल्ली और मास्को' में यही अक्रोश उभरता है–

"चिल्लाते हैं विश्व–विश्व कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,

बुद्धि भीरू सकते न डाल जलते स्वदेश परपानी।

---

1. सं0 कौल एवं शास्त्री, दिनकर : सृष्टि और दृष्टि, पृ0 309
2. चक्रवाल भी भूमिका, दिनकर, पृ0 40
3. हुँकार, दिनकर, पृ0 23

जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते,

दिल्ली के रूधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाये।"[1]

आन्तरिक भावों का भटकाव ही आन्तरिक संघर्ष है। दिनकर जी ने शोषण देखा उसके विरोध में भावों का प्रस्फुटीकरण होना स्वाभाविक है। सामाजिक प्राणी के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। इसे साम्यवादी विचार नहीं मानना चाहिये। शोषण के विरूद्ध आवाज उठाना मात्र साम्यवादियों का ठेका नही है। प्रत्येक सामाजिक चिन्तक स्वाभाविक रूप से अपनी आवाज बुलन्द करेगा। उसी अनुरूप दिनकर जी के आन्तरिक मन ने स्वीकार किया। इसे उनके आन्तरिक मानसिक संघर्ष की उपमा दी जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। एक घिसी पिटी परम्परा के अनुशासन से सामाजिक क्रान्ति में दृष्टा बँध नहीं सकता है। चूंकि दिनकर जी एक सामाजिक चिन्तक पहले बाद में एक कांग्रेसी थे।

डॉ0 हरदेव बाहरी का द्वन्द्व का अर्थ– झगड़ा, संघर्ष, दो व्यक्तियों का पारस्परिक संघर्ष और मानसिक संघर्ष, करना सर्वोचित है जो दिनकर जी पर सटीक बैठता है। जो दिनकर जी पर सटीक बैठे वही द्वन्द्व का सामान्य आशय है।

विभिन्न अभिमत और उनका विश्लेषण–

द्वन्द्व की परिभाषा के अन्तर्गत सर्वप्रथम द्वन्द्व का अर्थ समझने की आवश्यकता है। द्वन्द्व का अर्थ–लड़ाई–झगड़ा, दो व्यक्तियों में मल्लयुद्ध, संघर्ष आदि से लिया जाता है। काव्य जगत युद्ध का मैदान तो नहीं है। ना दो व्यक्तियों में मल्ल युद्ध है। यह साहित्यिक क्षेत्र में विचार प्रवाह है जो एक

1. दिल्ली, दिनकर, पृ0 10

विचार धारा के साथ साथ उसकी विरोधी विचार धारा का समावेश है।

डॉ0 प्रतिभा जैन ने द्वन्द्व की परिभाषा के अन्तर्गत अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है– "परस्पर विरोधी गुणों तथा पाप–पुण्य, नीति–अनीति, धर्म–अधर्म, सत्–असत्, उत्थान–पतन, जन्म–मरण, आस्था–अनास्था, विधि–निषेद, प्रकृति–निवृति, बुद्धि–भावना, प्रेम–कठोरता, हिंसा–अहिंसा, आत्मबल–भुजबल, युद्धशान्ति, व्यक्तिधर्म –समाज धर्म, भाग्यवाद–कर्मवाद, विज्ञान–अध्यात्म, भोग–त्याग आदि का संघर्ष ही जीवन है और इसी संघर्ष को द्वन्द्व की संज्ञा दी गयी है।"[1]

जगत्–प्रपंच का निर्माण गुण–दोषमय है। इन गुण–दोषों का अस्तित्व पृथक–पृथक नहीं होता क्योंकि ऐसा होने से प्रपंच की समस्या सरलता से सुलझ जाती है। ये दोनो नीर–क्षीर वत् एक दूसरे से संयुक्त, ओत–प्रोत, अनस्यूत हैं। इनके प्रथक करने का एक ही उपाय है और वह है विवेक। जीवन में ऐसे क्षण शायद ही कभी आते हैं; जब व्यक्ति खाली रहता है। तब तो सदैव किसी न किसी द्वन्द्व में उलझा रहता है।

कवि समाज का द्रष्टा, चिन्तक और मनीषी होता है। उसकी अर्न्तदृष्टि जीवन की गहराई का दर्शन करती है तथा भावना के बल पर कुछ तथ्यों की ओर इंगित करती है। कवि दिनकर ने इस भिन्न नाम रूपात्मक जगत् को हर्ष–विषाद, सुख–दुख, ह्रास–अश्रु, अनुराग–विराग मय देखा है। इस सृष्टि की महती विचित्रता यथा–भेद में अभेद, नानातत्व में एकत्व, बहुरूपता में एक रूपता को; उन्हें जीवन–जगत्, आत्मा–परमात्मा, प्रकृति–दर्शन सर्वत्र द्वन्द्व की स्थिति दृष्टिगोचर हुई है। इसी द्वन्द्व के विषयों–जीवन, सृष्टि या प्रकृति

1. दिनकर काव्य कला और दर्शन, डा0 प्रतिभा जैन, पृ0 499.

के साम्य–वैषम्य, ह्रास–अश्रु, उत्थान–पतन, विकास–ह्रास, सुरूपता–कुरूपता, कोमलता–कर्कशता का ज्ञान इनकी कृतियों में यथा प्रसंग मिलता है। इनका कवि–हृदय कभी तो जीवन से विषमता से समाहृत हो उठता है; कभी उसके माधुर्य और आनन्द से पुलकित, प्रफुल्लित, क्षण, भंगुर जीवन, अस्थिर एवं परिवर्तनशील यौवन से इन्हें कभी एक संदेश मिलता है तो कभी सृष्टि के अनादि–प्रवाह, जीवन–क्रम से परमतत्व की जिज्ञासा की प्रेरणा; इस द्वन्द्वात्मक अनुभूति का करूण–मधुर चित्रण कवि का अभीष्ट है। इतना ही नहीं सृष्टि में कभी इन्हें जीवन–स्वर सुनाई पड़ता हैं, तो कभी इनके कर्णरन्ध्रों में मरण की प्रतिध्वनि गूँज उठती है। मानव जीवन एक जल–धारा है जिसकी बाह्य ऊर्मियों के कलहास में मधुरिमा है तो अन्तर्धारा में करूणा का सजल चीत्कार। मानव जीवन पर रहस्य का एक ऐसा आवरण पड़ा हुआ है जिसका भेदन और उद्घाटन–दोनों कठिन कर्म है जब स्वयम्–प्रकृति लीलाधर की इस लीला को अर्द्धआवृत्त–अनावृत्त रूप से ही प्रस्तुत कर पाती है फिर साधारण मानव (कवि) की क्या विसात जो वह उसके भीतर अपनी अन्तर्दृष्टि फेंक सके। कवि दिनकर ने इस द्वन्द्व को भी अपनी वाणी का विषय बनाया है। उन्होंने 'वट पीपल' में एक स्थान पर लिखा है– ''ऐसा कवि जिसकी भावना का एक छोर आकाश से और दूसरा पृथ्वी से लगा था; जो एक कान से महारूद्र के ढ़क्के का निनाद और दूसरे से प्रियतमा के वक्ष की निगूढ़ धड़कने सुना करता था;......... हाय, वह हृदय कैसा था जिसके भीतर अंगारे और इन्द्रधनुष बारी–बारी से उदय होते थे। हाय यह कैसा कंठ था जिसमें आग और मधु समान गति से, प्रवाहित होते थे।''[1]

1. 'वट–पीपल', दिनकर, पृष्ठ 34

दिनकर ने नवीन जी की मृत्योपरान्त अपने उक्त द्वन्द्वात्मक विचारों का उल्लेख एक पत्र में किया था। दिनकर के विचारों से उनकी भावनाओं का शतप्रतिशत साम्य बैठता है। उनके द्वन्द्वात्मक विचारों के अन्तर्गत कहाँ 'प्रणभंग', 'रश्मिरथी', कुरूक्षेत्र' आदि में युद्ध का घर्र–घर्र नाद और कहाँ 'उर्वशी' का वक्ष एवं शान्ति की खोज। कोई विरोध नही दोनों के विचारों में। हिंसात्मक क्रान्ति के दोनों ही पक्षपाती, शाप व शर दोनों की उपयोगिता में विश्वास, भावुकता, परोपकारी, दानी, विनम्र, कर्मयोगी, रहस्य–चिन्तक और निर्धन सभी समान धर्मा हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत

पाश्चात्य मनोविज्ञान विशारदों में फ्रायड का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रायड से पूर्व के सभी विद्वानों का लक्ष्य बिन्दु मनुष्य का चेतन मन था। सभी विद्वान मनुष्य की चेतना प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करते रहे, इसी कारण जीवन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं यथा स्वप्न, सम्मोहन एवं विस्मृति आदि का उल्लेख उनके विचारों में न हो सका। इस सन्दर्भ में फ्रायड ही सर्वप्रथम विद्वान थे जिन्होंने मनुष्य के अचेतन मन का भी विमोचन किया। फ्रायड के अनुसार चेतन मन का केवल अल्पांश है। क्योंकि मनुष्य की कितनी भी इच्छाएँ तथा वृत्तियाँ विस्मृति के रूप में अचेतन के अगाध सागर में डूबी रहती हैं। यही मानव मन को द्वन्द्वात्मक बनाती हैं। वह स्पष्ट निर्णय नहीं ले पाता है कि यह विचार सही है या यह विचार सही है। यही मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति दीर्घ रोगों का कारण बनती है। फ्रायड ने अपने इस मत की पुष्टि में सम्मोहन अथवा रेचन क्रियाओं द्वारा रोगियों को स्वस्थ कर दिखाया।[1]

---

1. थ्योरीज आफ पर्सनलिटी, हाल एण्ड लिन्डसे, पृष्ठ 30

अपनी पूर्व कालीन मनोवृत्तियों में फ्रायड ने आत्मरक्षा तथा प्रजनन को दो मुख्य तत्व माना है, जिसका नामकरण उन्होंने अहम्—वृत्ति और कामवृत्ति (इगो एण्ड लिबिडो) से किया है। वास्तव में यह दोनोतत्व प्रेरक हैं जोकि जीवन को गतिशीलता अथवा विकास प्रदान करते हैं।. आत्मरक्षा प्रेरक में बुभुक्षा, पिपासा, भय, आत्म—प्रकाशन एवं आत्म—सम्मान को सम्मिलित किया जा सकता हैं आत्म—रक्षा के अतिरिक्त दूसरा महत्वपूर्ण प्रेरक काम—वृत्ति (लिबिडो) है जो कि फ्रायड के अनुसार जीवन की क्रियाओं का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र बिन्दु है, जिसमें वास्तविकता है भोग की। फ्रायड ने मनुष्य के सभी कार्यों को जिनमें किसी भी प्रकार का सुख मिलता है, काम—वृत्ति के अन्तर्गत ही रखा है। इसी के अनुसार उन्होंने सुख का सिद्धान्त (प्लेजर प्रिन्सिपल) का प्रतिपादन किया।

काम—वृत्ति की अतृप्तावस्था द्वन्द्व की जन्मदात्री है। दिनकर का समग्र जीवन दुखमय व्यतीत हुआ दिनकर जी जब छोटे थे उस समय उनके पिता का देहावसान हो गया था। उन्होंने अपनी शिक्षा अभावों की स्थिति में पूरी की। पिता की मृत्योपरान्त दिनकर जी पर सम्मिलित परिवार का बोझ आ पड़ा। पत्नी से मतैक्य न होने का एक यह भी कारण था।

दिनकर जी कवि के रूप में दो भागों में विभक्त थे। पहला उनके 'स्व' दूसरे उनके 'समाज' का दिनकर जी कर्कशा पत्नी के कारण भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों से अलग हटकर जीना नहीं चाहते थे। इसी कारण 'स्व' और 'समाज' दोनों रूपों में अभिव्यक्ति को समानता प्रदान करते हुए दोनों में सन्तुलन बनाये रखा। दिनकर के 'स्व' की अभिव्यक्ति निश्चित ही नारी के कमनीय रूप में है, लेकिन उनके सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति निश्चय ही

नारी के व्यवहारिक परिवेश में हुई है। दिनकर के नारी–विषयक 'स्व' पक्ष का स्वरूप 'उर्वशी' है। व्यवहारिक परिवेश में नारी का मातृत्वपक्ष उनके सम्मुख है। अपनी सामाजिक परिसीमाओं में दिनकर ने नारी के इसी रूप को देखा है, जो लौकिक और 'व्यवहारिक' है। इस द्वन्द्व में दिनकर नारी के प्रति निवृत्ति की भावना को तथा रीतिकालीन भोग की भावना को अतिवारी सिद्धान्त मानते हैं, जो "अंततः अस्वस्थ भावों को जन्म देते हैं। सदा की भाँति मध्यम मार्ग स्वास्थ्य का मार्ग है। नारी के गोचर रूप के भीतर एक और रूप है, जिसका सत्कार किए बिना नारीत्व का सही सत्कार नहीं हो सकता है।"[1]

दिनकर पत्नी से प्रेम न पा सके। इसकी तृप्ति हेतु उनकी कोई प्रेयसी थी। दिनकर के काव्य में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उनके जीवन में प्रेरणा का प्रमुख स्रोत प्रेयसी ही थी, जो उनके अन्तर्मन पर हावी थी। 'रसबन्ती' में संकलित "बालिका वधू" इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। प्रेयसी बालिका के विवाह संस्कार पर वे हतप्रभ हो सूनेपन का अनुभव करते हैं। परन्तु सच्चेप्रेमी की तरह उसके लिए मंगल कामना करते हैं–

"मंगलमय हो पथ सुहागिन, यह मेरा वरदान,

हर सिंगार की टहनी से, फूले तेरे अरमान।"[2]

फ्रायड के अनुसार इड़ (Id), अहम (Ego) तथा पराहमं (Super ego) ये प्रमुख रूप से व्यक्ति में समाहित रहते हैं। इड़ व्यक्ति के अचेतन मन का मूलतंत्र (System) है। यह मूल प्रवृत्तियों Instincts तथा प्रेरकों का भंडारगृह है इड़ मनका वह पक्ष है जो कि निरन्तर अहम् तथा पराहम के कार्यों को

1. वट–पीपल, दिनकर, पृष्ठ 74
2. रसबन्ती, दिनकर, पृष्ठ 21

प्रभावित करता है। यह अचेतन निश्चित ही एक प्रकार से निर्विकार है क्योंकि यह सदैव ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के प्रभाव से रहित है। तुलना की दृष्टि से यही गीता का पुरूष अथवा सांख्य का अव्यक्त है। यह विभिन्न प्रेरकों द्वारा प्रभावित होता है जिसे कि सम्मिलित रूप से हम काम वासना कह सकते हैं। मनुष्य की समस्त मानसिक शक्ति 'इड़' में ही संचित रहती है तथा यह शक्तियाँ मूल प्रवृत्तियों तथा विनाशकारिता के अधीन कार्य करती हैं। इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का कार्य द्वन्द्वों और संघर्षों को दूर करना तथा सुखानुभूति हैं इसलिए 'इड़' सुख का आधार है।

''अहम्' (Ego) मन के ज्ञान–पक्ष से सम्बन्धित है तथा इसका तार्किक सम्बन्ध बह्रिजगत से है। क्योंकि यह चेतन है इसलिए इसे व्यवहारिक जगत का ध्यान रखना पड़ता है। यह यथार्थता के अनुसार कार्य कर इड़ की अवांछनीय क्रियाओं पर अंकुश रखने का प्रयत्न करता है। 'अहम्' का मुख्य कार्य स्व–रक्षा है। अहम् अनुभवों द्वारा कुछ प्राप्त कर वर्तमान समस्याओं से जूझता है, जिसके कारण इसका कार्य अत्यन्त कठिन होता हैं

पराहम (Suppper Ego) आदर्श का द्योतक है, यह एक प्रकार से व्यक्ति की भौतिक चेतना है। इड तथा पराहम् मे निरन्तर संघर्ष (द्वंन्द्व) होता रहता है। इड़ व्यक्तियों को राक्षसी प्रवृत्तियों की ओर तथा पराहम् उसे दैवी प्रवृत्तियों की ओर ले जाता है। एक अन्य प्रकार से इड़, अहम् तथा पराहम् क्रमशः तम, रज तथा सत् गुणों के भी प्रतीक हैं।

फ्रायड ने काम को ही संघर्ष (द्वन्द्व) का कारण माना है। काम की आतृप्तावस्था में ही द्वन्द्वात्मक विचारों का जन्म होता है। काम की परिभाषा के अन्तर्गत फ्रायड ने कहा कि जिन कर्मों के करने में या जिस वस्तु से

आनन्द की प्राप्ति होती है वह सब 'काम' है। फ्रायड की इस परिभाषा के अनुसार दिनकर जी की अनेक कार्यों में अतृप्तावस्था रही है, जो दिनकर जी के मस्तिष्क की द्वन्द्वावस्था के लिए उत्तरदायी है। इस 'काम' के विषय में दिनकर जी के विचार फ्रायड से कुछ मिलते हैं परन्तु उनके विचारों का भारतीय संस्कृति से अधिक साम्य है। इस कारण दिनकर जी पर विचार करने के पूर्व हमें भारतीय काम-भावना पर विचार करने की आवश्यकता है।

भारतीय काम-भावना-

आर्य ऋषियों ने काम को एक प्रमुख देवता के रूप में स्वीकार किया हैं भारतीय दर्शन के अनुसार 'काम' सृष्टि का मूल तत्व है। वह सर्व मंगलकारी देवता हैं वह मोक्ष का साधन और साध्य तथा जीवन का सर्वोपरि धर्म और ध्येय है। ब्रह्म पूर्ण काम है वेदों में उसे सृष्टि के आदि तत्व के रूप में देखा गया हैं ऋग्वेद के एतरेय ब्राह्मण में काम का सविस्तार वर्णन हुआ है। यजुर्वेद में अश्वमेद्य यज्ञ के अवसर पर सभी देवताओं के साथ कामदेव की भी स्तुति की गई है। अथर्ववेद में 'काम' की चर्चा दानवीर के रूप में हुई है। वहाँ उसे प्रतिग्रहीता तथा समुद्र के समान तरंगायित बताया गया है। सृष्टि के पूर्व प्रजापति के हृदय में सर्वप्रथम काम ही प्रस्फुटित हुआ, जिससे सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में काम की चर्चा देवता या शक्ति के रूप में हुई है। उपनिषदों में 'काम' के कई स्वरूपों का वर्णन मिलता है। उनमें उसके दोनों स्वरूपों ब्रह्म की इच्छा शक्ति और पुरूष की कामना-शक्ति के रूप में वर्णन मिलता है। चित्यूपनिषद् में काम के बारे में कहा है-

"कामोदाता, काम, प्रतिग्रहीता"[1]

---

1. चित्युपनिषद्।

तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार–

"सोकामत्थत, बहुश्याम प्रजाययेति"[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मन् के गुणों का वर्णन मिलता है–

"सर्व कर्मा सर्व कामः सर्व गन्धः सर्वरसः सर्वभिदस्यतो।

वाक्यनादर एष न आत्मान्त ह्वदय एतद ब्रह्मैत मितः।

प्रेत्याशिसंश वितस्मीति यस्य स्याद्धा न विचिकिस्सा स्तीति।"[2]

महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत में 'काम' की परिभाषा करते हुए कहा है कि पंचेन्द्रियाँ, मन व ह्वदय के ह्वदयगत रहने पर उन्हें जो तद्विषयक प्रीति उत्पन्न होती है। वही काम है; तथा वह कर्मो का उत्तम परिणाम स्वरूप है। उन्होंने महाभारत के 'शान्तिपर्व' में मायाबद्ध पुरूष में उत्पन्न काम की संकुचित भावनाओं का रूपकात्मक वर्णन किया है। श्रीमद् भागवत् गीता में श्री कृष्ण ने स्वयं को आसक्तियों और कामनाओं से रहित बल तथा सर्वभूतों से व्याप्त धर्मानुकूल 'काम' कहा है। अतः काम स्वयम् भगवान का गुण है।

योगवशिष्ठ के वैराग्य प्रकरण में भी वासनात्मक काम का रूपकात्मक वर्णन मिलता है। स्मृतियों में भी काम के आध्यात्मिक एवं कल्पनात्मक दोनों रूपों का वर्णन मिलता है। मनु के अनुसार – पुरूष के समस्त कर्म काम द्वारा प्रेरित हैं। बिना काम की प्रेरणा के कोई कार्य सम्भव नहीं। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम के त्रिवर्ग में 'काम' को श्रेष्ठ बतलाया है। विष्णु स्मृति में काम, क्रोध, लोभ के त्यागने पर नारकीय दंड से वंचित होने का विधान बनाया गया हैं त्रिपुरोपनिषद् के अनुसार काम कला की सृजनात्मक शक्ति हैं इस तरह काम

1. तैत्तिरीय उपनिषद।
2. छान्दोग्य उपनिषद

का इतिहास वेद–उपनिषदों की अद्वैत–भूमि पर परम ब्रह्म से प्रारम्भ होता है। काम को कामना, वासना, इच्छा जैसे समानार्थक शब्दों से जाना जाता है। हिन्दी साहित्य में काम प्रायः कामदेव का पर्यायवाची है। रतिनाथ, श्रृंगार रस के देवता, पंचशर, प्रेम के अग्रदूत, अनंग की परम्परा–सम्बन्धित कहानियाँ तथा सम्बन्धों से 'काम' का असंदिग्ध मिलाप माना गया है। जयशंकर प्रसाद ने काम की इस अनात्मवादिता को अच्छी तरह पहचाना था। उनकी दृष्टि में देवताओं की सृष्टि के विनाश का मूल कारण यही था–

"मैं काम रहा सहचर उनका,

अच्छे विनोद का साधन था,

हँसता था और हँसाता था,

उनका मैं कृतिमय जीवन था।

× × ×

देवों की सृष्टि विलीन हुई,

अनुशीलन में अनुदित मेरे,

मेरा अतिचार न बन्द हुआ,

उन्यत्र रहा सबको घेरे।[1]

दिनकर जी ने अपने काव्य 'उर्वशी' में उर्वशी–पुरुरवा के माध्यम से मानव मन की प्रमुख समस्या 'काम' को प्रस्तुत किया हैं। दिनकर जी का पत्नी से मनोमालिन्य रहने के कारण शारीरिक भूख तो मिट जाती थी। परन्तु मानसिक सन्तुष्टि नहीं प्राप्त हुई। जवानी में एक कन्या से प्रेम प्रसंग चला

1. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 71

पर विवाह दूसरे के साथ उस कन्या का हुआ। मानसिक ठेस लगी यही प्रेमिका दिनकर जी के काव्य की प्रेरणा स्रोत थी। यह काम की अतृप्तावस्था, मानसिक द्वन्द्वात्मक भावों में हिलौरे मारने लगी। फिर भी दिनकर जी भारतीय परम्पराओं को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सके। दिनकर जी के "उर्वशी" को काम समस्या के काव्य के रूप में देखने पर ही उनके वास्तविक सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है।"[1] काम मनुष्य की प्रवृत्ति है, किन्तु उसका धर्म है, पाशविकता से ऊपर उठना तथा अपनी सहज प्रवृत्तियों पर अपनी उदात्त प्रवृत्तियों का आरोप करना। '[2] 'उर्वशी' की भूमिका में कवि ने लिखा है– "पुरूरवा–उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरूद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है; वह पुरूषार्थ के काम–पक्ष का महात्म्य बताता है।"[3]

दिनकर जी की अतृप्त कामना 'उर्वशी' में प्रस्फुटित हुई है। दिनकर जी का उर्वशी– पुरूरवा को काव्य में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने जो बार्ता उर्वशी और पुरूरवा द्वारा प्रस्तुत की है उससे दिनकर जी के अतृप्त काम के द्वन्द्वात्मक विचार झलकते हैं। उर्वशी भूतल पर उतरती है अपने अतृप्त काम की तृप्ति तथा पुरूरवा के आलिंगन–पाश में आबद्ध होने की कामना लेकर स्वर्ग से भूलोक चली तो आती है परन्तु उसे अपने इस आचरण, स्वयम् पृथ्वी पर आ जाने में आत्म–अपमान का भान होता है। वह पुरूरवा से कहती है–

"वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु–वलय में,

---

1. हिन्दी वार्षिकी–सम्पादक डा0 नगेन्द्र, 1961 पृष्ठ 70
2. साहित्य, संदेश, अंक 4 भाग 24, अक्टूबर, 1964
3. उर्वशी (भूमिका) पृष्ठ–ग

खिंची नही, विश्राम तरंग पर चढ़ी हुई आती है।"[1]

परन्तु पुरूरवा उर्वशी के इस विचार से सहमत नहीं होता। उसकी दृष्टि में वही व्यक्ति श्रेष्ठ है जो संसार रूपी जल में शतदल तुल्य बास करता है अनाशक्ति ही, अन्य भावनाओं की तरह, प्रेम को भी पवित्र करती है–

नहीं इतर इच्छाओं तक की अनासक्ति सीमित है,

उसका किंचित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है"[2]

पुरूरवा के मन में द्वन्द्व है। दिनकर का द्वन्द्वात्मक विचार यहाँ झलकता है। कभी वह आसक्ति की भावना से आकृष्ट होता है, कभी अनासक्ति की भावना से। काम–भावना पर बुद्धि के अंकुश को देख वह व्याकुल हो उठता है। वह यह निर्णय नही कर पाता कि कौन–सा मार्ग ग्रहण करने योग्य है? बुद्धि का अंकुश उसे सदैव सचेष्ट करता रहता है–

"दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं हैं

रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।"[3]

यहाँ पर पुरूरवा स्वयम् दिनकर जी हैं और उर्वशी उनकी वह कन्या है जिससे उनका प्यार चलता रहा। पुरूरवा अपने मन में उठे हुए द्वन्द्व को समझ नहीं पाता है। उसके हृदय में कभी अनुराग झलकने लगता है तो कभी वैराग्य प्रबल हो उठता हैं उसमें असीम बल है परन्तु नारी के सम्मुख उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। काम–भावना पर उसका वश नहीं चल पाता है।

---

1. उर्वशी, दिनकर, पृ0 42
2. उर्वशी, दिनकर, पृष्ठ 43
3. उर्वशी दिनकर, पृष्ठ 46

ऐसी स्थिति में रक्त की समर्थिका उर्वशी उसे रक्त की भाषा पढ़ाती है।[1]

दिनकर जी के विचार से–प्रकृति में कोई द्वेत नही है, द्वेत का कारण यही बुद्धि है। अपने कार्यो के स्वयम् हम उत्तरदायी हैं। हम स्वयं ही प्रकृति हैं और उस परमेश्वर के दर्शन हम जगत के विभिन्न रूपों एवं नाना प्रकार में कर सकते हैं–

"द्वन्द्व रंच भर नहीं कहीं प्रकृति और ईश्वर में,
द्वन्द्वों का आभास द्वेत मय मानस की रचना है।
यह आभास नहीं टिकता, जब मनुष्य जान लेता है,
अप्रयास अनुभवन प्रकृति का, सहज रीति जीवन की,
क्योंकि प्रकृति औ पुरूष एक हैं, कोई भेद नहीं है।"[2]

दिनकर जी भारतीय विचार धाराओं से निकल नहीं पाते है। भारतीय आदर्श को वे ध्वस्त करने की स्थिति में नहीं है। वे प्रेम विवाह को उचित ठहराते हैं परन्तु ऐसा आदर्शात्मक भाव के कारण कर नहीं पाते हैं। दिनकर जी की अतृप्त काम कल्पनायें ही उन्हे वैदिक आदर्श की ओर ढकेलती हैं। अधिकतर घर से प्रताणित व्यक्ति, अपनों द्वारा सताया हुआ आदमी ही घर और समाज से पलायन करता है। बही स्थिति दिनकर जी की भी है। दिनकर जी का हर क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भाव ही अपनों से निराशा के कारण पनपा है।

द्वन्द्व निकटवर्ती सन्दर्भ

द्वन्द्व का निकटवर्ती सम्बन्ध संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, अन्तर्विरोध और विरोध से होने के कारण इसे चार भागों में बांटकर अध्ययन करना उचित है जो

1. उर्वशी, दिनकर, पृष्ठ– 56 से 57 तक
2. उर्वशी, दिनकर, पृष्ठ–79

निम्नवत हैं–

क) द्वन्द्व और संघर्ष

ख) द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व

ग) द्वन्द्व और अन्तर्विरोध

घ) द्वन्द्व और विरोध

द्वन्द्व और संघर्ष

दिनकर जी का मुख्य संघर्ष पत्नी के साथ रहा हैं इसी संघर्ष ने दिनकर जी की जीवन पद्धति में बदलाव लाने का प्रयत्न किया। काम की तृप्तावस्था मात्र शारीरिक रूप से तृप्त नहीं होती है। काम उन समस्त वातावरण का अनुकूलन चाहता है जो आनन्द प्रदान करता है। दिनकर जी के मानसिक तल पर काम, भय और मोह इसी पारिवारिक संघर्ष के फलस्वरूप उदित हुए। दिनकर जी के काव्य में पुरुरवा के भीतर ये तीनों गुण काम, भय और मोह समाहित थे, जिनकी अभिव्यक्ति 'उर्वशी' में प्रत्येक स्थल पर हुई है। सामान्य दृष्टि से यह रचना उस वयक्रम की है, जब मन तो चंचल रहता है पर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तथा मनुष्य में आवेग के स्थान पर चिन्तन प्रबल हो जाता हैं। काम की पुनरावृत्ति तो रहती है, लेकिन क्रोध का स्थान भय ग्रहण कर लेता है, मनुष्य इस प्रकार नारी आश्रित हो जाता है। यह वह समय था जब दिनकर अपने परिवार से कलह और संघर्ष के कारण क्षुब्ध थे और भारतीय राजनीति के मंच पर प्रमुख स्थान न पा सके थे। वे संसद के सदस्य नहीं बन पाये। जिस समय दिनकर जी संसद के सदस्य थे, उस समय पारिवारिक संघर्ष का असर उनके जीवन पर बहुत कम था। इसका

प्रमुख कारण यह था कि उन्हें इस समय विभिन्न विलासिता क़ी सामग्री प्राप्त होती थी। "कहना न होगा कि इसमें स्त्रियों का भी स्थान प्रमुख था, जो निरन्तर उनसे ऐनकेन–प्रकारेण सम्बन्धित थीं। काम का यह अधिक्य ही दिनकर के चिन्तन का कारण बना, जिसका उत्कर्ष उनका कामाध्यात्म है। एक द्विद्या और द्वन्द्व के रूप में जिसका सफल प्रतिपादन पुरूरवा करता है, जो भोग की स्थिति में भी मन से कहीं अन्यत्र ही विचरण करता है। दिनकर जी यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि थी, एक ओर था उसका खिन्न परिवार तो दूसरी ओर उनकी कामेक्षा। औशीनरी का व्यक्तित्व जिन अनुभवों से बना वह दिनकर को रूचिकर नहीं था।"[1] उन्हें "नारी का निर्भीकरूप प्रिय था, जिसका सफल प्रतिपादन उन्होंने 'उर्वशी' में किया है। यह एक बिडम्बना ही थी कि परिवार में भी उनकी दृष्टि में वस्तुस्थिति औशीनरी की ही थी। उनका पारिवारिक जीवन कभी तुष्ट नहीं था।"[2] पत्नी से संघर्ष के कारण ही उनकी काम की असंतुष्टि उन्हें एक स्वतन्त्र और निर्भीक नारी के लिए इधर–उधर भटकाती रही। 'उर्वशी' का मुख्य प्रतिपाद्य भी यही है जिसकी अभिव्यक्ति पुरुरवा के मानसिक द्वन्द्व में होती है।

पुरुरवा कामुक प्राणी है, औशीनरी उसकी विवाहिता पत्नी है तथा उर्वशी उसकी प्रेयसी। इन दोनों के मध्य ही पुरूरवा का द्वन्द्वात्मक संघर्ष है। इस संघर्ष का कारण उसकी वय भी है, जिसके कारण वह शिथिलता का अनुभव कर चिन्तन के लिए शारीरिक रूप से बाध्य है। आयुक्रम के अनुसार उसमें पहले वाला उत्साह व शक्ति नहीं, जिससे कि वह अपनी समस्त

---

1 आधुनिकता के हासिये में उर्वशी– जयसिंह नीरद, पृ0 60

2 दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति–डा0 रमारानी सिंह, पृ0 133

आकाँक्षाओं की पूर्ति कर सके, उसकी यही द्वन्द्वात्मक मनोवृत्ति निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त होती है—

"मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं

उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।"[1]

पारिवारिक संघर्ष के फल स्वरूप अतृप्त काम के कारण दिनकर अपने अहं को छोड़कर कामनी के प्रति नतमस्तक होते हुए पुरुरवा के रूप में अवतरित होकर 'उर्वशी' में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पुरुरवा के सुकुमार भावों के समक्ष अहम् भी नतमस्तक हो जाता है। वह उर्वशी के प्रणय में लीन हो जाता है। काम की प्रबलता उसे एक नील—कमल का रूप ही धारण करा उर्वशी के हाथों में समर्पित करा देती है। यहाँ समस्त मनोवृत्तियों का परित्याग कर, प्रेम पर उत्सर्ग होने के लिये व्याकुल है—

"मैं तुम्हारे बाण का बीधा हुआ खग,

वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।

मैं तुम्हारे हाथ का नीला—कमल हूँ,

प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।।"[2]

उपर्युक्त दोनों कथनों में दृष्टिपात करने पर पुरुरवा के इन दोनों कथनों में धरती आकाश का अन्तर है। एक ओर वह स्वयं को धरती का सूर्य घोषित करता है, तो दूसरी ओर कोमल कमल। वास्तव में यही दिनकर का द्वन्द्वात्मक भाव है। जहाँ एक ओर वे कुरूक्षेत्र के भीम हैं, तो दूसरी ओर उर्वशी के पुरुरवा। दिनकर जी के पुरुरवा होने की स्वीकारोक्ति का एक

1. उर्वशी— दिनकर, पृष्ठ —51
2. उर्वशी— दिनकर, पृष्ठ —52

उदाहरण प्रस्तुत है–

"मैं ही पुरुरवा राजा था

हाँ, तब अवसे कुछ ताजा था।"[1]

दिनकर जी के द्वन्द्व में कोमल व कठोर दोनों ही प्रबल पक्ष हैं। उनका अन्तर्मन सुकुमार है तो बाह्य कठोर, जहाँ आवेगों का स्थान चिन्तन ने ग्रहण किया है। दिनकर जी के अनुसार कवि व प्रेमी का एक ही रूप होता है, दोनों ही शरीर की सुन्दरता से आकृष्ट होते हैं, लेकिन उनकी अनुभूतियाँ उन्हें शरीर से दूर ले जाकर एक दार्शनिक का रूप प्रदान करती है। देखिये दिनकर जी के शब्दों में–

"कवि, प्रेमी, एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से

दोनो मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं।"[2]

सौन्दर्य के इसी चिन्तन में पुरुरवा उर्वशी का आलिंगन कर एक दार्शनिक का रूप ले, रहस्य चिन्तन करने लगता है–

"मुझमें जिस रहस्य चिंतक को तुमने जगा दिया है,

उड़ा चाहता है वह भावुक इस निरभ्र अंबर में।"[3]

लेकिन इस रहस्य चिंतक की भी कुछ सीमाएँ हैं, वह उस सीमा तक ही सोच सकता है। यह सीमा है, कामुकता का अतिक्रमण। इस अतिक्रमण में वह अपनी प्रेयसी को निर्वस्त्र देखने को लालायित हैं–

"अतिक्रमण इसलिए कि इन जलदों का पटल. हटाकर,

---

1. 'मृत्ति तिलक'– दिनकर पृष्ठ 55
2. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –59
3. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –61

देख सकूँ मधुकान्तिमान सारा सौन्दर्य तुम्हारा।''[1]

दिनकर जी बुद्धि से अधिक आवेग के कवि हैं। वह उर्वशी के मुख से बुद्धि के प्रविकार की बात कहलवा पुनः भोगवाद की पुष्टि कराते हैं–

''रक्त बुद्धि से अधिक बली है, और अधिक ज्ञानी भी,

क्योंकि बुद्धि सोचती है और शोणित अनुभव करता है''[2]

वृत्तियों का दमन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसलिए बुद्धि का अंकुश आवेगों पर इतना अधिक नहीं होना चाहिए जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो। दिनकर जी का पत्नी से संघर्ष इस द्वन्द्वात्मक विचार के लिए उत्तरदायी है। इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप दिनकर जी 'उर्वशी' में पुरुरवा रूप में अवतरित हुए। पुरुरवा दिनकर की तरह सुकुमार व भोगवादी है। दिनकर जी अन्तर्द्वन्द्व के कारण नारी के बहुरूपों के पोषक हैं, लेकिन अन्ततः उन्हें नारी का स्वतन्त्र व निर्भीक रूप ही प्रिय है। उन्हें पुरुरवा की पत्नी ओशीनरी का पतिव्रत्य प्रिय नहीं, अपितु उर्वशी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही पसन्द है।

दिनकर जी की अतृप्त काम के कारण मानसिक धरातल पर उभरी हुई प्रेमिका की प्रतिमा उर्वशी के रूप में उनके काव्यग्रन्थ 'उर्वशी' में अवतरित हो गई। जब तक दिनकर जी धन कमाते रहे परिवार का पोषण करते रहे उस समय तक घर वाले, सगे सम्बन्धी दिनकर जी को हजम करते रहे; परन्तु जब उन्होंने आर्थिक तंगी का अनुभव किया, उस समय परिवार, सगे सम्बन्धी जिनको उन्होंने पाला–पोषा था एक दिन भी सहन नहीं कर सके। दिनकर

---

1. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –51
2. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –56

जी ने अपनी 'डायरी' में एक स्थान पर दिनांक 19 जुलाई 1963 में वे जब मद्रास में थे लिखा था–

"घर की आग ने चारो ओर से पकड़ लिया। मेरा दुर्भाग्य खड़ग खोलकर मेरे सामने खड़ा है। दो महीनों तक मैं उस घर में दम साधकर बैठा रहा, जिससे विकराल लपटें निकल रही हैं। अंत में जब यह दिखायी पड़ा कि अब जलकर खाक हो जाऊँगा, तब घर छोड़ कर मद्रास भाग आया हूँ।..... वैराग्य का अनुवाद श्री अरविन्द ने सिनशियेसन नहीं, डिसगस्ट विद लाइफ किया है। उसी डिसगस्ट के मारे मैं घर छोड़कर भागा–भागा फिरता हूँ। ऐसे में मृत्यु आ जाय, तो उसे मैं वरदायिनी समझूंगा। लेकिन मृत्यु बुलाने पर नहीं आती। उसे जिस दिन आना होगा, वह बिना बुलाये ही आ. जायगी।"[1]

पारिवारिक संघर्ष से ऊबे हुए दिनकर जी दिनांक 23 मई, 1963 (पटना) में अपनी डायरी में लिखते हैं "मैं बहुत बेचैन हूँ चाहता हूँ कि कोई आकर कान में कह दे, तुम बेचैन क्यों हो? कुछ भी नहीं हुआ है।"[2] दिनकर जी 22 जून 1963 (पटना) में अपनी डायरी में अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते है– "थकी हुई जर्जर मनोदशा की एक कविता, जो कविता नहीं बन सकी। गृहकलह की दाह से भस्म हो रहा हूँ। रक्तचाप रोज चढ़ता है। रात में नींद नहीं आती। रह–रहकर कमरे के बाहर निकलकर टहलने लगता हूँ। तब भी शान्ति नही मिलती"[3]

---

1. दिनकर की डायरी,– दिनकर, पृष्ठ 89
2. दिनकर की डायरी – दिनकर, पृष्ठ–85
3. दिनकर की डायरी– दिनकर, पृष्ठ 85

द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व

मानव मन में जितना अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है, कुंठा उतनी ही तीव्र हो जाती है। उसमें आवेग और संवेग मिश्रित हो मन में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं तथा मनुष्य अपने आप कुछ करने और कुछ न करने की स्थिति में नहीं रहता। यही स्थिति महाभारत युद्ध में अर्जुन की है उसे इतना अधिक आत्म–पीड़न है कि उसका शरीर कंपित है, मुँह सूखा जा रहा है, शरीर पर रोमांच है, यहाँ तक कि वह अपने धनुष को भी संभालने में असमर्थ है। उसका मन कुछ करने व कुछ न करने की स्थिति में नहीं, क्यों कि उसके मन में एक शक्तिशाली अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है–

"सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थानुं भ्रमतीव च मे मनः।।"[1]

अन्तर्द्वन्द्व जब मानव मन में उभरकर आता है तो निश्चय ही उसके दो स्वरूप–विघटनात्मक और रचनात्मक होते है। विघटनात्मक प्रभाव के अन्तर्गत मनुष्य समाज के सामने हारकर एक अन्य ही रूप में उपस्थितं होता है। लूट डकैती आदि विध्वंसक कार्य इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हैं। इसके विपरीत अन्तः संघर्ष से उभरी रचनात्मक क्रिया समाज के साथ सामंजस्य की होती हैं यह सृजनात्मक होती है। इसकी अभिव्यक्ति विज्ञान में न होकर कला में होती हैं उत्कृष्ट रूप की कलात्मक रचनाएँ चित्र अथवा कतिवाएँ अन्तर्द्वन्द्व की इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। "कलाकार और कवि जिसे साक्षात् समाज में

---

81. गीता–1/29–30

प्राप्त नहीं कर सकता, वह उसका आलिंगन कल्पना–जगत् से खींच अपनी तूलिका अथवा लेखनी के माध्यम से कर लेता है, उसकी अदाकारी में बलात्कार की शक्ति नही अपितु भाव–शक्ति से वरण में ही शक्ति और सत्ता दोनों है।''[1]

दिनकर जी पत्नी से मानसिक रूप से अतृप्त ही रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि उनकी पत्नी कर्कश वाणी की थी। यही कारण था कि दिनकर जी का मन द्वन्द्वात्मक लहरों में सदैव हिलौरे लेता रहा। दिनकर जी का विवाह छोटी अवस्था में हो गया था। दिनकर जी सामूहिक परिवार के सदस्य थे वह इसे तोड़ न सके। यह भी कारण था पत्नी के मध्य मन मुटाव का। दिनकर जी की एक प्रेमिका थी। उसका विवाह सामाजिक जातिगत बन्धन के कारण दिनकर से न होकर सजातीय वर के साथ हो गया। उस स्थिति में भी दिनकर जी ने उस प्रेमिका का अहित नही चाहा। उसके सुख की कामना करते रहे। इस प्रेमिका का चित्र मानस पटल पर 'उर्वशी' में उर्वशी के रूप में प्रस्फुटित हुआ। उर्वशी की कथा वस्तु वैदिक कालीन है ऋग्वेद[2], शतपथ ब्राह्मण[3], महाभारत[4], श्री मद्‌भागवत[5], ब्रह्मपुराण[6], विष्णुपुराण[7], ब्रह्माण्ड–पुराण[8], स्कन्द पुराण[9] तथा विक्रमोर्वशीय नाटक आदि में यह विषयवस्तु विभिन्नताओं के साथ वर्णित है। परन्तु इसका मूल बिन्दु

---

1. 'दिनकर' साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति– डा0 रमारानी सिंह, पृष्ठ–32
2. ऋग्वेद–काण्ड, ज0 511, ब्राह्मण।
3. शवपथ ब्राह्मण– मं0, सूक्त 95।
4. महाभारत–आदिपर्व, अ0 46, 75, 78, 85
5. श्रीमद् भागवत्– स्कन्द 9, अ0 14
6. ब्रह्मपुराण, अ0 9–10
7. विष्णुपुराण, अंश 4, अ0 6
8. ब्रह्माण्ड पुराण– उपोद्धति पाद, अ0 6 श्लोक– 5–28
9. स्कन्द पुराण– ब्रह्म खण्ड, अ0 28

'काम' है। इसलिए जहाँ तक स्रोतों का सम्बन्ध है, वह सभी उसके प्रवाह में संश्लिष्ट हुए हैं, लेकिन दिनकर की 'उर्वशी' का सूत्रधार महाकवि कालिदास विरचित "विक्रमोर्वशीय" ही दीखती है। दिनकर ने 'उर्वशी' और 'पुरूरवा' के मिलन–प्रसंग को भी कालिदास से ही लिया है। कालिदास की उर्वशी का शापवश लता रूप में परिणत हो जाना, गिद्ध के द्वारा संगम मणि उठा ले जाना तथा ऋषि भरत द्वारा स्वर्ग में रूवरू की योजना[1] आदि को गौण मानकर दिनकर ने 'उर्वशी' में सम्मिलित नहीं किया है। इसी प्रकार अन्त में उर्वशी व पुरूरवा की वियुक्तावस्था का प्रसंग भी कालिदास से भिन्न है। कालिदास ने जीवनपर्यन्त उर्वशी और पुरूरवा को संयुक्त रखा। लेकिन दिनकर ने इस सन्दर्भ में पूर्व ग्रन्थों का ही अनुकरण किया। चूंकि दिनकर जी की प्रेमिका ने दिनकर को छोड़ कर सजातीय से विवाह रचा लिया था। दिनकर जी ने इस वियोगावस्था के कारण ऋग्वेद का अनुसरण किया। ऋग्वेद में उर्वशी और पुरूरवा के वियोग का वर्णन करते हुए, उर्वशी द्वारा पुरूरवा को छोड़ जाने का प्रसंग है; जिस प्रकार दिनकर की प्रेमिका दिनकर को छोड़ कर चली गई। इस प्रकार दिनकर जी ने इसी का अनुकरण किया। इसी कारण डॉ0 नगेन्द्र ने 'उर्वशी' को अन्तर्मन्थन का काव्य कहा है।[2] यथार्थ में उनका मन्तव्य काम से है। काम ही मनुष्य की वह समस्या है जिससे मनुष्य का अन्तः मन उद्वेलित होता है, केवल अन्तः मन, क्योंकि उसके बहिर्मन का प्रस्फुटन सामाजिक परिवेश के आडम्बर में पूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत कृति में दिनकर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यदि आध्यात्मिक अनुभव

---

1. विक्रमोर्वशीय –कालिदास
2. दिनकर सृष्टि और दृष्टि–कौल एवं शास्त्री, पृष्ठ–223

साध्य है तो ऐन्द्रिय भोग उस स्तर तक पहुंचने का साधन है।"[1] दिनकर की मान्यता है कि भोग की भूमिका का अतिक्रमण कर व्यक्ति कवि बन जाता है–

"दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत–शिखा भी,

नारी जब देखती पुरूष को इच्छा भरे नयन से,

नहीं जगाती है केवल उद्वेलन, अनल रूधिर में,

मन में किसी कान्त कवि को, भी जन्म दिया करती है।"[2]

दिनकर ने उर्वशी की भूमिका में लिखा है– "रोगों के समाधान और प्रश्नों के उत्तर, मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को पहचानती है, केवल वासना की लहर और रूधिर के उत्ताप को पहचानती है।"[3]

दिनकर जी को काम की अतृप्तावस्था ने सताया। द्वन्द्वात्मक विचार उपत्न्न किये। अतृप्त काम की स्थिति द्वन्द्व के लिए उत्तरदायी है और यही द्वन्द्वात्मक स्थिति काव्य को जन्म देती है। इसी काम के बारे में दिनकर जी के विचार प्रस्तुत हैं– "विपत्ति की चोट जब असह हो जाती है, आदमी जीवन के मूल से सटना चाहता है। जीवन का मूल यानी काम। नारी नर को पकड़कर जीना चाहती है, और नर नारी का अवलंब खोजने लगता है। ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जो भोगे हुए सत्य से न जनम कर कल्पना से जनमी थी। अगर आगे चलकर वे सत्य हो गयी; मुझ पर सत्य हो गयी। उदाहरण के लिए उर्वशी की ये पंक्तियाँ–

---

1. स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी प्रबन्ध काव्य– डा0 बनबारी लाल शर्मा, पृष्ठ–128
2. उर्वशी–दिनकर, पृष्ठ 58
3. उर्वशी–दिनकर, पृष्ठ ज.

"असफलता से उसे जननि का वक्ष याद आता है,

संकट में युवती का शय्याकक्ष याद आता है।

संघर्षों से श्रमित–श्रांत हो पुरूष खोजता विहल,

सिर धर कर सोने को क्षण भर नारी का वक्षस्थल।

आँखो में जब अश्रु उमड़ते, पुरूष चाहता चुंबन

और विपद में रमणी के अंगों का गाढ़ालिंगन।'[1]

दिनकर जी की अतृप्त काम वासना द्वारा उत्पन्न द्वन्द्वात्मक स्थिति का मूल कारण यह था कि दिनकर जी एक कामनी कन्या से वरण करना चाहते थे परन्तु जाति गत भेदभाव के कारण उस रमणी से रमण नहीं कर सके। विवाहिता और प्रेमिका के द्वन्द्व में फंसे रहे। प्रेम जो तृप्त हो जाय वह निरर्थक हो जाता है परन्तु जब प्रेम में प्रेमी पागल की तरह विरह रूपी अग्नि में जलता है उसे ही दिनकर जी श्रेष्ठ मानते हैं। वे कहते हैं– "सुखी प्रेम का इतिहास नही होता। प्रेम का इतिहास रोमांस का इतिहास है, और रोमांस तब जन्म लेता है, जब प्रेम में बाधा पड़ती है, रूकावट आती है, विशेषतः, जब प्रेम दुःखान्त होता है। जिस प्रेम में आतुरता है, तेजी है छटपटाहट और बेचैनी है, वह विपत्ति लाकर रहेगा। कहते हैं, योरोप और अमरीका में व्यभिचार सबसे बड़ी प्रवृत्ति है। व्यभिचार न हो तो कविता और उपन्यास में क्या रह जायगा? सारा साहित्य उस प्रेम के इर्द–गिर्द चक्कर काटता है, जो नियमों का पालन करना नहीं जानता। मनुष्य जाति की आधी से अधिक विपत्तियों का नाम व्यभिचार है। विवर्जित के प्रति आकर्षण है, इसलिए विवाह टूटते हैं। लेकिन

1. उर्वशी–पृ0–59

विवर्जित के प्रति आकर्षण में दुःख है, यह जानते हुए भी आदमी संत्रास को स्वेच्छया क्यों अपनाता है?"[1]

इसी संत्रास के बारे में दिनकर जी के विचार देखिये– "मेरे भीतर एक आग है, जो बुझती नहीं है। तो फिर वह मुझे जला क्यों नहीं डालती? इस आग के रंगीन धुएँ में खुशबू है। उस धुएँ में पुष्पमुखी आकृतियाँ चमकती हैं। सौंदर्य के तूफान में वुद्धि को राह नहीं मिलती। वह खोजती है, भटक जाती है। यह पुरूष की चिरन्तर वेदना हैं। मैं धर्म से छूट कर सौन्दर्य पर और सौन्दर्य से छूटकर धर्म पर आ गया हूँ। होना यह चाहिए कि धर्म और सौन्दर्य में धर्म दिखायी पड़े। सौन्दर्य को देखकर पुरूष विचलित हो जाता है, नारी भी होती होगी। फिर भी सत्य है कि सौन्दर्य आनन्द नहीं, समाधि है।"[2]

द्वन्द्व और अन्तर्विरोध

दिनकर युगधर्मी साहित्यकार हैं। ठीक उसी अर्थ में वे परम्परा से प्रतिबद्ध विचारक हैं। वे युग की हर महत्वपूर्ण विचारधारा से अपना जीवन सम्पर्क बनाये रहे किन्तु उन विचारधाराओं के मूल्यांकन का कैनवास उनका अपना रहा। वे भारतीय संस्कृति के समर्थ चिन्तक हैं अतः उनकी सम्पूर्ण मान्यताएँ भारतीय परम्परा से ही अपना प्राण–रस प्राप्त करती रही हैं। संस्कृति–विश केवल प्रतिगामी विचारधाराओं के सार से अपने चिन्तन को पुष्ट करता है। बल्कि उन विचार धाराओं के सारभूत अंश से अपने सांस्कृतिक–बोध का समन्वय साधने में भी वह किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नही करता। यह एक विदित तथ्य है कि समन्वय को वही व्यक्ति साध

---

1. दिनकर की डायरी–रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 93
2. दिनकर की डायरी–रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 92

सकता हैं जिसकी पक्ष और विपक्ष पर गहरी पकड़ हो। दिनकर ने एक सांस्कृतिक चेतना विचारक की भांति परम्परा और आधुनिकता के सामंजस्य की सिद्धि का उपक्रम किया है। वे यह मानते है कि "भारत को आधुनिक भी बनाना है और उसे अपनी परम्परा के श्रेष्ठ अंश को भी बचा कर रखना है।"[1] आगे दिनकर जी कहते हैं कि– "इसलिए हमारा मन्सूबा है कि हम आधुनिक हो जाने पर भी, भारतीय यानी कुछ–कुछ प्राचीन भी बनें रहेंगे कि आधुनिकता के साथ जहर की जो थोड़ी लपेट लगी है, उसे केवल प्राचीनता का कूप जल ही धो सकता है।"[2]

दिनकर जी ने आधुनिकता की गतिशील विचारधारा को परम्परा के चश्में से देखना चाहा है। इस प्रयास का एक परिणाम यह हुआ है कि उनकी समन्वय साधना कही–कहीं प्रतिबद्ध सरलीकरणों को प्रस्तावित करने लगती हैं; दूसरे आधुनिकता के विवेचन से जुड़ी उनके परम्परा बोध की परिणति अतीत की प्रति भावुक प्रति आकर्षण में होती है। इन्हीं दोनों स्थितियों के कारण उनके परम्परा और आधुनिकता सम्बन्धी विवेचन में अनेक अन्तर्विरोध उभरकर आए हैं। इन अन्तर्विरोधों के अध्ययन से न केवल उनके चिन्तन की सीमाएँ ज्ञात होती है बल्कि उनके काव्य की मूलभूत प्रकृति भी यहाँ संकेतित होती दीख पड़ी है।

दिनकर जी आदर्शवादी साहित्यकार हैं। उनका आदर्शवाद उन्हें यह कहने के लिए बाध्य करता है कि "सच्चे परलोकवादियों जिस समाज में अधिकता होगी, उस समाज में पुलिस की जरूरत नही पड़ेगी और चूंकि

1. आधुनिक बोध– दिनकर, पृष्ठ–3
2. आधुनिक बोध– दिनकर, पृष्ठ–19

आदमी आदमी को हर जायज अधिकार खुद दे दिया करेगा, क्योंकि उस समाज में जजों मजिस्ट्रेटों की तादाद भी थोड़ी ही रहेगी।"[1] यानि अपने युग के यथार्थ की उपेक्षा करके जो परलोक की उपलब्धियों के प्रति अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों को उन्मुख रखेगा, वही दिनकर के कल्पित समाज की इकाई होगा। यहाँ स्पष्टतः वर्तमान का निषेध करके पलायन वादी मनोवृत्ति का आश्रय लिया गया है किन्तु उनकी यह भी मान्यता है कि "आज के सत्य की जांच आगे वाला कल करेगा। अतएव वर्तमान को अतीत की ओर देखना अयोग्य है। उसे भविष्य की ओर से देखा जाना चाहिये।"[2]

एक ओर तो काल की प्रवहमान सत्ता से अर्जित यथार्थ की उपेक्षा करके लेखक मनुष्य को परलोकवादी होने पर बल देता है– वर्तमान और भविष्य के प्रति उदासीन निराशा संकेतित करता है, तो दूसरी ओर वर्तमान के प्रति ही नहीं बल्कि भविष्य के प्रति भी अपनी चेतना के समर्पण को वह कम महत्वपूर्ण नहीं मानता। काल का यह निषेध और स्वीकार दिनकर के चिन्तन का एक अन्तर्विरोध ही माना जा सकता है।

उनके अन्तर्विरोधों से सम्बद्ध एक उदाहरण और लें। दिनकर अपने आधुनिकता सम्बन्धी विवेचन में प्रारम्भ से ही बौद्धिकता के प्रबल विरोधी रहे हैं। उनका तो यहाँ तक मत है कि "सोचने की शक्ति बड़ा वरदान है, किन्तु न सोचने की शक्ति उससे भी बड़ा वरदान हैं। मन को स्वच्छन्द रखने का तरीका यही है कि मन को सोचने से रोक लिया जाय।"[3] उन्होंने बुद्धि को

---

1. आधुनिक बोध– दिनकर, पृष्ठ–46
2. साहित्य मुखी– दिनकर, पृष्ठ–25
3. आधुनिक बोध– दिनकर, पृष्ठ–339

आधुनिकता के आधार–रूप में स्वीकार किया है।[1] इसी आधार पर बे मान लेते हैं कि "कवि होना उस शुद्ध, जीवन्त बर्बर के समान बनना है, जो सोचता नहीं, केवल अनुभव करता हैं; फील करता है, जिसके भीतर विचार नहीं होते, केवल बिम्ब या चित्र होते हैं।"[2] किन्तु कविता के भविष्य के प्रति उनकी भविष्य वाणी है कि कविता विचार कविता होगी।[3]

बौद्धिकता के प्रति वितृष्णा को लेकर कविता में विचार शून्यता का प्रतिपादन करते–करते भविष्य की कविता को उसी सघन वैचारिक मुद्रा में स्वीकार कर लेते हैं। अब या तो यह स्वीकार किया जाये कि कविता का भविष्य उसकी वैचारिक प्रवृत्ति के कारण अन्धकारमय है या फिर कविता में विचार के महत्व को स्वीकार करके दिनकर की बौद्धिकता के विरोध की मान्यताओं को निरर्थक माना जाय। इस प्रकार के अन्तर्विरोध को बौद्धिकता के निषेध और स्वीकृत का अन्तर्विरोध मानना होगा। सच तो यह है कि दिनकर के काव्य–संस्कारों का निर्माण जिस युग में हुआ था उसमें पंत और मैथिलीशरण का उन पर विलक्षण प्रभाव पड़ा था। वे पंत की कल्पना को मैथिलीशरण के शिल्प में बाँधना चाहते थे। साथ ही उनकी कविता में उनके व्यक्तित्व की आवेशमूलकता भी प्रतिबिम्बित हुई है। यही कारण है कि यथार्थ से जुड़ी कविता की नवीनतम प्रगति के समानान्तर चलते हुए भी वे इन नवीन काव्य–मूल्यों को अपनी स्वीकृति नहीं दे सके। वे जब कविता के बदलते स्वभाव के समानानतर चलते हैं वहाँ तक तो ठीक है। किन्तु जब वे कविता के सम्बन्ध में व्यक्तिगत मान्यताओं को व्यक्त करते हैं तब उनके काव्यगत संस्कारों और नवीन काव्य–मूल्यों का अन्तर्विरोध उभर कर आता है।

1. आधुनिक बोध– दिनकर, पृष्ठ–10
2 दिनकर की डायरी– दिनकर, पृष्ठ 84
3. काव्य की भूमिका–दिनकर, पृष्ठ–103

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने परम्परा और आधुनिकता विषयक चिन्तन में दिनकर ने दोनों के सरलीकृत समन्वय को साधने का असफल प्रयत्न किया है। उनकी असफलता का मूल कारण यह है कि वे परम्परा और संस्कृति से प्रतिबद्ध थे। उन्होंने आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार तो किया है।[1] किन्तु प्रशंसा वे मध्य युग की करते हैं।[2] उनका यह अवधारणात्मक अन्तर्विरोध हमें दिनकर की मान्यताओं से सीधा सहयोग नही लेने देता, बल्कि इस अन्तर्विरोध की काई को छाँटकर ही हमें इन मान्यताओं का उपयोग करना होता है।

प्रश्न उठता है कि दिनकर की इस परम्परा–मूलक आधुनिकता के मूल में कौन–कौन से कारण रहे हैं। हमारे विचार से इसका सबसे बड़ा कारण रहा है उनका संस्कृति–चिन्तन। उनकी ''संस्कृति के चार अध्याय'' नामक कृति उनकी सांस्कृतिक मेधा का दस्तावेज है। दिनकर ने भारतीय संस्कृति की विशदता को मथकर जो कुछ प्रस्तुत किया वह उनकी चेतना का एक महत्वपूर्ण अंश आद्यान्त बना रहा। उनका काव्य–बोध ही नहीं बल्कि विचारक मस्तिष्क भी संस्कृति और परम्परा के अणुओं से संघटित हुआ है। यही कारण है कि युग के विकासशील सन्दर्भो से सम्पृक्त रहते हुए भी वे संस्कृति की भूमि पर दृढ़ रहे।

इस सम्बन्ध में दूसरा कारण रहा उनकी 'राष्ट्रकवि' के रूप में स्वीकृति। दिनकर के काव्य में स्वाधीनता–संग्राम की प्रत्येक उचातश्वास का अनुभव किया जा सकता हैं इतिहास में यदि मानव–विकास का घटना मूलक

1. आधुनिक बोध– दिनकर, पृष्ठ–36
2. साहित्य मुखी– दिनकर, पृष्ठ–17

सांस्कृतिक क्रम होता है तो साहित्य में समाज की धमनियों में बहने वाले रंग की एक–एक बूंद से इतिहास का निर्माण होता है। दिनकर ने भी अपने ढंग से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में अपनी साहित्यिक हिस्सेदारी निभाई है। शिववालक राय ने यदि दिनकर की राष्ट्रीयता में ''आलोकधन्वा की टंकार''[1] देखी तो डा0 शेखर चन्द्र जैन ने उनकी राष्ट्रीयता को क्रान्तिवीरों के समान उग्र माना।[2] डा0 सावित्री सिन्हा ने उन्हें युग चारण [3] के रूप में स्वीकार किया। स्वयं कवि की भी यह मान्यता है कि ''मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उभरी, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं, वे उस काल की अनुभूतियाँ थीं जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था, वे भारत के पांच सहस्त्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ थीं जो, सौभाग्यवश हमारे ही काल में आकर फिर अवतरित हुई थी।''[4] जन साधारण, विद्वज्जनों एवं स्वयं के द्वारा स्वीकार राष्ट्रकवि के इस दायित्व की पूर्ति आधुनिकता से जूझने में नहीं हो सकती थीं। राष्ट्रीयता से यद्यपि उनकी निजी प्रवृति का सामंजस्य कभी नहीं बैठा। अपनी राष्ट्रीयता के स्वीकार के साथ वे बराबर यह सफाई भी देते रहे कि ''राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया।''[5] राष्ट्रीयता के उस अनपेक्षित विरद के कारण भी परम्परा और संस्कृति को वटस्थ दृष्टिकोण से नहीं देख सके।

---

1. दिनकर– शिवबालक राय, पृष्ठ–31
2. राष्ट्र कवि दिनकर और उनकी काव्य–कला, पृष्ठ 304.
3. युग चारण दिनकर– डा0 सिन्हा
4. चक्रवाल– दिनकर, पृष्ठ –34
5. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ–3.

दिनकर ने अपनी कविता के किसी भी आयाम को पूरी निष्ठा के साथ नहीं स्वीकारा। वे यद्यपि कविता को उपयोगिता मूलक मानकर राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी साहित्यिक सहभागिता से कभी पीछे नहीं हटे। यहाँ तक कि "परशुराम की प्रतीक्षा" में उनकी राष्ट्रीयता आक्रोश बनक़र स्खलित हो गयी किन्तु रोमांटिक अनुभूतियों के प्रति उनका एक सम्मोहक आकर्षण रहा है। प्रेम और सौन्दर्य परक काव्य की धारा उनके राष्ट्रीय काव्य के समानान्तर बहती रही है और सच पूछिये तो उनका अवचेतन पूरी काव्य–यात्रा में प्रेम–सौन्दर्य की विभा से ही मन्त्र मुग्ध रहा। अपने ज़ीवन के अन्तिम दिनों में वे अध्यात्म की ओर मुड़ गये थे और "हारे को हरिनाम" की शिथिल चेतना में राष्ट्रीयता का आवेग और रोमान की मादकता नही मिलती। दिनकर की गतिशील काव्य–चेतना में कहीं भी वह संवेदनात्मक बोध नहीं है जिसका आधुनिकता की प्रकृति से सीधा सम्बन्ध होता। हाँ वे युग के साथ चलने का उपक्रम अवश्य करते रहे। इसी उपक्रम में उन्होंने आधुनिकता का भी विश्लेषण किया और अपनी काव्य–चेतना से कोई तालमेल न बैठा पाने के कारण उसके प्रति आक्रामक रूप अपनाया।

दिनकर की कविता में प्रायः पारदर्शिता का अभाव देखा जाता है। उनकी कविता में जीवन और जगत के प्रति वह गम्भीर भावबोध नहीं जो प्रसाद से मिलता है। "संवेदना में वह ताप, वह दबाव और एकाग्रता नहीं है जो शब्दों को पिघलाकर पारदर्शी बना सके।"[1] इस पारदर्शिता के अभाव की पूर्ति वे आवेश से करना चाहते हैं किन्तु यह आवेश भी कवि मानस में सर्जित नहीं होता, बल्कि वह उसे प्रयत्न पूर्वक अर्जित करता है। फलतः वे पारदर्शिता

1. छायावाद की प्रासंगिकता– रमेशचन्द्र शाह, पृष्ठ –98

के अभाव की पूर्ति बौद्धिकता और विज्ञान पर दोषारोपण करके करते हैं। उन्हें प्रतीत होता है कि बौद्धिकता और वैज्ञानिकता कविता की मूल प्रकृति का ही निषेध करते हैं। जैसे–जैसे वे बौद्धिकता और विज्ञान से दूर हटते जाते हैं आधुनिकता, जिसमें बौद्धिकता और विज्ञान संघटक और प्रेरक तत्वों के रूप में कार्य करते हैं, के प्रति भी वे निर्मम होते जाते हैं। यही वे स ब विवरण है जो दिनकर के परम्परा और आधुनिकता विषयक चिन्तन में अन्तर्विरोध उत्पन्न करते हैं।

दिनकर जी में काम, क्रोध, मोह तथा अहम् का द्वन्द्वात्मक संघर्ष मानसिक स्तर पर विद्यमान था। इन्हीं से प्रेरित होकर दिनकर जी ने 'प्रण–भंग' नामक खण्ड–काव्य की रचना की थी। पूर्व के अध्यायों में यह स्पष्ट है कि तत्कालीन शासन–परम्परा से कवि का हृदय अन्तर्विरोध के भावों से ग्रसित था। उनका मन तत्कालीन शासन की विभीषिका के प्रति आक्रोषपूर्ण था। स्वजनों को मोहवश तथा आत्म शान्ति के लिए बह इस परम्परा को छिन्न–भिन्न कर देना उपयुक्त समझता था। इस दृष्टि से इस खण्ड काव्य में दिनकर के प्रतिनिधि पात्र अर्जुन और भीम हैं न कि युधिष्ठिर। कृष्ण एक ऐसी नीति का प्रतिपादन करते हैं, जिससे सामन्तवादी परम्परा का उन्मूलन किया जा सके। भले ही उससे नैतिकता का परित्याग हो। युधिष्ठिर का निर्वेद दिनकर की हीनता–ग्रन्थि का प्रतीक है, जो कि उन्हें देशवासियों की विदेशी सत्ता के प्रति मोह के कारण उत्पन्न हुआ हैं।

"गुरू शल्य मातुल, भीष्म पर

कैसे करूँगा वार मैं?

कैसे करूंगा प्राण–प्रिय

कुरू वंश का संहार मैं?"[1]

भीम अर्जुन दिनकर का यथार्थ में प्रतिनिधित्व करते हैं, वे ही दिनकर के प्रतीक हैं। दिनकर स्वभाव में मानवतावादी थे, निर्विघ्न शान्ति के उपासक। आरोपित शान्ति में उन्हें विश्वास नहीं था ऐसी शान्ति को वे समूल उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर थे। उसके प्रति उनके अन्दर आक्रोश था, जो प्रतिशोध ा लेने के लिए उनके अचेतन मन में शक्तिशाली रूप में स्थानग्रहण कर चेतना में आ उनके अहम् को ललकारता था। अर्जुन द्वारा निस्पृत इस पद में हमें दिनकर के ही मनोभावों के दर्शन होते हैं।

"किस भाँति भूले भूलते,

अब भी न वन के क्लेश हैं।

विखरे पड़े अब भी हमारी

द्रोपदी के केश हैं।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में दिनकर के चेतन व अचेतन के मध्य अन्तर्विरोध। द्रोपदी के चीरहरण की घटना तथा वन में सहे दुख निश्चित ही अचेतन और चेतन मन के मध्य–तल में विद्यमान है। चेतन उन्हें अचेतन में ढकेलना चाहता है, लेकिन घटना की बलवती प्रक्रिया ऐसा नहीं होने देती तथा इस अन्तर्विरोध पूर्ण स्थिति में जहाँ अपमान ही अपमान हो, दिनकर धैर्य व विवेक को तिलांजलि दे देना चाहते हैं, तभी तो वे अपने पात्र अर्जुन के मुख से निम्नलिखित शब्द कहलाते हैं–

---

1. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ 27
2. प्रणभंग– दिनंकर, पृष्ठ 28

"हो धैर्य कैसे? छिड़ गया

हि बीच ध्वंसक राग है।

हे तात अन्तर्देश में

जलती प्रलय की आग है।"[1]

और भीम के द्वारा जो शब्द कहलाये वे इस प्रकार हैं–

"जब रंग सकूंगा द्रोपदी,

के बाल शोणित–धार से,

जब मुक्त कर दूँगा धरा को,

पापियों के भार से,

कट जायगी कुरूक्षेत्र में,

ज्वालामुखी जब क्रान्ति की,

झाँकी तनिक–सी आयेगी।

हृदयेश में तब शान्ति की।"[2]

दिनकर जी अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहते थे इस कारण उन्होंने मानसिक अन्तर्विरोध की शान्ति हेतु उक्त प्रबन्ध काव्य की रचना की।

द्वन्द्व और विरोध

दिनकर अपने कवि–जीवन के आरम्भ से अन्त तक यथार्थ के कवि थे। उनकी दृष्टि में यथार्थ का अर्थ साम्प्रदायिकता, युग–परिवेश की सर्वाधिक महत्तवपूर्ण आवश्यकता की ओर ध्यान देना रहा है। उस समय देश में यों तो

1. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ–32
2. प्रण भंग– दिनकर, पृष्ठ–31

अनेक समस्यायें यथा– धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि वर्तमान थीं। इन सबों का मूल कारण एक ही था– भारत माता के पांवों में दासता का बन्धन। इस बन्धन को समाप्त किये बिना देश की किसी भी समस्या में परिवर्तन अथवा सुधार लाना असम्भव था। इसी द्वन्द्व के अन्तर्गत दिनकर जी ने अपने काव्य के माध्यम से अंग्रेजी सत्ता का प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष विरोध किया। प्रगतिवादियों ने देश का आर्थिक ढाँचा बदलने के लिए न केवल संघर्ष किया बल्कि देश में व्याप्त अर्थ–विषमता में सुधार लाने की आवाज भी उठाई। पर दिनकर जी ने सच्चाई को पकड़ा और देश को स्वतन्त्र कराने की आवाज उठाई; क्योंकि देश के राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुए बिना सब क्रान्तियाँ व्यर्थ थीं। इस कारण दिनकर जी ने अंग्रेजी सत्ता का विरोधी काव्य रचा। जनमानस को काव्य के द्वारा राष्ट्रीय भावना को उभारा।

मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण, उत्पीड़न और दमन, संकुचित स्वार्थ, जाति–पांति, वर्ग–भेद, वर्ण–भेद आदि का यथार्थ चित्र कवि ने अपनी कृतियों में यत्र तत्र प्रस्तुत किया है। दिनकर जी ने शासक वर्ग का विरोध दर्शाते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार शासक वर्ग अपने स्वार्थो की पूर्ति हेतु मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद–भावना उत्पन्न करता हैं समाज में पारस्परिक स्नेह–व्यवहार तथा एकत्व स्थापित होने में हमेशा बाधा उपस्थित करता है। भय और आतंकपूर्ण वातावरण फैलाने के लिए युद्ध का आवाहन करता है; जिसकी क्रूरता का शिकार निरपराध जन–सामान्य को बनना पड़ता है।

समाज के शोषित और दलित–वर्ग के प्रति होने वाले अत्याचारों को देख दिनकर का हृदय व्यग्र हो उठता है। वह उनके भूखे नग्न शरीर, रूग्ण

शिशु, गन्दे छोटे घर आदि को देखता है और उनका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने मे तनिक भी नहीं हिचकता। मनुष्य की संहार–प्रियता, स्वार्थपरता, ऊँच–नीच की भेद–भावना, पारस्परिक विद्वेष, अहमन्यता, शोषण–वृत्ति आदि को देख उसका हृदय क्रोध से भर उठता है और वह ऐसे निन्द्य मनुष्य का खुलकर विरोध करता है; किन्तु वह यह सहन नहीं कर सकता कि मनुष्य को हेय समझने वाला व्यक्ति मनुष्य की निन्दा करे। मनुष्य को हीन समझकर उसके कृत्यों की निन्दा करने वाले स्वर्ग के देवताओं को उन्हें मुँहतोड़ उत्तर देने का साहस दिनकर का था। वह भूखे बच्चे की कराहती आवाज सुनता है, भावी भारत के नौनिहाल को दूध–दूध की करूण चीत्कार करते हुए दम तोड़ते देखता है। उसकी आत्मा दूध–दूध की पुकार सुन उसी की ओर अग्रसर होती है।

"दूध–दूध! दुनियाँ सोती है,

लाऊँ दूध कहाँ, किस घर से?"[1]

सोई हुई इस दुनियाँ को छोड़, उसे बिना कुछ कहे सुने वह मन्दिर के पाषाणों से पूँछता है और आकाश के तारों से दूध की मांग करता है। उसे मालूम है कि दूध का घड़ा इसी दुनियाँ में किसी के घर में रखा हुआ है जिसे बिना छीने स्वर्ग की शून्य भूमि से दूध की बूंदे–टपक नहीं सकती हैं, फिर भी दुनिया के इस धरातल को छोड़ वह शून्य आकाश में ही दूध खोजने के लिये प्रस्थान करता है और वह भी डंके की चोट पर–

"हटो व्योम से मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम जाते हैं,

---

1. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ– 22

दूध–दूध जो वत्स! तुम्हारा, दूध खोजने हम जाते हैं।"[1]

सामाजिक और आर्थिक शोषण से किसान और श्रमिक त्रस्त हैं। उन्हें जीने का भी अधिकार नहीं। शोषकों के अत्याचारों का विरोध करते हुए कवि कहता है–

"रस्सों से कसे जवान पाप–प्रतिकार न जब कर पाते हैं,

बहनों की लुटती लाज देखकर काँप–काँप रह जाते हैं।

शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बंहाते हैं,

दी अपमानों के गरलघूंट शासित जब ओंठ चबाते हैं,

जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा यह जीवन जन्म–लगन।"[2]

भारतीय कृषकों की स्थिति दयनीय होती जाती है। वह क्षुधा–पीड़ित वस्त्रहीन है। उसकी जिव्हा बन्द है। गम खाना और आँसू पीना उनके जीवन का स्वाभाविक कर्म–धर्म हो गया है। ऐसे दयनीय कृषकों का यथार्थ चित्र दिनकर के काव्यों में यत्र–तत्र मिलता है–

"मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,

वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं;

× × ×

विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती,

अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।"[3]

शोषक–शोषित के आर्थिक वर्ग–भेद और शासक–शासित के राजनीतिक भेद के साथ दिनकर जी ने समाज में व्याप्त जाति–पांति के भेद–भाव का भी

1. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ–23
2 हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–73
3. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ–23

विरोध किया है। समाज के तथा कथित उच्च और निम्न जातियों में भेद–भाव उत्पन्न कर सुविधा प्राप्त वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा करता है। 'रश्मि रथी' में कर्ण के माध्यम से उन्होंने ऊँच–नीच, जाति–पाँति के भेदभाव पर बड़ा प्रहार किया है। अपने पाप को छिपाने वाले सुविधा प्राप्त वर्ग की निर्लज्जता को उजागर करता हुआ कर्ण कहता है–

"जाति–जाति रटते, जिनकी पूंजी केवल पाषंड,

× × ×

साहस हो तो कहो, ग्लानि से रह जाओ मत मौन।"[1]

जाति–पाँति का भेद–भाव का विरोध करते हुए दिनकर जी कहते हैं कि जाति–पाँति के भेद–भाव की स्थापना मनुष्य ने अपनी स्वार्थ–साधना के लिए की है, उसमें पाखण्ड हैं, खोखलापन है।

कवि की कृतियों में वर्ग–वैषम्य का चित्रण सर्वत्र बिंखरा मिलता है। जहाँ तक वर्गगत यथार्थ का प्रश्न है, कवि ने निम्न वर्ग की दलित–दयनीय अवस्था का अनेक क्रान्तिकारी चित्र प्रस्तुत किया है। निम्न वर्ग की दुर्दशा का उत्तरदायित्व उच्च वर्ग के शोषकों के ऊपर दिखलाते हुए उन्होंने करूणा की वह भावना उत्पन्न की है जो आँसुओं में नहीं, रक्तकणों में व्यक्त होती है। उच्च–वर्ग का चित्र उन्होंने सामान्य रूप से किया है और जब कभी जहाँ कहीं अवसर मिला है, उन्होंने व्यंग्य परक शब्दों की वर्षा से इस वर्ग को तिलमिला देना चाहा है। कभी तो वह उसे विनाश की चेतावनी देता है, कभी मानवता को कलंकित करने वाले इस वर्ग के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है।

---

1 रश्मिरथी– दिनकर, पृष्ठ 4

दिनकर जी पूंजीवाद का विरोध करते हैं। पूंजी के असमान बंटवारे के प्रति उनका आक्रोश है परन्तु वे साम्यवादियों के रास्ते पर नही चलना चाहते हैं। वे इस निराकरण के लिए कर्ण के माध्यम से समाज के पूंजापतियों को दानवीरता का नया संदेश देते हैं–

"जिन हाथों से संग्रह किये हो अथवा करते हो,

उन्हीं हाथों से उन्हें समाज में फैला दो।"[1]

कर्ण दानवीर था। वह संचय करता था, दान करने के लिए ही। संग्रह और त्याग के महत्त्व को वह समझता था और चाहता था कि सभी ऐसा ही करें। इसे वह समाज को आर्थिक शोषण से बचाने का एक महत्वपूर्ण अस्त्र समझता था। दिनकर के विचारानुसार आर्थिक शोषण से समाज को बचाने का उपाय साम्यवादी हिंसक क्रान्ति नहीं, बल्कि वह त्याग की भावना है। जो हम कर्ण में पाते हैं–

"और सत्य ही कर्ण दानहित ही संचय करता था।,

अर्जित कर बहु विभव निःशस्त्र, दीनों का घर भरता था।

गो, धरती, गज, वाणि, अन्न, धन, वसन, जहाँ जो पाया

दानवीर ने हृदय खोल कर उसको वहीं लुटाया।

× × ×

मेघ भले लौटे उदास हो किसी रोज सागर से,

याचक फिर सकते निराश पर नहीं कर्ण के घर से।"[2]

---

1. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ 45
2. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ 51–52

दान और त्याग के ये स्वर वर्तमान शोषक समाज को एक ऐसा संदेश दे रहे हैं जिससे देश और समाज दरिद्रता के भीषण रोग से बच सकता है तथा धनपतियों का गौरव इस विधि सर्वथा सुरक्षित रह सकता है–

"दान जगत का प्रकृति धर्म है, मनुज व्यर्थ डरता है,

एक रोज तो हमें स्वयं सब–कुछ देना पड़ता है।

बचते वही, समयपर, जो सर्वस्व दान करते हैं,

ऋतु का ज्ञान नहीं जिनकों, वे देकर भी मरते हैं।"[1]

दिनकर जी इस महान व्रत और दृढ़ संकल्प की ओर संकेत करते है। उसकी समझ से दान ही एक ऐसी वृत्ति है जो लोगों में आत्म–त्याग की भावना भरने में सहायक होती है। अतीत के सुनहरे भारतीय समाज की सुख–शान्ति इसी आत्म–त्याग की भावना में निहित है। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित बहुतों ने महान पद को प्राप्त किया था–

"व्रत का अन्तिम मोल राम ने दिया, त्याग सीता को,

जीवन की संगिनी, प्राण मणि को, सुपुनीता को।

दिया अस्थि देकर दधीचि ने, शिवि ने अंग कतर कर,

हरिश्चन्द्र ने कफन माँगते हुए, सत्य पर अड़ कर।

×   ×   ×

हंस कर लिया मरण होठों पर, जीवन का ब्रत पाला,

अमर हुआ सुकरात् जगत में पीकर विष का प्याला।[2]

---

1. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ 50
2. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ 49–50

इस प्रकार 'रश्मिरथी' का कर्ण आत्म–त्याग की भावना से पूर्ण है। वह दिग्विजयी बनाने वाले अपने कवच–कुण्डल की याचना किए जाने पर ही उसे सहर्ष दान कर देता है, ऐसा करने में तनिक भी नहीं हिचकता है। कर्ण का यह आदर्श वैश्य तथा क्षत्रिय–समाज दोनों के लिए अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसका क्षत्रित्व और उदारता दोनों ही उसे जीवन में यश और कीर्ति प्रदान करते हैं। वह क्षत्रियोचित कर्त्तव्य से विमुख होना नहीं चाहता–

"वह करतब है यह कि युद्ध में मारो और मरो तुम,

पर कुपन्थ में कभी जीव के लिए न पाँव धरो तुम।

वह करतब है यह कि सत्य–पथ पर चाहे कटजाओ,

विजय तिलक के लिए करो में कालिख, पर न लगाओ।"[1]

दिनकर जी ने सन्यास का विरोध किया। कर्म मार्ग को ही श्रेयस्कर माना है। भाग्यवाद का विरोध किया है। भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय की स्थापना 'कुरूक्षेत्र' में भी हुई है–

"भाग्यवाद आवरण पाप का,

और शस्त्र शोषण का,

जिससे रखता दबा एक जन

भाग दूसरे जन का।"[2]

दिनकर जी भाग्यवाद का विरोध करते हुए आगे कहते हैं–

---

1. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ 59
2. कुरूक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 132

"ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा,

करते निरूधर्मा प्राणी,

धोते वीर कु–अंक भाल का,

बहा भ्रुवों से प्राणी।"[1]

दिनकर जी आध्यात्म को व्यर्थ मानते हैं। उनकी दृष्टि में समाज की सामान्य परम्पराओं के समाधान में इसका कोई महत्त्व नहीं। उसे आत्मिक समानता पर विश्वास है। वह सबमें एकही तत्व को अन्तर्निहित पाता है। असमानता के विचार पर वह व्यग्र हो उठता है। वह विचार करता है कि आत्मा के एक होने पर मनुष्य मात्र में यह भेद क्यों? उसके विचार से लड़कर स्वत्वधिकारों को पा लेना श्रेष्ठ है। अन्याय और अत्याचार को सहने से शान्ति नही मिल सकती। मौन होकर इन्हें सहने से अच्छा है इनका विरोध करना। ऐसी शान्ति का कोई महत्व नहीं जिससे मनुष्य अच्छी तरह जीवित भी न रह सके। सच्ची शान्ति तो मनुष्य मात्र के समान होने पर ही स्थिर रह सकती है। वर्तमान कालिक आशांति का कारण व्यक्तिगत स्वार्थपरता हैं कारण इस युग का मानव आत्म–स्वार्थ को ही विशेष महत्व देता है, जिससे उसमें घृणा और द्वेष की भावना जाग्रत हो गई हैं। यदि मानव से प्रेम करने लग जाय तो इसमें संदेह नहीं कि विश्व में युद्ध का प्रश्न ही न उठे और वह हमेशा–हमेशा के लिए समाप्त हो जाय। आज मानव व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों का अनुचित प्रयोग करने लगा है जिससे समाज को उसके विरूद्ध हिंसा और बल का प्रयोग करना पड़ता है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अर्थ को उसने अच्छी तरह से समझा नहीं। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का अर्थ वह केवल अपना और अपने

---

1. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ– 132

परिवार का भरण–पोषण करना ही समझता हैं कवि के विचार से समाजवाद का उद्देश्य तभी पूरा होगा जब प्रत्येक मानव एक –दूसरे की सुख–सुविधा का ध्यान करने लगेगा, समष्टि–हित–साधना में लीन रहने लगेगा। मानव को स्वयं को एक व्यक्ति–विशेष मात्र ही नहीं बल्कि एक सामान्य मानव समझना चाहिए। ऐसा होने से वह न केवल स्वार्थ की भावना से मुक्त हो सकता है बल्कि मानवता या मनुष्यता के लक्ष्य को ही अपने जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य मानने लगता है–

"तन समष्टि को व्यष्टि चली थी

जिन को सुखी बनाने,

× × ×

नर से नर का सहज प्रेम

उठ जाता नहीं भुवन से

× × ×

रहता याद उसे यदि, वह कुछ

और नहीं है नर है,

× × ×

तो न मानता कभी मनुज

निज सुख गौरव खोने में

× × ×

दे न सका नर को नर जो

सुख–भाग प्रीति से, नय से,

आज दे रहा वही भाग वह

राज–खड्ग के भय से।''[1]

पूंजीवाद के विरोध में दिनकर जी ने सम–समाज की स्थापना करते हुए स्पष्ट किया है कि कवि को आत्मा और परमात्मा की सत्ता स्वीकार करने से कोई विरोध नहीं है। वह इन्हीं के आधार पर सम–समाज की स्थापना करने के इच्छुक है। आत्मा–परमात्मा की सत्ता और सम–समाज की स्थापना– ये दोनों बातें समाज को विभक्त करने वाली नहीं है बल्कि ये तो समाज को एकता के सूत्र में आबद्ध करने वाली हैं। उस परमात्मा का जिसका क्षेत्र अपने आप तक सीमित है, जो मात्र आत्मसुखोपलब्धि की चिंता में लीन व्यस्त रहती है, दूसरों की प्रसन्नता एवं उल्लास का ध्यान नहीं रखती। दिनकर जी सन्यास और कर्ममार्ग के इसी अन्तर को व्यक्ति और समष्टि के पारस्परिक अन्तर के माध्यम से समझाने की चेष्टा करते है–

''एक वंश है, छोड़ जगत को

अपने में रम जाओ,

खोजो अपनी मुक्ति और

निज को ही सुखी बनाओ।

अपर पंथ है, औरों को भी

निज विवेक–बल दे कर

पहुँचो स्वर्ग–लोक में बन से

---

1. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 141–142.

साथ बहुत को लेकर।

× × ×

निज को ही देखो न युधिष्ठिर।

देखो निखिल भुवन को

स्वयं शान्ति–सुख की ईसां में

निरत, व्यग्र जन–जन को।''[1]

दिनकर जी पूंजीवाद के विरोध में समाजवाद की स्थापना करने के अन्तर्गत बह बातें तो समाजवाद की करता है परन्तु उसका प्रभाव अध यात्मवादी जैसा ही पड़ता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति को पलायनवादी मानने वाली धारणा को वह अस्वीकार करता है। उसके अनुसार संसार के कर्मवाद से पलायन की भावना ही भ्रामक है। वह उसी का महत्व स्थापित करता है। दिनकर जी ने छुआछूत का विरोधी स्वर के अन्तर्गत अपनी कलाकृति 'रेणुका' में संकलित 'बोधिसत्व' कविता में लिखा है–

''समाज के तथा कथित उच्च अथवा श्रेष्ठवर्ग के जन–धर्म के नाम पर निम्नवर्गीय जनों को प्रभु की पूजा से भी वंचित रखना चाहते हैं। गरीबों का रक्त चूसकर धन–कुबेर बने जन हीन जातियों के अधिकारों को छीनने पर लगे हुए हैं। उन्हें मन्दिरों में बन्द भगवान के दर्शनार्थ भी तरसाया जाता है।''[2] निम्न कविता में समाज में अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों का प्रतिनिधित्व करते हुए कवि ने बोधिसत्व (गौतम बुद्ध) से पुनः भारत में अवतार ग्रहण कर उनके उद्धार का आग्रह किया है–

1. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 148–149.
2. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ–18

"आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नही,

देव! बना था दुखियों के लिए संसार नहीं?

धन–पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई,

दौड़ो बोधिसत्व! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।"[1]

साथ ही, वस्तु–स्थिति की वास्तविकता से उन्हें अवगत कराने का प्रयत्न किया है–

"धूप–दीप, आरती, कुसुम ले भक्त प्रेम–वश आते हैं,

मंदिर का पट बन्द देख 'जय' वह निराश फिर जाते है।"[2]

यदा कदा धन पर आघृत, धर्म की विषम व्यवस्थाओं पर कवि ने व्यंग्यपूर्ण आघात भी किया है। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ है कि आज भगवान प्रेम के भूखे नहीं, धन के भूखे हो गये हैं यही कारण है कि प्रेम के वशीभूत मन्दिर के द्वार पर आये भक्तों की ओर आज वे भगवान ध्यान नहीं देते। भगवान राम के हृदय में आज गरीबों के प्रति प्रेम नहीं रह गया है। वे भी धन पर लुब्ध होने लगे हैं। कवि को दुःख होता है–

"शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं,

मेवा छोड़ शाक खाने की याद नाथ का नेम नहीं।

पर गुलाब–जल में गरीब के अश्रु राम क्या पायेंगे,

बिना नहाये इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे।

मनुज–मेघ के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए,

कैसे बचें दीन? प्रभु भी धनियों के गृह में बन्द हुए।"[3]

---

1. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ 18
2. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ –18
3. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ–18

इस प्रकार दिनकर जी ने पूंजीवाद के अन्तर्गत भगवान को पूंजीपतियों के घरों में बंद दिखाया। दिनकर जी ने दलितों के सामाजिक शोषण का एक मात्र कारण पूंजीवाद को समझ कर उसका विरोध प्रदर्शित किया है।

द्वन्द्व समग्र स्वरूप–

माानव का अहं जीवन में सुखोपलब्धि हेतु सतत् क्रियाशील, प्रयत्नवान रहता है लेकिन उसके अन्तर्जगत् का वस्तु के वाह्य रूप अथवा जगत् से प्रायः पूरा–पूरा तालमेल नहीं बैठ पाता अतः वह स्वयम् को अहं जगत् के अनहं से घिरा पाता है। ऐसी स्थिति में सुखात्मक अनुभूति की प्राप्ति हेतु वाह्य जगत को अपने अनुकूल बनाने के लिए संघर्ष करना उसके लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता हैं वस्तुतः इसी कारणवशात वाह्यजगत् उसे सुखात्मक प्रतीत होता है। व्यक्ति का अहं पहले तो निश्चेष्ट, संज्ञाहीन, अकर्मण्य, सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है किन्तु वाह्य जगत द्वारा उत्तेजित किये जाने पर वह कर्मण्य, सचेष्ट, सचेत हो उठता है, उसमें क्रियाशीलता आ जाती है। व्यक्ति के मानस–जीवन को परिचालित और अनुशासित करने वाली संघर्षशील शक्तियाँ अहं और अनहं का द्वन्द्व, सुख और दुख का द्वन्द्व, सक्रियता और निष्क्रियता का द्वन्द्व है। अहं और अनहं का द्वन्द्व के अन्तर्गत अन्तर्जगत और वाह्य जगत् आता है। सुख और दुख का द्वन्द्व के अन्तर्गत प्रेम–घृणा, जन्म–मरण आदि की भावनाओं का द्वन्द्व समाहित है। मानव के अन्तः प्रवेश में प्रतिष्ठित अहं की सन्तुष्टि चूंकि पूर्णतया नहीं हो पाती अतः उसकी प्रवृत्ति उसके कारणों की छानबीन की होती है। परिणामतः उसका मानस अन्तर्द्वन्द्व का पालना हो जाता है। उसकी बोलचाल चित्रवृत्ति उसे चैन की सांस नहीं लेने देती। कभी तो वह अपनी इन असफलताओं का कारण

बाह्य जगत में प्राप्त कर क्षुब्ध हो उठता है, तो कभी अपने ही अन्दर देखकर हतप्रभ।

अतिशय सुखोपभोग की ऐषणा से जीवित व्यक्ति की अपने जीवन से अत्यधिक ममता होती है। व्यवसाय में अधिक से अधिक लाभ मिले– इस तरह का भाव–विचार रखने वाला व्यक्ति हानि की आशंका मात्र से भयभीत हो जाता हैं अतः जीवन–भावना का ही दूसरा रूप अथवा प्रकार मरण भावना है। जन्म–मरण, प्रेम–घृणा, एक ही बीज के दो अंकुर है– ऐसा कहा जा सकता है। जब तक किसी व्यक्ति के अहं को सांसारिक वस्तुओं से सुख–संतोषानुभव होता है तब तक उसके प्रति उसका प्यार प्रगाढ़ बना रहता है लेकिन इस अनुभव की प्रक्रिया अथवा क्रम में विघ्न–बाधा के उपस्थित होते ही वह सबसे घृणा करने लग जाता है। इस तरह घृणा भी एक तरह से प्रेम का विकृत रूप है। व्यक्ति की वस्तुओं के प्रति वह घृणा–भावना उत्कट सात्विक प्रेम–भावना के रूप में परिणत हो सकती है। इसी तरह कभी–कभी मृत्यु–भय से व्यक्ति में काम जन्य सुखोपलब्धि के प्रति आकर्षण भाव जाग्रत होता है। युद्ध के समय सैनिकों में प्रेम ज्वार इसी प्रकार होता है। दिनकर जी की कृतियों में व्यक्त द्वन्द्व के मुख्य तीन रूप हैं–

क) राग और विराग का द्वन्द्व।

ख) कर्म और पलायन का द्वन्द्व।

ग) आस्था और अनास्था का द्वन्द्व।

क) राग और विराग का द्वन्द्व

दिनकर जी के काव्यों में व्यक्त द्वन्द्व उनके अपने ही जीवन पर हुए

आघातों, प्रहारों तथा उनसे प्राप्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। वस्तुतः रूप और राग के आकर्षण–विकर्षण में आकर्षण ही विजयी दिखाई देता है। वास्तव में राग और विराग के इस आकर्षण–विकर्षण, अभाव और निषेध के कारण ही दिनकर का झुकाव 'रसबन्ती' की ओर गया है। श्रृंगार की मादकता, कामिनी का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचते हैं, पर संस्कार में ठूँस–ठूँस कर भरा हुआ संसार की अनित्यता और नश्वरता का विश्वास उन्हें पुनः पीछे की ओर ले जाता है। दिनकर सोचते हैं कि अधरों की सुधा आँखों का मद और यौवन में मधुकणों की परिणति नाश है। चाँदनी अमावस्या में और बसन्त पतझड़ में बदल जाता है। सुन्दरता काल का ग्रास बनती है इसलिए दिनकर के मन में बार–बार जीवन की क्षणभंगुरता के विचार आते हैं–

"दुःख है इस आनन्द–कुन्ज में,

मैं ही केवल अमर नहीं।

× × ×

केवल मैं न रहूँगा, यह

मधु धार उमड़ती जायेगी।"[1]

दिनकर इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक भावों की अभिव्यक्ति समय–समय पर भिन्न–भिन्न मन स्थितियों के बीच करता गया है। कभी उसकी दृष्टि अनुपमेय सौन्दर्य पर पड़ती है तो कभी विवाद भरे बन्धन युक्त करुण दृश्यों पर, कभी वह उल्लास के पीछे पड़ी विवाद की छाया देखता है तो कभी यौवन के गुलाबी गालों में छिपी वाधक्यि की झुर्रियाँ। उसे समझते देर नहीं लगती

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–17

है– इस संसार–सिन्धु में आनन्द का ज्वार तो विवाद का भाटा भी। जीवन के इन्हीं दो विभिन्न पृष्ठधारों पर अंकित है–

"मैं रोता था हाय, विश्व

हिमकरण की करुण कहानी है।

सुन्दरता जलती मरघट में।

मिटती यहाँ जवानी है।

पर, बोला कोई कि जरा

मोती की ओर निहारों तो।

दो दिन ही हो सही, किन्तु,

देखो कैसा यह पानी है।"[1]

परन्तु दिनकर द्वारा व्यक्त नश्वरता के ये भाव तथा इनसे उत्पन्न उदासीनता पहले की तरह एक कुण्ठित किशोर का दिवास्वप्न मात्र नहीं है। जीवन के स्वस्थमार्ग की ओर बढ़ते युवक को परिस्थितियों की झंझा और जीवन के कटु अनुभवों के जो थपेड़े लगते हैं वे ही कुछ समय के लिए उसके ह्रदय में नैराश्य भाव भर देते हैं, परन्तु जल्दी वे सम्हल कर प्रकृत हो जाते हैं। जीवन क्षणिक ही सही पर कितना सुन्दर है–

"यह फूलों का देश मनोरम

कितना सुन्दर है रानी।"[2]

जिस सौन्दर्य की नश्वरता पहले उसे जीवन में पलायन की प्रेरणा

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–15
2. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–19

देती थी वही अब जीवन की श्रान्ति और क्लान्ति मिटाने का एक साधन बन जाती है–

"रति–अनंग–शासित धरती यह,

ठहर पथिक, मधु रस पी ले।

× × ×

चरण थके होंगे, तेरे पथ

बड़े अगम, ऊँचे टीले।

× × ×

उर–उर में बंकिम धनु, दृग–दृग

में फूलों के कुंठित विशिख;

यह पीड़ा मधुमयी, मनुज

बिंधता आ अपने–आप यहाँ

× × ×

कर्म भूमि के थके श्रमिक को

इस निकुंज की मधुबाला

एक घूँट में श्रान्ति मिटाकर

बेसुध, मत्त बनाती है।"[1]

'रसवन्ती' की ओर प्रेरित करने वाली इसरागमयी दृष्टिं के साथ–साथ दिनकर के ह्रदय में मृत्यु से भय–त्रस्त, नाश से सहमें–सकुचे की घबराहट भी

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ 28–29

है, जिससे दिनकर को सौन्दर्य में कुरूपता और वीभत्सता दृष्टिगोचर होती है। चिता की आग का भय दिनकर को मधुबाला के अधर रसपान के सुख से वंचित, विमुख कर देता है। इन विश्व रूपी निकुंज की मधुबाला नारी है पर उसका यौवन कितना क्षणिक है? इस तह में कितनी भीषणता और सतह पर कितनी मोहकता है? यह द्वन्द्व भी विस्मयकारी है। निम्न पंक्तियों में वर्णिगत सौन्दर्य की वीभत्सता संत कवियों द्वारा वर्णित नारी–अवयवों के जुगुप्सा जागृत करने वाले वर्णन के निकट पड़ती है–

"दो कोटर को छिपा रही,

मदमाती आँखें लाल सखी!

अस्थि–तन्तु पर ही तो हैं

ये खिले कुसुम से गाल सखी।

और कुचों के कमल! भरेंगे

ये तो जीवन से पहले,

कुछ थोड़ा–सा मांस प्राण का

छिपा रहा कंकाल सखी।"[1]

दिनकर की 'रेणुका' में संकलित 'परदेशी' कविता– 'माया के मोहक बन की क्या कहूँ कहानी परदेशी'– में इसी आशय के भाव व्यक्त हैं। वहाँ भी विविध भावों का विलास गोचर होता है। दिनकर ने एक ओर जहाँ जीवन की लता को अधर–सुधा से सींचने का उपदेश दिया है और कहा कि जीवन की मादकता से मृत्यु भी मधुर बन जायेगी वहीं यह भी कहा है कि इस विश्व की

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–32

सुषमा है किन्तु मानव इस उमड़ती मधुधारा का मधु पीने के लिये सदा बना नही रहता।[1] रूप और सौन्दर्य के प्रति गहरे आकर्षण के मन में हर घड़ी, सदैव नश्वरता और मृत्यु के भय से अवरोध खड़ा रहता है। कभी उनका मन यह सोचकर संशयग्रस्त हो जाता है कि सौन्दर्य के ग्रहण से कैसे बचाया जायगा? प्रलय के थपेड़ों से कोमल स्निग्धता की रक्षा कैसे की जा सकेगी?

जीवन में कवि ने माधुर्य और कारूण्य दोनों का ही दर्शन किया है। वह जीवन का रस लेना भी चाहता है कारण वह जानता–मानता है– यहाँ एक–एक पल की मधुरता का महत्व हैं। 'द्वन्द्वगीत' में एक स्थल पर दिनकर ने अपनी कविता को 'दाह की कोयल' कहा है। जब विश्व–विपिन के दग्ध तरू पर वह दृष्टि डालता हैं, वह स्वयं को 'दाह की कोयल' अनुभव करता हैं–

"बोल दाह की कोयल मेरी,

बोल दहकती डारों पर,

अर्द्ध–दग्ध तरू की फुनगी पर

निर्जल–सरित–कगारों पर।"

'द्वन्द्वगीत' में अनेक स्थल ऐसे भी आये हैं जहाँ कवि द्वन्द्व को बिलकुल भूल–बिसार रसलिप्त हो गया है, जीवन के मधुर–मादक आकर्षण में पाप और पुण्य का भेद–भाव नारी के रूप–रंग में बिल्कुल रम गया है। निम्न पंक्तियों में कवि ने कामनाओं की उन उष्ण अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है जिनके पागलपन में व्यक्ति पाप–पुण्य, मर्यादा–अमर्यादा, लोक–परलोक का भय भूल जाता है–

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–17–45

"जिस दिन विजन, गहन कानन में

ध्वनित मधुर मंजीर हुई,

चौंक उठे ये प्राण, शिराएँ

उर की विकल अधीर हुई

तूनेबन्दी किया ह्रदय में,

देवि, मुझे तो स्वर्ग मिला,

आलिंगन में बंधा और

ढीली जग की जंजीर हुई।"[1]

"रेशम के तारों से चिकने बाल,

ह्रदय की क्या जानूँ?

आँखें मुग्ध देखती, रहती

पाप–पुण्य का ध्यान नहीं।"[2]

राग–विराग, आकर्षण–विकर्षण के इस द्वन्द्व में राग की विजय हुई है और उसने कवि में इतना साहस–बल भर दिया है वह बड़े यत्न से छिपाए हुये अपने उन प्रणय गीतों, जिन्हें उसने उडु से द्युति, लहर से गति और मलय से सौरभ लेकर, संवाँरा था, धरती पर उतार सकने में सफल समर्थ हुआ है। जीवन के प्रति परिवर्तित कवि की दृष्टि ने आगे चलकर उसे 'उर्वशी' लिखने की शक्ति और प्रेरणा दी है।

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–22
2. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–20

ख) कर्म और पलायन का द्वन्द्व

द्वन्द्वगीत में पलायनवादी स्वर की तुलना में कर्मवाद का स्वर इतना प्रबल नहीं है जितना विराग की तुलना में राग था। संसार की नश्वरता, विफलता, कटुता और विषमता के निराशावादी स्वर आशावादी कर्मवाद के स्वर से कहीं अधिक मुखर और प्रखर है। 'द्वन्द्वगीत' का प्रारम्भ ही अवतार के स्वरों से होता हैं दिनकर को तारों में जलन, मेघ में आंसुओं का पारावार, संध्या मे विषाद और उषा में प्रणय की विफलता दृष्टिगोचर होती है और उसी के साथ वह अपने हृदय का हाहाकार भी जोड़ देता है।

जन्म और मृत्यु के दो रहस्यमय छोरों के बीच स्थित जीवन के प्रति दिनकर के मन में उत्साह नहीं, एक विवशता है। जीवन की डगर, जिस पर मानव पथिक को चलना है, लम्बी है, इसके मोड़ अपरिचित में और गन्तव्य स्थल (मंजिल) अज्ञात। फिर भी उसे चलना है–

"जब तक शेष पन्थ, तब तक

विश्राम नहीं, उद्धार नहीं।"

मंजिल थी मालूम न मुझको

और पन्थ का ज्ञान नहीं।

जाना था निश्चय, इससे

चुपचाप पड़ा मुझको जाना।"[1]

कर्म मार्ग पर चलते–चलते मनुष्य बिना किसी लक्ष्य–सिद्धि के जीवन के दूसरे छोर पर आ जाता है। निम्नोद्ध्रत पंक्तियों में कर्म चक्र में फँसे

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–11

उकताए और थके हुए व्यक्ति के शैशिल्य की ध्वनि मिलती है–

"जब सांझ हुई, किरणें समेट

दिनमान छोड़ संसार चला,

वह ज्योति तैरती ही जाती,

मैं, डाँड चलाता हार चला।

दो डाँड़ और दो डाँड़ लगा,

दो डाँड़ लगावा मैं आया,

दौ डाँड़ लगी क्या नहीं, हाय,

जग की सीमा कर पार चला।"[1]

स्वयं उच्च शिखर पर चढ़ जाने से क्या यदि दूसरों को भी वहाँ तक पहुँचा न सके। जीवन में स्वयम् अकेले बढ़ने का महत्त्व कुछ भी नहीं। उसे तो सबको उठाने की चेष्टा करनी चाहिए। सही अर्थों में कर्म-वीरता इसी को कहते हैं और यही उसकी सफलता का द्योतक भी है–

"पत्थर ही पिघला न, कहीं

करूणा की रही कहानी क्या?

टुकड़े दिल के हुए नहीं,

तब बहा द्रगों से पानी क्या?"[2]

× × ×

" आसुरी विफल, यदि कूक–कूक

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–54
2 द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–37

मर घट में जीवन ला न सकी

×　　×　　×

जो मौत देख ललचा न सकी

दुनियाँ में आग लगा न सकी।"[1]

थकावट, श्रम, पराजय और पलायन का उत्तर दिनकर जी ने कल्पना और यथार्थ के सामंजस्य, अहं के विस्तार और जीवन के उत्साह द्वारा दिया है। उसकी दृष्टि में स्वप्नों का अस्तित्व शून्य में होता हैं, पथ पर पैर टिका कर ही आकाश छूने की कल्पना की जा सकती है–

"जिनको न तटी से प्यार उन्हें

अम्बर में कब आधार मिला?

यह कठिन साधना–भूमि बन्धु,

मिट्टी को किये प्रणाम चलो।"[2]

सुख–दुख, मधु–कटु, शौर्य–त्याग की मिली–जुली अनुभूतियाँ ही मानव जीवन को मादक और आकर्षक बनाती है। सच्चे सुख की अनुभूति मानव अपने जीवन के भावात्मक–अभावात्मक तत्वों के संघर्ष से ही प्राप्त कर सकता है। जीवन के उत्साह की ओर संकेत करते हुए कवि दिनकर लिखता है–

"पीले विष का भी घूँट बहक,

तब मजा सुरा पीने का है,

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–56
2. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–56

तनकर बिजली का वार सहे,

यह गर्व नये सीने का है।

सिर की कीमत का नाम हुआ,

तब त्याग कहाँ? बलिदान कहाँ?

गरदन इज्जत पर दिये फिरो,

तब मजा यहाँ जीने का है।"[1]

द्वन्द्व के अन्तर्गत दिनकर का कर्मवाद परिपक्व और प्रौढ़ नहीं हो सका है। यहाँ पलायन से कर्म की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया विचारमूलक ही अधिक है।

ग) आस्था और अनास्था का द्वन्द्व–

आस्था और अनास्था की बात मुख्य रूप से दो सन्दर्भो में हुई हैं 1. जीवन गत आस्था–अनास्था तथा 2. ईश्वरगत आस्था–अनास्था।

दिनकर का अज्ञात (ईश्वर) के प्रति जिज्ञासा भाव अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है। संसार का नियन्ता और सूत्रधार कौन है? यह प्रश्न साधारण से साधारण मनुष्य के हृदय में सृष्टि के प्रारम्भ से ही उठ रहा है। कवि दिनकर का हृदय व्यक्ति की विवशता का अनुभव कर असीम का रहस्य जानने के लिए आकुल–व्याकुल हो उठा है–

"देखें तुझे किधर से आकर?

नहीं पन्थ का ज्ञान हमें।

बजती कहीं बाँसुरी तेरी,

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–11

बस, इतना ही भाव हमें।

शिखरों से ऊपर उठने

देती न हाय, लघुता अपनी,

मिट्टी पर झुकने देता है

देव नहीं अभिमान हमें।"[1]

आध्यात्म सत्ता के प्रति दिनकर की यह जिज्ञासा सन्धान की ओर अग्रसर होती है, असीम की खोज में असफल–असमर्थ उसकी सीमा–बद्ध सत्ता जिज्ञासावश पूछ बैठती है–

"सुरभि–सुमन के बीच देव

कैसे भाता व्यवधान तुम्हें?"[2]

उनकी इस जिज्ञासा में एक प्रच्छन्न आस्था का भाव है, अलौकिक और नैसर्गिक के प्रति विस्मय–भाव है और यह विस्मय आस्था पर ही टिका हुआ है परन्तु आगे चलकर इस अवयक्त विराट सत्ता के प्रति कवि के मन में उपालम्भ और आक्रोश के भाव ही अधिक जमते हैं। सृष्टि निर्माण के दार्शनिक विस्वासों के प्रति उसमें एक अनास्था है, संसार के उद्देश्यहीन अस्तित्व के प्रति खीझ। संस्कार से वह आस्तिक है अवश्य, पर वह अपने तर्कों का उत्तर दर्शन से माँगता है–

"था अनस्तित्व सकता समेट

निज में क्या यह विस्तार नहीं?

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–9
2. द्वन्द्वगीत–पृष्ठ–11

भाया न किसे चिर–शून्य, बना

जिस दिन वह संसार नहीं?

तू राग मोह से दूर रहा,

फिर किसने यह उत्पात किया?

हम थे जिसमें, उस ज्योति या कि

तम से था किसको प्यार नहीं।''[1]

यह द्वन्द्व कवि के निजी संस्कार और तर्क–बुद्धि कां है। संसार का दुख दहन और हाहाकार, ईश्वर के प्रति उसके विश्वास को भी, हिलाता–जान पड़ता है। उसकी दृष्टि में धरती का भोग केवल दुःख और पीड़ा है मानव जीवन की इसी अनिवार्य व्यथा के कारण वह संसार के मायाजाला की निरर्थकता, निस्सारता की घोषणा करते हुए भगवान को एक खुली चुनौती देता हुआ पाया जाता है–

''तिल तिल कर हम जल चुके,

विरह की तीव्र आँच कुछ मंद करो,

सहने की अब सामर्थ्य नहीं,

लीला–प्रसार यह बंद करो।

चित्रित भ्रम–जाल समेट धरो,

हम खेल खेलते हार चुके,

निर्वासित करो प्रदीप, शून्य में

एक तुम्हीं आनन्द करो।''[2]

---

71. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–60
2. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–66

कवि का अनास्था की ओर झुकाव, कर्म–क्षेत्र में डगमगाता हुआ यही व्यक्तित्व 'कुरूक्षेत्र' में युधिष्ठिर की समस्याएँ बन कर प्रकट हुआ है। तात्पर्य यह है कि जीवन–जगत, आत्मा–परमात्मा, प्रकृति दर्शन सबके प्रति कवि की मर्म भरी उक्तियों उसकी कृतियों में यत्र–तत्र बिखरी मिलती हैं।

(२व) दिनकर के काव्य का संक्षिप्त परिचय

दिनकर का जीवन किसी धारा विशेष से बँधकर नही रह सका, वह समयानुरुप चलता चला गया। संघर्ष के समय गर्जन, व शान्ति के समय रस की अजस्र धार–यही दिनकर के साहित्य के मूल बिन्दु हैं।

दिनकर पर अपनी आयु का भी प्रभाव बिना पड़े नही रह सका। जीवन के अन्तिम दिनों में 'उर्वशी' और 'परशुराम' सभी त्याग कर ईश्वर की आराधना में दिनकर लीन हो गये। इसके परिणाम स्वरुप उनका काव्य–संग्रह 'हारे को हरि नाम' पाठकों को सम्मुख आया। दिनकर ने काव्य–रुपों में प्रबन्ध व मुक्तक दोनों पर ही समान रुप से लेखनी चलाई है। उनके प्रबन्ध का मूल मुक्तक में ही रुप धारण कर लेता है, यथा– 'कुरूक्षेत्र' के बीज की हुँकार में व 'उर्वशी' के बीज की 'रसवन्ती' में स्पष्ट निदर्शना होती है। दिनकर–साहित्य में काव्य के दोनों रुपों–प्रबन्ध व मुक्तक की भाँति दिनकर की लेखनी काव्य के दोनो विधाओं पर समगति से चली हैं। गद्य व पद्य पर दृष्टिपात करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि दिनकर का गद्य, पद्य का पूरक हैं। और पद्य, गद्य का पूरक। दिनकर के मुक्तक–संग्रहों की मात्रा अधिक है। वे काल से बंधे हुए प्रतीत होते है। दिनकर की कृतियों के विषय में प्राप्त जितनी भी सूचियाँ हैं कोई भी पूर्ण व निर्दोष नहीं है, फिर काव्य क्रम की दृष्टि से हम दिनकर की रचनाओं को निम्न रुप में रख सकते हैं–

काव्य ग्रन्थ

1. प्रण–भंग	खण्ड काव्य	प्रथम संस्करण	1929 ई.
2. रेणुका	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1935 ई.
3. हुंकार	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1939 ई.
4. रसवन्ती	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1939 ई.
5. द्वन्द्व गीत	रूबाइयॉं	प्रथम संस्करण	1940 ई.
6. कुरूक्षेत्र	प्रबन्ध–काव्य	प्रथम संस्करण	1946 ई.
7. सामधेनी	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1947 ई.
8. बापू	गांधी–काव्य	प्रथम संस्करण	1947 ई.
9. इतिहास के आँसू	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1951 ई.
10. धूप और धुआँ(अप्राप्य)	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1951 ई.
11. मिर्च का मजा	बाल काव्य	प्रथम संस्करण	1951 ई.
12. रश्मिरथी	प्रबन्ध काव्य	प्रथम संस्करण	1952 ई.
13. दिल्ली	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1954 ई.
14. नीम के पत्ते	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1954 ई.
15. नील–कुसुम	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1954 ई.
16. सूरज का ब्याह	बाल–काव्य	प्रथम संस्करण	1955 ई.
17. चक्रवाल	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1956 ई.
18. कविश्री	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1957 ई.
19. सीपी और शंख	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1957 ई.
20. नए सुभाषित	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1957 ई.
21. उर्वशी	प्रबन्ध काव्य	प्रथम संस्करण	1961 ई.

22 परशुराम की प्रतीक्षा	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1963 ई.
23. कोयला और कवित्व	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1964 ई.
24. मृत्ति तिलक	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1964 ई.
25. आत्मा की आँखें	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1964 ई.
26. दिनकर की सूक्तियाँ	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1965 ई.
27. हारे को हरिनाम	काव्य–संग्रह	प्रथम संस्करण	1970 ई.
28. दिनकर के गीत	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1973 ई.
29. रश्मिलोक	काव्य संग्रह	प्रथम संस्करण	1974 ई.

रेणुका

'रेणुका' दिनकर का सबसे पहला मुक्तक काव्य संकलन है। जिसका प्रकाशन सन् 1935 में हुआ था। अतः यह कवि की काव्य उड़ान का प्रारूप है।[1] इस समय दिनकर जी की आयु 27 वर्ष की थी। स्वास्थ्य इनका अच्छा था। इनका विवाह अल्पायु में ही कर दिया गया था। इससे ये खिन्न थे। 'रेणुका' काव्य उड़ान का प्रथम प्रारूप होने के फलस्वरूप इसके मर्म में वह बीज हैं जिसने कालान्तर में दिनकर के रूप में एक विशाल वट का रूप धारण किया, जिसके अंतः से विभिन्न रस और भावों का प्रवाह संभव हुआ। 'रेणुका' दिनकर की प्रारम्भिक कृति है, उसकी मिट्‌टी में कहीं 'हुंकार' की जड़े जमी हैं, कहीं 'रसबन्ती', कहीं 'द्वन्द्वगीत' कहीं 'सामधेनी' और कहीं 'कुरुक्षेत्र' की।[2] लेकिन उसके मूल में मुख्य रूप से नारी का लावण्य और सौन्दर्य ही प्रधान है। उनकी सामाजिक चेतना तथा राष्ट्र चेतना की कविताएँ

1. राष्ट्र कवि दिनकर– डॉ0 गोपाल राय, पृष्ठ–85
2. दिनकर और उनकी काव्य–कृतियाँ– आचार्य कपिल, पृष्ठ 41

नारी के रूप से ही प्रभावित है तथा सौन्दर्य–प्रधान है। उसमें निहित लगभग प्रत्येक कविता के बिम्ब नारी के बिम्ब हैं, जोकि श्रृंगार रस ही प्रवाहित करते हैं। बिम्ब अपने आप में इतने शक्तिशाली हैं कि वे अधिकांशतः मन के मूल भावों को ही उद्घाटित कर देते हैं।

दिनकर की प्रथम पुस्तक 'वारदोली सत्यागृह' थी जो राष्ट्रीयता की भावना से ओत–प्रोत थी। इसके पश्चात उनका एक खण्ड–काव्य 'प्रणभंग' आया जिसका कथानक महाभारत से लिया गया था। परन्तु कवि की भावुकता और अतीत के प्रति मोह लक्षित है, वह खण्ड–काव्य 'रेणुका' है। यह कवि की काव्य–धारा का मूल बीज है। इसके बिम्ब विधानों द्वारा कवि के रसात्मक व्यक्तित्व का ही पिष्टपेषण होता है। उदाहरण के लिये "हिमालय" में 'रेआन पड़ा संकट कराल, व्याकुल तेरे सुत तड़फ रहे" व "पैरों पर है पड़ी हुई, मिथिला भिखारिणी सुकुमारी"[1] आदि उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि को निश्चित ही पाटलिपुत्र के भिखारी से मिथिला की भिखारिणी ही अधिक पसन्द है। अतीत के प्रतिप्रेम और उसके गौरव ने ही कवि से 'मिथिला' और 'पाटलिपुत्र की गंगा' की रचना लिखवाई। अतीत के इन खण्डहरों में भी दिनकर को रमणी और सजनी ही दिखाई पड़ती है, जिन्हें वे कभी भी अतीत की एकान्त रंगभूमि में ले जाने को आतुर हैं–

अ) **"बिखरी लट, आँसू छलक रहे,**
मैं फिरती हूँ मारी–मारी,
कण–कण में खोज रही अपनी,
खोई अनन्त निधियाँ सारी।"[2]

---

1. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ 6
2. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ 6

ब) "मानस के इस मौन मुकुल में,

सजनि! कौन सी व्यथा अपार,

बनकर गंध अनिल में मिल,

जाने को खोज रही लघु–द्वार।"[1]

स) "चल अतीत की रंग भूमि में,

स्मृति–पंखों पर चढ़ अनजान।"[2]

अतः यह स्पष्ट है कि दिनकर के युवक मस्तिष्क में किसी युवती का बिम्ब है, जो उनके भावों में आकर पुनः प्रतिबिम्ब के रूप में उनकी सांस्कृतिक कविताओं में उतरता है, जिसे दिनकर साथ ले, अतीत के मलयानिल का रसास्वादन कराना चाहते हैं।

रसबन्ती

'रसबन्ती' का प्रथम संस्करण 1939 में हुआ था, जिसकी रससिक्त रचनायें हृदय–कली को मुकुलित करने वाली है। दिनकर का हृदय देश–काल की परिस्थितियों से कचोटा हुआ था, लेकिन उसके केन्द्र में कोमल भाव भी थे जिन, पर बाह्य उत्ताप का प्रभाव नहीं था। 'रेणुका' बाह्य और आभ्यंतर का समन्वित रूप थी तथा 'हुंकार' प्रतप्त लहरों का ज्वार, जबकि 'रसबन्ती' में कवि के हृदय की सरस धार देश–काल के व्यवधान को तोड़कर फूटपड़ी। यथार्थ में 'रसबन्ती' दिनकर के हृदय की वह स्निग्ध प्रेम–रसधार है, जिसकी दिनकर ने बाह्य–लपटों से रक्षा की तथा जो प्रयत्न स्वरूप ही 'हुंकार' की 'हूं–हूं' से किसी प्रकार बच निकली तथा जिसके प्रवाह ने दिनकर के एक

1. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ 23
2. रेणुका– दिनकर, पृष्ठ 24

विचित्र किन्तु कोमल व्यक्तित्व का निक्षेप प्रस्तुत किया जो उस समय के दिनकर से सामान्यतः अपेक्षित–सा नहीं प्रतीत होता था। इसी सन्दर्भ में दिनकर ने 'रसबन्ती' की भूमिका में लिखा है– 'रेणुका' और 'हुंकार' के विपरीत 'रसबन्ती' की रचना निरूद्देश्य प्रसन्नता से हुई है, और इसमें किसी निश्चित सन्देश का अभाव–सा है। इन गीतों में मैं अपने आपसे छूट–सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरा के पीछे भटकता फिरा हूँ, जिसे कल्पना कहते हैं।[1]

वास्तव में 'रसबन्ती' की कविताओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इससे पूर्व अपने ह्रदय में श्रृंगारिक भावों का दमन किये बैठा था, जो फूटना चाहते थे व समयानुरूप इन गीतों में प्रस्फुटित हो गए। दिनकर इस संकलन के प्रथम गीत 'शिशु गीत' में ही लिखते हैं–

''जिन भावों को अपने ह्रदय में बड़े यत्न से छिपाया हुआ था और जो किसी प्रकार बाह्य के प्रलयंकारी रूप से बच गए हैं, वे ही हमारे लघुगीत हैं।

''बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया, ये वे मुकुल हमारे,

जो अब तक बच रहे किसी विधि ध्वंसक इष्ट–प्रलय से,।[2]

उनका ह्रदय सरस था, लेकिन सामाजिक पर्यावरण संघर्ष मय था, जहाँ उनकी हुँकारें प्रति ध्वनित थी, लेकिन अवसान मिला, व्यंवधान समाप्त। उनके ह्रदय से प्रणयधार बह निकली–शैलों कारस, सरसधार 'रसबन्ती'।

''उठेगा व्याकुल दुर्दमनीय

क्षुब्ध होकर जब पारावार,

---

1. रसबन्ती– दिनकर, भूमिका, पृ0–3
2. रसबन्ती, शिशुमति– दिनकर, पृ0–10

रूद्ध होगा कैसे देवि!

घृष्ठ शैलों से कंठ–द्वार?[1]

द्वन्द्वगीत–

'द्वन्द्वगीत का प्रथम प्रकाशन सन् 1940 में हुआ, परन्तु इसमें 1932 से 1939 के मध्य लिखे गए पद संकलित हैं। दिनकर जी के अनुसार– ''इन वर्षो में मेरे अध्ययन, चिन्तन और अनुभूति का जो रूप रहा, 'द्वन्द्वगीत' के पद उसकी महीन खुशबू में बसे हुए है।''[2] तात्पर्य कि द्वन्द्व गीत मे लिखित कविताओं में एक लम्बा समय होने के कारण प्रसाद जी के 'आँसू' तथा बच्चन की 'मधुशाला' जैसा विचार, तारतम्य नहीं, हाँ छन्दगत एकता अवश्य है। इसके विपरीत उनमें विचार व भाव की दृष्टि से बैविध्य है। उसमें एक ऐसे व्यक्ति की संवेदना है जो बहुधा खिन्न, विचारशील और द्वन्द्वग्रस्त है तथा विविध विषयों के सन्दर्भ में सोच रहा है। उनमें रस है परन्तु भाव विषय–प्रधान होने के कारण उसमें 'रसबन्ती' सी सुगमता व सरलता नहीं। उसमें ऐसे पदों की अधिकता है, जिनमें प्रश्न व जिज्ञासा अधिक है। इसलिए वे श्रोता व पाठक को श्रवण के साथ–साथ चिंतन के लिए बाध्य कर देते हैं, विचार का बन्धन सौम्यरस पान में किंचित् बाधक बन जाता है। यथा–

''जो सृजन असत्,

तो पुण्य–पाप का श्वेत–नील बन्धन क्यों है?

स्वप्नों के मिथ्या– तन्तु– बीच

आबद्ध सत्य जीवन क्यों है?

---

1. रसबन्ती–दिनकर, पृष्ठ–13
2. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–3

हम स्वयं नित्य, निर्लिप्त अरे,

तो क्या शुभ का उपदेश हमें?

किस चिन्त्य रूप का अन्वेषण?

यह आराध्यन–पूजन क्यों है?

सामान्यतः द्वन्द्वगीत के छन्दों को तीन प्रभागों रहस्यात्मक, सुखात्मक तथा लोकहिताय– में विभक्त किया जा सकता है। लेकिन इन तीन प्रभावों के मध्य एक भीषण द्वन्द्व है, जिसमें एक प्रौढ़ विचारक व्यक्ति नहीं, अपितु खिन्न मस्तिष्क, का द्वन्द्व ही है। दिनकर का परम सत्ता में विश्वास है और परमसत्ता के इंगित पर ही जलन लिए सितारे, दुःखित संसार, विषाद–पूर्ण उषा और संध्या चलरही है, जो उस सत्ता को भूल चला वही दुखी है–

"तारे लेकर जलन, मेघ आँसू का पारावार लिए,

संध्या लिए विषाद, पुजारिन उषा विफल उपहार लिए,

होंगे कौन? तुझको तजकर जो चला वही हैरान चला,

रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये।"[1]

जीवन, जन्म–मृत्यु, सुख–दुख की आँख मिचौनी है, मृत्यु निश्चित है। परन्तु कवि मन घबराकर पलायन नहीं करता, वरन् जीवन का रसास्वादन करने को सचेष्ट रहता है–

"यह फूलों का देश मनोरम

कितना सुन्दर है रानी।

इसमें मधुर स्वर्ग? परियाँ

---

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ 8

तुझ–सी क्या सुन्दर कल्याणी?

अरे! मरूंगा कल तो फिर क्यों?

आज नहीं रसधार बहे।''[1]

सारांशतः यही कहा जा सकता है कि 'द्वन्द्वगीत' में दिनकर के मुख्य भाव श्रृंगारिक हैं, प्रतिपाद्य काम व सौन्दर्य हैं। सौन्दर्य के उपभोग व अनुपभोग के मध्य ही दिनकर का द्वन्द्व निहित है। जिसकी छाया हम दिनकर के इस संकलित छन्द में देखते हैं।

कुरूक्षेत्र–

'कुरूक्षेत्र' एक प्रबन्ध काव्य है। इसका प्रथम संस्करण सन् 1946 में प्रकाशित हुआ था। इस कृति को दिनकर ने सातसर्गों में बाँटा है। 'कुरूक्षेत्र' काव्य का मुख्य आधार महाभारत है तथा उसके मुख्य प्रेरणा–स्रोत गीता में वर्तमान हैं। गीता–युद्ध में स्वजनों को अपने समक्ष देखकर अर्जुन की जो कुंठा है, वही कुरूक्षेत्र में 'स्वजनों' को मृत देख कर युधिष्ठिर का निर्वेद है, दोनों की मनोवैज्ञानिक स्थिति प्रायः समान है। 'कुरूक्षेत्र' महाभारत का युद्धान्त है, महाभारत के 'साप्तिक' पर्व में सम्बन्धियों के अन्तिम संस्कारों को पूर्ण करते समय ज्ञात होता है कि कर्ण उनके बड़े भ्राता थे, जिससे उनका मन अशान्त हो जाता हैं 'शान्तिपर्व' में वे अपनी इस वेदना को नारद के समक्ष प्रस्तुत करते हैं तथा वन जाने के लिए जिज्ञासा प्रकट करते हैं, परन्तु पत्नी तथा भाइयों के आग्रहपर तथा श्रीकृष्ण के परामर्श पर वे हस्तिनापुर आते हैं, जहाँ उनका राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। पुनः श्री कृष्ण के आदेशानुसार वे भीष्म पितामह के पास राजधर्म के ज्ञान बोध हेतु जाते हैं, वहाँ पितामह उन्हें

1. द्वन्द्वगीत–दिनकर, पृष्ठ–19

विस्तार के साथ उपदेश देते हैं। इस वार्तालाप में भीष्म ने युधिष्ठिर के अनगिनत प्रश्नों का समाधान किया है। अपने आप में प्रश्नोत्तर मानव–जीवन का समग्र दर्शन उपस्थित करता है तथा जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है। 'कुरूक्षेत्र' में भी सही जीवन–पद्धति समग्र रूप से विद्यमान है। महाभारत में उपर्युक्त कथावस्तु 'स्त्री' पर्व से 'अश्वमेधिक' पर्व तक फैली हुई है, परन्तु कुरूक्षेत्र में यह 'शान्ति' तथा 'उद्योग' पर्व तक ही सीमित हैं

तत्कालीन परिवेश में द्वितीय विश्वयुद्ध ही दिनकर साहित्य का मूल बिन्दु रहा तथा निश्चित रूप से ही उसका मूलाधार–भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद था, जिसके द्वारा देश में कुटिल शान्ति की स्थापना थी। इसी परिपार्श्व में हिंसा और अहिंसा का मूल प्रश्न भी जुड़ा था, जिसके प्रतिगामी भारत में तिलक व गांधी थे। दिनकर ने तत्कालीन परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए भारतीय अतीत को ही आधार बनाया, जिसमें कि "भारतीय संस्कृति, लंकाकाण्ड और महाभारत जैसे विकराल युद्धों का दंश झेल चुकी है।"[1]

दिनकर ने अतीत के सुन्दर ढाँचे में वर्तमान की व्यथा–कथा को ढाल कर आधुनिक जीवन मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन किया है, जिसके अंक में गांधी के अहिंसक आँसुओं की नहीं, अपितु रसेल और तिलक के उग्र–कर्मवाद की छाप है।

मुख्य समस्या युद्ध की है, वह मनुष्य समाज की एक ज्वलन्त समस्या है। लेकिन समाज आज तक भी इसका कोई समाधान नहीं निकाल पाया है और न ही यह समाधान 'कुरूक्षेत्र' के रचनाकार का उद्देश्य है। वह तो युद्ध की भयानक विभीषिका से चिन्तित और शंकित है। इसीलिए भूमिका में कहते

1. राष्ट्र कवि दिनकर– डा0 गोपाल राय, पृष्ठ–110

हैं– ''यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क पर चढ़कर बोल रहा है।''[1] अस्तु दिनकर का उद्देश्य 'कुरूक्षेत्र' की रचना में युद्ध का समाधान नहीं है, अपितु युद्ध और उसके भयंकर परिणामों के मध्य तार्किक विचारों का संयोजन है, जिसका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से है।

शान्ति और अशान्ति, हिंसा तथा अहिंसा, युद्ध–दर्शन के प्रमुख पहलू हैं। 'युद्ध और शान्ति' ही कुरूक्षेत्र का प्रमुख विषय है जिसको दिनकर ने आधुनिक समाज के सन्दर्भ में चित्रित किया है। ''युद्ध की समस्या मानव जीवन की एक चिरन्तन समस्या है, किन्तु वर्तमान युग–जीवन के परिप्रेक्ष्य में उसके स्वरूप, परिणाम आदि पर विचार कवि की निजी सूझ–बूझ के ही उदाहरण है।''[2]

सामधेनी

हुंकार की भाँति ही 'सामधेनी के मुख्य भाव भी मुख्य रूप से राष्ट्रीय व सामाजिक हैं, लेकिन इसमें 'हुंकार' जैसा आक्रोश, ओज और वेग नहीं है। 'सामधेनी' का सर्वप्रथम प्रकाशन 1946 में हुआ तथा उसमें 1941 से 1946 तक की रचनाएँ संग्रहीत हैं। 1942 की क्रान्ति के पूर्व देश में क्षुब्ध वातावरण उपस्थित हो गया था तथा समस्त देश में प्रतिशोध व प्रतिहिंसा की लहर दौड़ गयी थी, जिसका प्रभाव जल तथा थल सेनाओं पर भी पड़ा तथा कितने ही देशभक्त बन्दीग्रहों में डाल दिये गये। दिनकर का कवि हृदय भी इस ज्वाला से बच न सका। इसी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में 'सामधेनी' की रचना हुई। इस संग्रह

---

1. कुरूक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ–2
2. हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन– देवी प्रसाद गुप्त, पृष्ठ–337

का 'सामधेनी' नाम समिधा से उत्पन्न हुआ है, यहाँ पर कवि कविता रूपी समिधा से देश के क्रान्तियज्ञ में अग्नि प्रज्जवलित करना चाहता था। निम्न पंक्तियों में इसी तथ्य का दिग्दर्शन होता है–

''सुलगती नही यज्ञ की आग,

दिशा धूमिल, यजमान अधीर;

पुरोधा कवि कोई है यहाँ?

देश को दे ज्वाला के वीर।''[1]

1943 में लिखित 'आग की भीख' कविता में पहाड़ के सामने आने पर धारा के रूक जाने का बलपुंज केशरी की ग्रीवा के झुक जाने का तथा अग्नि स्फुलिंग के बुझ कर मिट्टी के ढेर हो जाने का प्रसंग है, जिसमें अंगारों की याचना की गयी है। वस्तुतः इस कविता की पूर्व पीठिका में 1942 के आन्दोलन में गांधी जी की द्विधापूर्ण स्थिति है जिसके कारण आन्दोलन में शिथिलता आने लगी थी, दिनकर ने अपनी व्यथा को किस भाँति व्यक्त किया है–

''आगे पहाड़ को पा, धारा रूकी हुई है।

बल पुंज केशरी की, ग्रीवा झुकी हुई है;

अग्नि स्फुलिंग रज का, बुझ, ढेर हो रहा है,

है रो रही जवानी, अंधेर हो रहा है।''[2]

'सामधेनी' में संकलित कविता 'हे मेरे स्वदेश' का मूलभाव घटना प्रधान है। जिसका मुख्य प्रतिपाद्य 'नोआखाली' और 'बिहार' में हुए हिन्दू–मुस्लिम

---

1. सामधेनी– दिनकर, पृष्ठ–6
2. सामधेनी, दिनकर, पृष्ठ–64

हत्याकान्ड है, जिसकी दिनकर ने खुले शब्दों में भर्त्सना की है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी भावमूलक– चेतना का प्रतिनिधित्व करती है–

'ओ बदनसीब! इस ज्वाला में

आदर्श तुम्हारा जलता है,

समझाये कैसे तुम्हें कि

भारत वर्ष तुम्हारा जलता है।

जलते हैं हिन्दू–मुसलमान,

भारत की आँखें जलती हैं।

आने वाली आज़ादी की,

लो दोनों आँखें जलती हैं।''[1]

हिंसा तथा प्रतिहिंसा 'हुंकार' के मुख्य स्वर थे, लेकिन 'सामधेनी' में इसका स्थान चिंतन ने ग्रहण कर लिया। इसके सामान्यतः दो कारण थे, जिन्होंने दिनकर के मस्तिष्क पर प्रभाव डाला। एक–देश में होने वाले खून–खराबे का, दूसरा–विश्वयुद्ध जिसमें युद्ध, मनुष्य और मनुष्य के बीच था या नहीं, अपितु वह तो युद्ध के मध्य एक पुर्जा मात्र था। लड़ाई अत्याधुनिक आयुधों से थी, जहाँ वीरता नही अणुबमों का प्रयोग हुआ तथा जिसने जापान के नागासाकी और हीरोशिमा में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया। दिनकर में विचार चिंतन को प्रसूत करने वाले कारण यही आयुध थे।

कवि ने खेद व्यक्त किया है कि संसार में वीरभाव व धर्म दोनों ही लुप्त हो गये हैं। विश्व में नर–मेघ हो रहा है, सर्वत्र रक्त ही रक्त दिखाई देता है।

---

1. सामधेनी, मेरे स्वदेश– दिनकर, पृ0–72

मन एक यंत्र बनकर रह गया है, तथा वह उसी अग्नि में जलरहा है। अन्त में कवि का पीड़ित ह्रदय कह उठता है–

जय हो खोलोद्वार, अमृत दो,

हे जग के पहले दानी।

यह कोलाहल शमित करेगी,

किसी बुद्ध की ही बाणी।''[1]

बापू–

'बापू' का प्रथम संस्करण जून सन् 1947 बापू के निधन के पूर्व में हुआ था तथा द्वितीय संस्करण रामनवमी, सन् 1948 में बापू के निधन के उपरान्त हुआ था। इस संस्करण में दिनकर ने बापू के निधन से उत्पन्न अपने मन की व्यथा को कुछ कविताओं में व्यक्त कर, उसे प्रथम संस्करण में जोड़ कर, पृष्ठों की संख्या बढ़ा दी है।

बापू ने अपनी सत्य एवं अहिंसात्मक नीति के द्वारा विदेशीनीति को परास्त किया। उन्होंने भारत माता के पैरों में पड़ी पराधीनता की बेड़ी को तोड़कर उसे बन्धन मुक्त किया। ऐसे तेजस्वी, प्रतिभासम्पन्न, पावन चरित्र बापू के व्यक्तित्व से प्रभावित इस युग के कवियों ने उन्हें अपनी बाणी का सहारा ले श्रद्धान्जलियाँ अर्पित की, उनका यशोगान गाकर स्वयं को धन्य माना। दिनकर जी ने क्रान्ति और युद्ध से दूर हटकर शान्तिपूर्वक दूत बनकर 'बापू' की रचना की। गाँधी जी शान्ति के दूत थे; दिनकर के सम्मुख समस्या उपस्थित होती है– शान्ति के दूत गाँधी की पूजा बह किस प्रकार करे–

---

1. सामधेनी– 'अतीत के द्वार' – दिनकर, पृष्ठ–79

"पर तू इन सबसे परे; देख

तुमको अंगार लजाते हैं,

मेरे उद्वेलित–ज्वलित गति

सामने नहीं हो पाते हैं।"[1]

दिनकर जी ने 'कुरूक्षेत्र' के भावों–विचारों को भूल कर अपने विचारों में परिवर्तन किया दिनकर ने अन्धकार और घृणा पर सत्य और करूणा की विजय को स्वीकार किया है। यथा–

"वह सुनो सत्य चिल्लाता है,

ले मेरा नाम अंधेरे में,

करुणा पुकारती है मुझको,

आबद्ध घृणा के घेरे में।"[2]

इस छन्द को सुन मृदुला बेन ने यह स्वीकार किया है कि गाँधी जी के भाव भी निश्चित रूप से इसीप्रकार के थे।[3]

कवि ने शान्ति के दूतों को अन्य वीरों से भिन्न तथा ऊँचा स्थान दिया है। वह इस अदभुत, विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न पुरूष की तुलना किससे करे–निश्चय नहीं कर पाता है। दिनकर का कहना है कि गाँधी जी ने क्रान्ति की शान्ति रूपी शस्त्र को अपनाकर, युद्ध किया प्रेमरूपी अस्त्र को लेकर।

दिनकर ने इस कृति में नोआखाली के चित्र को भी प्रस्तुत किया है। गाँधी जी ने नोआखाली में हुए दानवता के नृत्य को नष्ट करने, हिंसाग्नि की

1. बापू– दिनकर, पृष्ठ–3
2. बापू– दिनकर, पृष्ठ–24
3. बापू– दूसरे संस्करण का 'वक्तव्य', पृष्ठ–1

धधकती ज्वाला को शान्त करने, मानव की पीड़ा को कम करने के लिए जो प्रयत्न किया था, उसे प्रस्तुत करने में दिनकर अत्यधिक सफल हुये।

इतिहास के आँसू–

दिनकर का 'इतिहास के आँसू' मुक्तक काव्य संग्रह सन् 1951 में प्रकाशित हुआ था। यह कवि की दस ऐतिहासिक कविताओं का संग्रह है। इनमें से कुछ कविताएँ यथा– 'मंगल आह्वान', 'पाटलिपुत्र की गंगा से', 'मिथिला', 'बोधिसत्व' और 'वैभव की समाधि'– 'रेणुका' प्रकाशन काल सन् 1935 ई0 में तथा कुछ 'अतीत के द्वार पर', कलिंग विजय', 'सामधेनी' प्रकाशन काल सन् 1947 ई0 में प्रकाशित है। शेष तीन कविताएँ 'मगध–महिमा, 'बैशाली' तथा 'बसन्त' के नाम पर नूतन है।

मगध–महिमा एक पद्य–नाटिका है इसमें भगवान बुद्ध, चन्द्रगुप्त तथा अशोक से सम्बद्ध ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा भारत के मत गौरव का स्मरण किया गया हैं। दिनकर की कल्पना–रूपानारी नालन्दा के ध्वंसावशेषों को देख कर प्रश्न करती है–

"यह खँडहर किस स्वर्ण–अजिर का?'[1]

जिसे सुन इतिहास उपर्युक्त तीन महान् आत्माओं की स्मृति दिलाकर विश्व को एक सन्देश देता है–

"कल्पने! यह सन्देश हमारा।

बसता कहीं परिधि से आगे जीवन का ध्रुवतारा।

पा न सके उसे सतह के ऊपर कोलाहल में,

---

1. इतिहास के आँसू– दिनकर, पृष्ठ–5

मिला हमें वह जब हम सतह के ऊपर कोलाहल में,

मिला हमें वह जब हम डूबे अपने हृदय–अतल में।

चन्द्रगुप्त–चाणक्य समर्थक– रक्षक रहे स्वजन के,

हीन बन्ध को तोड़ हो गये पर, अशोक त्रिभुवन के।

दो फूलों के बीच सिमटकर सरिताएँ बहती हैं,

सागर कहते उसे, दीखता जिसका नहीं किनारा।''[1]

'वैशाली' में लिच्छवि– वंशीय राजाओं की वैभवपूर्ण राजधानी वैशाली के ध्वस्त वैभव पर आँसू बहाया गया है, साथ ही उसके प्राचीन गौरव का स्तवन कर बलिदान एवं शौर्य की शिक्षा दी गई है–

''करना हो साकार स्वप्न को तो बलिदान चढ़ाओ,

ज्योति चाहते हो तो पहले अपनी शिखा जलाओं।

जिस दिन एक ज्वलन्त वीर तुममें से बढ़ जायेगा,

एक–एक कण इस खँडहर का जीवित हो जायगा।''[2]

'बसन्त के नाम पर' – कविता में एक बड़ा ही सुन्दर भाव गुम्फित है। बसन्त को देख कवि की इच्छा प्रकृति का मधुर चित्रण करने, कुछ सरस गीत गाने की होती है परन्तु उसी समय उसे वीर दुर्गादास एवं राणाप्रताप से विहीन राजस्थान का स्मरण हो आता है और उसकी लेखिनी रूक जाती है। वह पुनः उपक्रम करता है। परन्तु उसी समय आहत पंजाब की उसे स्मृति हो आती है।

---

1 इतिहास के आँसू– दिनकर, पृष्ठ–28

2. इतिहास के आँसू– दिनकर, पृष्ठ–46

यह रचना न केवल इतिहास की दृष्टि से वरन् इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसमें प्राचीन ऐतिहासिक वीरों, स्थानों एवं घटनाओं के गौरव का स्मरण कराकर भारतीयों में जागरण एवं पुनरुत्थान की भावना भरने का प्रयत्न किया गया है।

धूप और धुआँ

'धूप और धुआँ' सन् 1951 ई0 में प्रकाशित मुक्तक काव्य में दिनकर जी की सन् 1947 ई0 तथा उसके पश्चात् रचित कुछ कविताओं का संग्रह है। उनमें तात्कालिक परिस्थितियों के विरूद्ध कवि की प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। इस संग्रह ग्रन्थ के नामकरण के विषय में कवि स्वयं लिखता है–

''स्वराज्य से फूलने वाली आशा की धूप और उसके विरूद्ध जन्मे हुए असन्तोष का धुआँ, ये दोनों ही इन रचनाओं में यथा स्थान प्रतिबिम्बित हैं। अतएव जिनकी आँखें धूप और धुआँ, दोनों को देख रही हैं, उनके लिए यह नाम कुछ निरर्थक नहीं होगा।''[1]

इस संग्रह से समस्त कविताएँ स्वतंत्रता, राष्ट्रहित, राष्ट्रपिता एवं बलिदानी वीरों के प्रति श्रद्धांजलि तथा सेनानी की वीर भावना आदि विषयों से सम्बन्ध रखती हैं। अतः यह एक तृषित धरा का पावन गीत है।

'नई आवाज' और 'तुम क्यों लिखते हों'– कविताओं में कवि को स्वर्ग से भूपर उतर कर इसी के गीत गाने की प्रेरणा दी गई है। 'शबनम की जंजीर' में भी जागरण के गीत गाने तथा प्रतिभाओं में चेतना भरने का आग्रह किया गया है। 'स्वर्ग के दीपक' कविता में विलासी धानिकों तथा उच्च वर्ग के लोगों को सामायिक चेतावनी दी गई है कि वे संभल जाएँ, अभिमान न करें

1. इतिहास के आँसू–दिनकर, पृष्ठ–46

और पददलितों एवं शोषितो का उपहास न करें क्योंकि शीघ्र ही विप्लव होने वाला है। जिसमें वे टिक न सकेगें। [1] 'सपनों का धुआँ' में यह संकेत किया गया है कि स्वतंत्र भारत के लिए हमने जो स्वप्न देखे थे, वे सब धुआँ हो गये। 'भगवान की बिक्री' कविता धातु के भगवान पर एक व्यंग्य है। 'अमृत—मंथन' में भगवान से भारत के दुःख—दर्द का हरण करने के लिए अवतार लेने की प्रार्थना की गई है। 'व्यक्ति' में यह कहा गया है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य सुधार नहीं होता तब तक समृद्धि का राग अलापना व्यर्थ है। 'वीर—वन्दना' में देश के लिए प्राणों की बलि देने वालों की वन्दना की गई है। 'भारतीय सेना का प्रयाण गीत' में भारत के वीर, धीर, गम्भीर अचल और शान्ति के दूत सैनिकों की यथार्थ आत्म प्रशंसा है। 'जनता और जवाहर' में भारत का नया रुप चित्रित है तथा 'जनतंत्र का जन्म' में प्रजातंत्र का स्वागत किया है। 'अरुणोदय' में स्वतंत्रता के ऊषाकाल को मंगल मुहुर्त बतलाकर उसका अभिनन्दन किया गया है।, साथ ही असंख्य बलिदानों के अनन्तर प्राप्त स्वतंत्रता के अक्षुण्ण बनाये रखने तथा देश का जीर्णोद्यार करने के लिए कर्तव्यपरायण वीर पुरुषों का आवाहन भी किया हैं। 'गांधी' 'भाइयों और बहिनों' 'हे राम', 'बापू', रुह की खाई', और 'अपराध कविताएँ राष्ट्रपिता से सम्बन्ध रखती हैं जिनमें उनके उत्सर्ग को लक्ष्य कर श्रद्धाजंलि अर्पित की गई है। 'लोहे के पेड़ हरे होगें'— कविता में प्रेम का गान गाने, संसार को शान्ति देने, ज्ञान का प्रकाश भरने, दुखियों का दुःख दूर करने शरीर को नश्वर समझ कर लोकहित करने तथा दुष्टों को भी जीवन उत्सर्ग कर देने का सन्देश दिया गया है।

1. धूप और धुआँ—दिनकर, पृष्ठ 4,5,6

रश्मि रथी–

प्रबन्ध काव्य 'रश्मि रथी' का प्रथम संस्करण सन् 1952 में प्रकाशित हुआ था। प्रबन्धन की दृष्टि से 'रश्मि रथी' 'कुरूक्षेत्र' की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं सशक्त है। इसकी कथावस्तु में चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। इसमें कवि का कथ्य, प्रतिपाद्य, विचार, सन्देश और मानवतावादी आदर्श अत्यंत मूर्तिमान हुआ है। महारथी कर्ण महाभारत का एक प्रभावशाली महत्वपूर्ण चरित्र है। संस्कृत के परिवर्ती कवियों ने कर्ण के उज्जवल चरित्र की उपेक्षाकर उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे उसके अदभुत शौर्य, त्यागशीलता, दानशीलता एवं मित्र प्रेम से प्रभावित हुए परन्तु दुर्योधन का साथी, सूतपुत्र तथा कुन्ती का कानीन पुत्र हाने के कारण उन लोगों ने अपनी रचनाओं में उसे नायक के रुप में चित्रित अथवा प्रतिष्ठित नही किया। आधुनिक युग के हिन्दी कवियों का ध्यान संस्कृत साहित्य के उपेक्षित पात्रों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। महाभारत के इसी महान किन्तु उपेक्षित चरित्र कर्ण को श्री रामधारी सिंह दिनकर ने 'रश्मि रथी में गौरवान्वित करने का एतुत्य प्रयत्न किया है।

इसका कथानक सात सर्गों में विभक्त है जिसमें कर्ण के बाल्यकाल से लेकर युद्ध में अर्जुन द्वारा उसके बध तक की कथा वर्णित है। इसकी कथा का सूत्र आधार महाभारत है अवश्य परन्तु कवि ने यत्र–तत्र कर्ण चरित्र–सम्बन्धी कथावस्तु में न केवल संशोधन किया हैं वरन् उसे अपने युग के अनुकूल नये साँचे में ढालने का प्रयत्न भी किया है।

प्रथम सर्ग में रंग भूमि प्रसंग है जिसमें कर्ण अर्जुन को युद्ध के लिये

ललकारता है, यहीं पर द्रोण की चिंता और चिंता समाधान हेतु कर्ण के कुलादि का प्रश्न उठता है। द्वितीय सर्ग में कर्ण व परशुराम प्रसंग है, कर्ण की गुरु भक्ति आदि की चर्चा है। तृतीय सर्ग में कर्ण तथा कृष्ण का संवाद, जिसमें कर्ण दुर्योधन से मैत्री के कारण उसी के साथ रहने के लिए दृढ प्रतिज्ञ है। चतुर्थ सर्ग में कवच–कुण्डल प्रसंग व कर्ण की दानशीलता का परिचय मिलता है। पंचम सर्ग में कर्ण–कुन्ती संवाद है।, जिसमें कर्ण, मैत्री, भाइयों के प्रति प्रेम तथा माँ के लिए आदर का परिचय देता है। षष्टम् सर्ग में द्रोणाचार्य के नेतृत्व में युद्ध तथा सप्तम् में कर्ण व अर्जुन युद्ध है। 'रश्मि रथी' की मूल कथा महाभारत के अनुसार ही चलती है, लेकिन प्रतिपाद्य में आधुनिकता का सर्वथा वरण किया गया है तथा जीवन के उन मूल्यों की स्थापना करने का प्रयास किया गया है, जिनकी आज के युग मे नितान्त कमी. है।

पुस्तक खुलते ही दिनकर की अग्रिम पंक्तियाँ ही प्रथम समझ आती हैं– ''इस पुस्तक का नाम'रश्मिरथी' है। इसका अर्थ होता है, वह व्यक्ति जिसका रथ रश्मि अर्थात पुण्य का हो। इस काव्य में रश्मिरथी नाम कर्ण का है, क्योंकि उसका चरित्र अत्यंत पुण्यमय और प्रोज्जवल है।[1] तदर्थ यह स्पष्ट है कि इस काव्य का मुख्य विषय चरित्र ही है, परन्तु आधुनिक समाज की कुछ ऐसी कुरीतियाँ हैं, जिनका उल्लेख दिनकर ने इस सांस्कृतिक कथानक में खुलकर किया है। सामाजिक कुरीतियों का यही निरुपण 'रश्मिरथी' को आधुनिक साहित्य में अपना मूल्यवान स्थान प्राप्त कराता है। यदि कला कला के लिए ही नहीं, तो निश्चित ही 'रश्मिरथी' का मूल्य समाज के लिए है, क्योंकि उसमें कुछ ऐसे निर्धारक सिद्धान्त हैं, जिन पर आज के समाज का

1. रश्मिरथी– दिनकर, पृष्ठ–3

नव–निर्माण करना सम्भव है।

दिल्ली

दिनकर का यह मुक्तक काव्य सन् 1954 ई0 में प्रकाशित हुआ था। इसमें कवि की दिल्ली के प्रति समय–समय पर लिखित चार कविताएँ– 'दिल्ली', 'दिल्ली और मास्को', 'एक की पुकार' और 'भारत का यह रेशमी नगर' संकलित है। पहली कविता 'दिल्ली' का रचना–काल सन् 1933 ई0 है और इसकी पृष्ठ भूमि सन् 1929 है। नईदिल्ली का प्रवेशोत्सव, भगतसिंह का बन्दी बनाया जाना, लाहौर–कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव तथा 1930 में सत्याग्रह आन्दोलन और शासन द्वारा दमन–चक्र। कवि का हृदय क्षुब्ध हो उठता है। जब वह देखता है कि इधर उन्मत्त शासक–वर्ग उत्सव मना रहा है और उधर जनता नग्न बुभुक्षित है। उसे स्मरण हो आता है उस समय का जब इसी स्थान पर न्याय और कला–प्रेमी मुगल–सम्राट शासन करते थे, बहुत पहले इन्द्रप्रस्थ नगर का वैभव वि हँसता था लेकिन आज उसी स्थान पर अन्यायियों का शासन है, जो सत्य का दमन करने में ही अपना शौर्य समझते हैं। 'दिल्ली और मास्को' कविता इससे पूर्व प्रकाशित संग्रह–कृति 'सामधेनी' में स्थान पा चुकी थी। इसमें दिल्ली की पराधीन भारत की छाती पर एक कलंक का चिन्ह बतलाया गया है, क्योंकि यहाँ बिलासी विदेशी शासकों का अत्याचारी शासन है।

'हक की पुकार' कविता अगस्त सन् 1952 अर्थात् भारत–स्वातन्त्रय के कई वर्ष पश्चात की रचना है। वहा कांग्रेस नेताओं के स्वाधीनता–प्राप्ति से पूर्व के भाषणों, आश्वासनों और उनके वर्तमान कर्म में अन्तर की स्थिति

देख सोचने के लिए विवश हो उठता है। इन नेताओं को देश की चिन्ता नही है और न उन लोगों की, जिनकी विपन्नावस्था का चित्रण कर ये स्वाधीनता की मांग करते थे। कवि इन नेताओं से, उसके द्वारा किए गए वायदों का स्मरण दिलाते हुए प्रश्न करता है–

"यह वही आदमी है, जिसकी
पीड़ाओं को आगे करके,
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी
प्रतिमा जग के सम्मुख धरके।
× × ×
यह वह मनुष्य, जिसकी ज्वाला
की ढाल बना तुम लड़ते थे,
जिसकी ताबीज, पहनकर तुम
शेरों की तरह अकड़ते थे।
क्या हुआ कि इस भूखी प्रतिमा
को देख आज भय लगता है?
भर गई कौन सी नस, जिससे
वह दर्द नहीं अब जगता है"[1]

'भारत का यह रेशमी नगर' कविता में भी ग्रामों का विपन्नता ग्रस्त आर्थिक जीवन तथा दिल्ली का वैभव–विलासपूर्ण रूप ही चित्रित हुआ है। इसमें कवि ने शासकों को विलास से विरत होने के लिए चेतावनी दी है और

1. दिल्ली–दिनकर, पृष्ठ–15

उनके न मानने पर ऐसी क्रान्ति की सम्भावना की है जिसमें वे सभी सविलास विनष्ट हो जायेंगे–

"तो होश करो, दिल्ली के देवो, होश करो,

सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है,

होती जाती है गर्म दिशाओं की सांसे,

मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।"[1]

दिनकर जी स्वतः एक कांग्रेस से सम्बन्धित सिपाही थे। फिर भी उन्होंने कांग्रेसी सत्ताधारियों को सचेष्ट किया है। यही 'दिल्ली' कृति की एक विशेषता है।

नीम के पत्ते

'नीम के पत्ते' नाम मुक्तक काव्य का सर्व प्रथम प्रकाशन सन् 1954 में हुआ था। इस संग्रह कृति मे कवि की सन् 1945 से 1953 तक की कलावधि मे लिखित कवितायें स्रंगहीत हैं। इस संग्रह की कृछ कविताएँ यथा– 'अरुणोदय', 'पहली वर्षगाँठ आदि में कवि स्वतन्त्रता की प्रथम किरण से प्रसन्न होकर भारत माता का यशगान करता है तो कुछ में यथा– 'पंचसिक्त', 'नेता', 'जनता और जवाहर', 'स्वाधीन भारत की सेना' आदि–भारत के जवानों को स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भी सतर्क, सचेत रहने की सीख दी है।

"मैंने कहा, लोग यहाँ तब भी है मरते" शीर्षक कविता में दिनकर ने बिहार प्रांत के पटना तथा राँची शहरों के आस–पास फैली हुई महामारी, मलेरिया तथा हैजा से मरने वालों का कारुणिक दृश्य प्रस्तुत किया है। गाँधी

---

1. दिल्ली–दिनकर, पृष्ठ–23

जी की पुण्य तिथि में दिनकर ने यद्यपि एक स्वतंत्र काव्य ग्रंथ की रचना सन् 1937 ई० में ही की थी लेकिन यहाँ इस संग्रह–कृति में भी इन्होंने 'गाँधी' शीर्षक एक कविता लिखी है। यह कविता सिर्फ बन्दना के रूप में ही स्वीकार की जा सकती है।

कवि ने देश के राजनीतिक नेताओं पर अनेक व्यंग्यात्मक कवितायें की हैं।[1] 'रोटी और स्वाधीनता' कविता में कवि पर कवि इकबाल का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इसमें अनेक स्थलों पर उर्दू के शब्द की संख्या बहुतायत में आए हैं। 'अरुणोदय' कविता की तरह कवि और नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' ने भी अपने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कार्नेलिया के द्वारा भारत की स्वर्णिम किरणों का यशोगान करवाया है।

नील–कुसुम–

'नील–कुसुम' मुक्तक काव्य का प्रकाशन सन् 1954 ई० में प्रथम बार हुआ था। इसमें दिनकर की 40 कविताओं का एक संग्रह है। दिनकर की 'नील–कुसुम' नाटक कृति में संग्रहीत कविताओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. युग प्रेरित शान्तिवादी तथा मानवतावादी रचनायें– जिसके अन्तर्गत जनतन्त्र का जन्म, भूदान, किसको नमन करूँ मैं, राष्ट्र–देवता का विसर्जन, हिमालय का सन्देश आदि रचनाओं का रखा जा सकता है।
2. विचार प्रधान, सामाजिक और व्यक्तिवादी रचनायें– इसके अन्तर्गत बौद्धिक–चेतना को कई रूपों में व्यक्त किया गया है। प्रथम रूप की प्रमुख रचनायें हैं– 'नील कुसुम', 'व्यालविजय', सेतु रचना, 'शबनम

---

1. दिल्ली–दिनकर, पृष्ठ–23

की जंजीर', 'आशा की बंशी', 'अर्ध–नारीश्वर', संस्कार आदि। बौद्धिक चेतना के दूसरे रूप की प्रमुख रचनायें हैं– 'गायक', 'कवि की मृत्यु' और 'समाज' आदि। इसमें व्यक्ति की निजत्व गौण और सामाजिक तत्व की प्रधानता है। दिनकर ने 'शबनम की जंजीर', 'अर्धनारीश्वर', 'लोहे के पेड़ अमर होंगे', 'नग्नता', 'स्वप्न और सत्य', 'स्वर्ग के दीपक' और 'नई आवाज' इत्यादि कविताओं में सामाजिक बौद्धिक चेतना का एक अन्य रूप भी व्यक्त किया है।

3. जिज्ञासा–प्रेरित दार्शनिक रचनायें– नीलकुसुम में संग्रहीत दार्शनिक पीठिका में लिखी गई प्रमुख रचनायें हैं– 'नीरव प्रकाश', 'संकेत', 'अशब्द', 'नासकीय', 'इच्छाहरण', 'सबसे बड़ी आवाज', ये गान बहुत रोए' तथा 'गृहरचना'।

4. स्फुट कल्पना प्रधान, श्रृंगारिक रचनायें– इस वर्ग की अन्तर्गत 'चन्द्राह्वान' और 'पावस का गीत' आदि रचनायें हैं।

चक्रबाल–

दिनकर का 'चक्रबाल' मुक्तक काव्य सन् 1956 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। 'चक्रवाल' दिनकर की समय–समय पर रचित कविताओं की चयनिका है। इसमें 'रेणुका' से लेकर 'नीलकुसुम' तक की समस्त संग्रह कृतियों में से कुछ चुनी हुई कवितायें संकलित है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिनकर ने 76 पृष्ठों की एक लम्बी भूमिका भी दी है, जिसमें उन्होंने काव्य से सम्बद्ध अपने विचारों, हिन्दी काव्य–प्रवाह, विभिन्न वादों, नवीन कविता का भविष्य, काव्य की भाषा शैली, काव्य का लक्ष्य आदि का अच्छा विवेचन किया है। सच

पूछा जाय तो कवि की यह संग्रह–कृति 'चक्रवाल' इनके विभिन्न काव्य–संग्रहों का सार है। दिनकर के समस्त काव्य–संग्रहों में इसका स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी की आधुनिक कविता के लिए निः सन्देह यह एक आधार ग्रन्थ है। इसमें कवि ने कविताओं का संकलन जिस क्रम और ढंग से किया है उससे उनके काव्य के क्रमिक विकास की स्पष्ट झलक पाठक को स्वतः मिल जाती है।

सीपी और शंख–

दिनकर का 'सीपी और शंख' नामक मुक्तक काव्य सन् 1957 ई0 में प्रकाशित हुआ था। यह 44 कविताओं का संग्रह है। इसमें कुछ कवितायें चीनी कवियों लारेन्स, मुमिलचे, रिल्के और पशेन की कविताओं का अनुवाद है। ''सीपी और शंख'' में संग्रहीत कविता को नयी कविता के समकक्ष रखा जा सकता है। नई कविता के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है– ''हिन्दी में नई कविता की जो बानगी आयी है, वह जितनी भी अक्षम और असमर्थ हो, किन्तु नये काव्य के पक्षपाती विद्वान आगामी काव्य की जिस रूप में कल्पना करते हैं, वह अत्यन्त भव्य है।''[1]

'सीपी और शंख' में दो प्रकार की कविताओं का प्राधान्य है। एक ओर उसमें जहाँ 'कवि और प्रेमी', 'काढ़ लो दो नयन' और नामांकन जैसी रोमांटिक कवितायें हैं, वहीं दूसरी और 'क्या करोगे देव', 'जिस दिन मैं मरूंगा' आदि भक्ति की कवितायें हैं। 'सीपी और शंख की कविताओं का मुख्य भाव रस–प्रवणता है, जिसमें भाव व बिम्बों की बड़ी सजीवता है जो पूर्णतः 'रसबन्ती' की रसधार के समानान्तर चलती प्रतीत होती है। लावण्ययुक्त बिम्ब उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरणार्थ 'लोर्का' की 'आधा–चांद' कविता

---

1 सीपी और शंख– दिनकर, भूमिका, पृ0 सं0 1

को लिया जा सकता है। इस कविता में तालाब में चाँद और तारों के प्रतिबिम्ब निश्चल है, तारे सभी दीखते हैं तथा उनके साथ ही अर्द्धचन्द्र भी, ऐसा भासित होता है कि ताल में सितारों' की फसल लह लहा रही है तथा चन्द्रमा हंसिया बनकर उसे काटने आया है–

''सरसी में लो उतर गया अब चाँद,

ब्योम अभी कितना निश्छल लगता है।

तारों की जो फसल ताल में लहराती है,

हंसिया बनकर चाँद काटने को आया है।''[1]

दिनकर सेक्स को पाप नहीं मानते हैं वह तो नर–नारी के मध्य बहने वाला कोमल प्रवाह है, दिनकर की धारणा है कि मन को संयत रखने पर, वृत्तियाँ भी निर्मल रहती है।

''मन को बाँध रही तो शरीर भी स्वच्छ रहेगा,

काम का प्रकाश, निर्धूम और प्रत्यक्ष रहेगा।''[2]

नए सुभाषित–

यह संगह 1957 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें सौ विषयों पर दो सौ पद हैं। इनमें प्रथम–प्रेम, सौन्दर्य पर लिखे मुक्तक हैं, जिनमें मार्मिक व शाश्वत सत्य का उद्घाटन हुआ है। दिनकर ने लिखा है कि पुरुष के प्रेम का उद्दीपन संयोग में व नारी के प्रेम का उद्दीपन वियोग में होता हैं–

''पुरूष का प्रेम तब उद्दीप्त होता है,

---

1. सीपी और शंख– दिनकर, भूमिका, पृ0 सं0 25
2. आत्मा की आँखे– दिनकर, पृष्ठ 101

प्रिया जब अंक में होती है।

प्रिया का प्रेम स्थिर अविराम होता हैं,

सदा बढ़ता प्रतीक्षा में।''

इस पद में दिनकर की अनुभूति प्रमुख है, जिसमें शाश्वत सत्य अनुस्यूत है। पुरुष का प्रेम अनवरत होता है, पर प्रगाढ़ नहीं। इसके विपरीत नारी का प्रेम प्रगाढ़ होता है पर कभी–कभी। लेकिन पुरूष जब प्रेम विह्वल हो जाता है तो सहसा कवि बन जाता है। प्रेम का यह परिणाम सम्पूर्ण जगत में दृष्टिगत है–

''प्रेम होने पर गली के स्वानू भी

काव्य की लय में गरजते, भूंकते हैं।''[1]

नर–नारी को सुख में खोजते है, जब कि नारी उसका साथ दुख में देती है।

''पुरूष चूमते तब जब वे सुख में होते हैं,

नारी चूमती उन्हें जब वे दुख में होते हैं।''[2]

''दिनकर ने 'विवाह सूक्ति में लिखा है कि विवाह एक ऐसा नाटक या उपन्यास है, जिसका नायक प्रारम्भ में ही अपनी सत्ता खो बैठता है।''[3]

अतः दिनकर जी ने संस्कृत सूक्ति ग्रन्थों अथवा हिन्दी के मुक्तकों के ढंग पर ही इन सुभाषितों की रचना की है और वास्तव में ये विभिन्न भावों को अत्यन्त मार्मिक एवं चमत्कार पूर्ण ढंग से व्यक्त करने में सफल हुए हैं।

---

1. नए सुभाषित– दिनकर, पृष्ठ –10
2. नए सुभाषित– दिनकर, पद–3
3. नए सुभाषित– दिनकर, पद–10

उर्वशी–

'उर्वशी' प्रबन्ध काव्य का प्रथम प्रकाशन 1961 ई0 में हुआ था 'उर्वशी' की कथावस्तु वैदिक कालीन है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राम्हण, महाभारत, श्रीमद् भागवत्, ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, स्कन्द पुराण तथा विक्रमोर्वशीय नाटक आदि में यह विषय वस्तु विभिन्नताओं के साथ वर्णित है।[1] परन्तु इतना निश्चित है कि इनका मूलबिन्दु 'काम' है। इसलिए जहाँ तक स्रोतों का प्रश्न है, यह सभी उसके प्रवाह में संश्लिष्ट हैं, लेकिन दिनकर की 'उर्वशी' का मूलाधार महाकवि कालिदास विरचित 'विक्रमोर्वशीय' ही दीखता है। दिनकर ने उर्वशी और पुरुरवा के मिलन–प्रंसग को भी कालिदास से ही लिया है। कालिदास ने जीवन पर्यन्त उर्वशी और पुरुरवा को संयुक्त रखा, लेकिन दिनकर ने इस सन्दर्भ में पूर्व ग्रन्थों का ही अनुकरण किया। ऋग्वेद में उर्वशी और पुरुरवा के वियोग का वर्णन करते हुए, उर्वशी को पुरुरवा को छोड़ जाने का प्रसंग है तथा दिनकर ने भी इसी का अनुकरण किया है। इस प्रकार 'उर्वशी' की कथावस्तु, वैदिक पौराणिक है, लेकिन कथानक प्राचीन होते हुए भी उसमें ह्वदयग्राही मौलिकता है, जिसमें कृति की अपेक्षा विचारधारा अधिक मूल्यवान है। काम इसका प्रधान विषय है तथा उससे सम्बन्धित सभी क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ प्रस्फुटित, पल्लवित व पुस्पित हैं।

प्रेम और वासना के मध्य यह स्पष्ट निर्भीकता ही उर्वशी की प्रमुख विशेषता है। पुरुरवा के प्रति तीव्र प्रेम है, परन्तु उसमें कहीं भी सत्यता व पवित्रता पर आँच नहीं आती। हिन्दी साहित्य की नायिकाओं की लम्बी

1. ऋग्वेद–काण्ड, ज0 511, ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण मं0, सूक्त 95, महाभारत–आदि पर्व अ0 46, 75, 78, 85, श्रीमद्भागवत्–स्कन्द 9, अ0 14, ब्रम्हपुराण अ0 9–10, विष्णुपुराण अंश 4, अ06, स्कन्द पुराण–ब्रह्म खण्ड, अ028।

परम्परा में निम्नलिखित शब्द कहने का साहस केवल दिनकर की उर्वशी को ही है–

> **"पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का,**
> **यह भाषा, यह लिपि, मानस को कभी नहीं भरमाएगी।"[1]**

दिनकर का जाग्रत कवि, समाज के मध्य उर्वशी को उपस्थित करता है। उर्वशी स्वस्थ, निर्द्वन्द्व स्वतन्त्र है, इसलिए हम उसे पसन्द ही कहाँ करते हैं, लिखने में अथवा कहने में, वैसे वह हृदय से सभी को पसन्द है। इस पसन्द और नापसन्द के चक्कर में हम उसके नैसर्गिक गुणों की अवहेलना कर देते हैं। हम यह सोचने का प्रयत्न भी नहीं करते कि वह अपने प्रिय की प्रतिष्ठा है उसकी शक्ति है जो उसे रोकती नहीं, उसका मनोवैज्ञानिक उपचार करती है जिसकी नर नारी से अपेक्षा करता है। 'उर्वशी' में महत्वपूर्ण विषय–वस्तु कामाध्यात्म है जो दिनकर की सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

परशुराम की प्रतीक्षा–

'परशुराम की प्रतीक्षा' मुक्तक काव्य सन् 1962 ई0 में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। यह दिनकर जी को चीन के आक्रमण के पश्चात् की गई कविताओं का संग्रह है। इसमें संग्रहीत केवल तीन कविताएँ– 'जवानियाँ', 'जवानी का झण्डा' और 'हिम्मत की रोशनी' 'सामधेनी' से ली गई है; कारण ये कविताएँ प्राचीन होते हुए भी सामयिक–सी प्रतीत होती हैं। शेष, पन्द्रह कविताएँ नवीन है। 'हिम्मत की रोशनी' कविता 'सामधेनी' में 'साथी' के नाम से प्रकाशित है।

---

1 उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ 58

सभी नवीन कविताओं में चीन के आक्रमण से उत्पन्न कवि की हार्दिक प्रतिक्रिया ही व्यक्त हुई है। दिनकर जी मूलतः क्रान्ति के कवि हैं; इसलिए जब ये उर्वशी के गन्धमादनीय अभिसार–कुन्जों से एक वर्ष पश्चात् लौटते हैं तब नगराज के पावन प्रदेश मोहित को चीनियों के हांथों रक्त'–लोहित होते सुनते हैं जिससे इनका अग्निकेशरी हुंकार उठता है और ये पुनः मादक वातावरण को त्याग प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की आग भड़काने लगते हैं। सर्व प्रथम कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा' इस पुस्तक की महत्वपूर्ण, श्रेष्ठतम रचना है। इसमें समस्त भारतीय वीर सेनानी के रूप में शस्त्रधर परशुराम के ही प्रतिनिधि है जो नेफा में जहाँ परशुराम ने लोहित कुण्ड से पुनः ब्रह्मपुत्र की पवित्रधार को प्रवाहित किया था, आक्रान्त चीन के समक्ष शस्त्र लिये वक्ष ताने खड़े हैं। यह कविता पांच खण्डों में विभक्त है।

चीन के आक्रमण के समय कवि देश के प्रत्येक वर्ग–बुद्धिजीवी, कलाकार, कृषक, ऋषि, दस्तकार और शिल्पी को ललकारता है। कलाकारों से युद्ध में विचारों की तलवारों गढ़ने की माँग करता है–

"चिन्तको! चिन्तना की तलवार गढ़ो रे।

ऋषियों! कृशानु उद्दीपन मंत्र पढ़ोरे।

योगियों! जगो जीवन की ओर बढ़ोरे।

बन्दूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे।

है जहाँ कहीं भी तेज हमें पाना है।

रण में समग्र भारत को ले जाना है।"[1]

---

1. परशुराम की प्रतीक्षा– दिनकर, पृष्ठ –1

इस पुस्तक की पृष्ठभूमि में कवि का मुख्य भाव राष्ट्र–प्रेम है जो कि वीर रस के रूप में प्रवाहित हुआ है, जिसकी हुंकार 'हुंकार' से भी अधिक भयानक है। यहाँ पर कवि समृद्धि से हविस जलाने की बात नहीं करता, अपितु उसके मस्तिष्क में बन्दूकों और तोपों की बात है। उसके मन का उद्दाम वेग जन जन को आह्लादित कर युद्ध में कूदने की प्रेरणा देता है। कवि देश की वीरांगनाओं को अपना श्रृंगार देने को कहता है–

"तिलक चढ़ा, मत और ह्रदय में हूक दो,

दे सकते हो तो गोली बन्दूक दो।"[1]

भारत–चीन युद्ध का सबसे खौफनाक स्वरूप नेफ़ा की लड़ाई था, जहाँ बिना किसी तैयारी के जवानों को युद्ध में झोंक दिया गया था, जबकि सरकार को इसका ज्ञान था। घायल सिपाहियों का एक दल जब दानापुर (पटना) अस्पताल में उपचार हेतु लाया गया तो जनता उनके स्वागतार्थ पुष्प, मिठाइयाँ व फल लेकर उमड़ पड़ी। इसके उत्तर में सिपाहियों ने कहा "ये फूल और मिठाइयाँ क्यों लाये हो, अगर हो सके तो हमें बन्दूकें और गोलियाँ लाकर दो, जिससे हम दुश्मन के अहंकार को चकना चूर कर सकें।" इसी पृष्ठभूमि को याद करते हुए कवि सिपाहियों से दूसरा प्रश्न करता है, "हे वीर, तुम्हारी हत्या का दायित्व किस पर है?" सिपाही कहता है कि हम दुश्मन से नहीं हारे, हमारी हार हमारे घर में हुई है, हमारी हार का कारण देश के शासक हैं तथा भाई भतीजेवाद की राजनीति, जिसमें व्यक्तित्व की गिनती नही, चापलूस व ठंगो की गिनती होती है–

"घातक है जो देवता सदृश दिखता है,

1 परशुराम की प्रतीक्षा– दिनकर, पृष्ठ–12

लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है,

जिस पापी को गुण नहीं गोत्र प्यारा है,

समझो उसने ही हमें यहाँ मारा है,

चोरों के हैं जो हितु, ठगों के बल हैं,

जिनके प्रताप से पलते पाप सकल हैं,

जो छल प्रपंच सब को प्रश्रय देते हैं,

या चाटुकार जन से सेवा लेते हैं,

यह पाप उन्हीं का हमको मार गया है,

भारत अपने घर में ही हार गया है।"[1]

दिनकर जी ने सुकुमारता का त्याग सदैव समाज के उत्स के लिये किया। समाज के हित में बोलने में वे न चर्चिल से डरे न नेहरू से घबराये। यह उनके व्यक्तित्व का उत्तरदायित्वपूर्ण पक्ष था।

कोयला और कवित्व

'कोयला और कवित्व का प्रथम संस्करण सन् 1964 में प्रकाशित हुई थी। यह दिनकर जी की आयु 56 वर्ष की थी, उस समय लिखी गई थी। दिनकर जी का घूमता आयुवृत्त था इसी कारण 'रसबन्ती' में दिनकर जी के जिस सरल व्यक्तित्व का उदय हुआ वह धीरे–धीरे यथार्थ की ओर झुक गया, जिसमें नर–नारी के शाश्वत स्वरूप की परख हुई। बाद में यही भाव 'कोयला और कवित्व' में आध्यात्म की ओर झुका, जिसमें निर्वेद की झलक आने लगी। जो सरसधार 'रसबन्ती' के रूप में बही थी, उसने अब दिनकर जी के हृदय

1. परशुराम की प्रतीक्षा–दिनकर, पृष्ठ–3

को इतना शुष्क कर दिया था कि वे आर्द्रता की खोज में भटक रहे थें; वे आत्म–दाह से निरन्तर शुष्क होते चले जा रहे थे। कवि के पुरुषार्थ में भी कमी आ गयी थी, इसलिये अब वे कोलाहल से भी घबराने लगे। स्थिति वैराग्य व आत्म–तोष के मध्य की थी। दिनकर को एकान्त की तलाश थी, राजनैतिक वातावरण से दूर, जहाँ वह प्रवासी की भांति जीवन व्यतीत कर सकें, क्योंकि अब उन्हें चारो ओर स्वप्न टूटते दृष्टिगोचर होने लगे थे और वे लाचार थे–

"स्वप्न मेरे भी चतुर्दिक टूट कर उड़ने लगे हैं,
और मैं दुबली भुजाओं पर उठाये,
व्योम का विस्तार एकाकी खड़ा हूँ।
इस भरोसे में नहीं, कोई बड़ा पुरुषार्थ है यह,
किन्तु केवल इसलिए, अब और चारा ही नहीं है।"[1]

दिनकर में न रस बहाने की क्षमता है और न पौरुष। उसके हृदय में मात्र दर्द ही बली है, भाव भी हैं, परन्तु साकार करने की शक्ति नहीं। यही कारण है कि इस पुस्तक में बड़े ही मार्मिक मुक्तक हैं, जिनमें उल्लास की धार नहीं वरन् दुःखों का प्रवाह है, जो दिनकर के प्रति सहसा करुणा की अनुभूति कराते हैं–

"दर्द को तुम फेन की धारा बनाओ।
फेन तो बह जायगा।
नीर–निर्मल सिन्धु में रह जायेगा।"[2]

'कोयला और कवित्व' तक पहुंचते–पहुंचते दिनकर के वीर व श्रृंगार

1. कोयला और कवित्व– दिनकर, पृ0 15
2 कोयला और कवित्व – दिनकर, पृ0 66

पर करुणा का पक्ष भारी हो गया, जहाँ वे व्यथित ही दृष्टिगोचर होते हैं, जिसमें सौन्दर्य के प्रति झुकाव कम, आत्मानुभूति अधिक है–

> **"प्रत्येक नया दिन नयी नाव ले आता है**
>
> **लेकिन समुद्र है वही, सिन्तु का वीर नहीं,**
>
> **प्रत्येक नया दिन नया घाव दे जाता है,**
>
> **लेकिन पीड़ा है वहीं, नयन का नीर वहीं।"[1]**

मृत्ति–तिलक

'मृत्ति–तिलक' मुक्तक काव्य का प्रथम संस्करण सन् 1964 में प्रकाशित हुआ था। इस मुक्तक कविताओं के संग्रह का एक–दो कविताएँ 'निर्वासित' आदि सन् 1935 के आस पास की है। इस संग्रह की कुछ कविताएँ पहले 'धूप छाँह' संग्रह में भी छपी थी।[2] इसमें संग्रहीत कविताएँ दो तरह की हैं– 1. मौलिक, 2. अनुदित। मौलिक कविताओं का विषय भेद से चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

1. वर्तमान काल के महर्षियों के प्रति श्रृद्धा–प्रदर्शन सम्बन्धी।
2. राष्ट्र प्रेम सम्बन्धी।
3. सत्कामना–प्रकाशिनी
4. पत्रात्मक

अनुदित कविताओं के अन्तर्गत–मेरी विदाई, मर्म सन्देश, बरगद, राजकुमारी और बांसुरी, प्रेम, गोपाला का चुम्बन और विपक्षिणी कविताएँ हैं।

---

1 कोयला और कवित्व– दिनकर, पृष्ठ–69

2 मृत्ति–तिलक– दिनकर, दो शब्द।

ये कविताएँ निकतोआकिन, मलयालम के कवि श्री वेणुकुलम्, गोपाल कुरुप गुजराती के कवि बालकृष्ण दबे नार्वेजियन के कवि जानसन, यूनानी कवि एरिस्टेफेंस, अंग्रेजी के कवि टेनिसन, बंगला कवि सत्येन्द्र नाथ दत्त, अंग्रेजी कवि मैथ्यू–प्रायर कवियों का अनुवाद है।

आत्मा की आँखें–

'आत्मा की आँखें' नामक संग्रह कृति दिनकर की 1964 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसमें संग्रहीत कविताओं की प्रेरणा कवि को डी.एच. लारेंस की कविताओं से प्राप्त हुई। अनुदित होते हुए भी ये कविताएँ अनुदित जैसी प्रतीत नहीं होती हैं। इसका कारण ये कविताएँ लारेंस की कविताओं में निहित भावों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से लिखी गई हैं। इन कविताओं का विषय प्रायः जन–जीवन के दैनिक कार्यो से सम्बद्ध है। डी.एच. लारेन्स ने मानव की मूल और प्रकृतिगत भावनाओं पर प्रकाश डाला है। दिनकर प्रारम्भ से ही मानव तथा प्रकृति की भावनाओं के प्रेमी रहे हैं। इनकी इन कविताओं की तुलना प्रयोगवादी नई कविताओं से की जा सकती है।

लारेन्स काम और व्यवहार जगत के कवि थे तथा दिनकर की भी मनोवृत्ति समान होने के कारण दिनकर पर उनका प्रबल प्रभाव था। इसी कारण 'आत्मा की आँखे'' का विश्लेषण इन्हीं दो मूल भावों– काम तथा व्यवहार अथवा प्रगतिवाद के प्रसंग में उपयुक्त है। 'मौज मजे, का इन्कलाब', 'वर्ग और जनता' तथा 'मच्छर' आदि कुछ ऐसी रचनायें हैं जिनमें प्रगतिवाद के कुछ लक्षण हैं, एवम् जो दिनकर के व्यक्तित्व के सामाजिक पक्ष का ही युक्त उद्घाटन करती है। 'मौज–मजे का इन्कलाब' कविता तो कवि कहता है कि क्रान्ति, घृणा अथवा धन के निमित्त नहीं होनी चाहिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय

श्रम के लिए तो क्रान्ति बिलकुल ही व्यर्थ है क्योंकि परिश्रम ही जीवन का रहस्य है तथा परिश्रमी मानव समाज का सिरमौर होता है। यथा–

''क्रान्ति इसलिए मत करो

कि कुछ लोगों से तुम्हें नफरत है।

बल्कि, इसलिए कि जिन्दगी में

तुम नयी सांस फूँकना चाहते हो।''[1]

श्रम का महत्व दर्शाते हुए दिनकर जी कहते हैं–

''ऊँचा वह जो समाज को पसीने से सींचता है,

और वह पापी है जो गद्दी पर तोंद बजाता है

या पड़े–पड़े हुक्के का कश खींचता है।''[2]

दिनकर जी यह जानते हैं कि 'वर्ग और जनता' के सामंजस्य से ही संसार का कल्याण निश्चित है, तभी तो वह कहता है–

''इसी मही पर जनता भी है वर्ग भी;

बड़े–बड़े बाबू भी, भैया खर्च भी।

दोनों हैं दो, एक मगर उनकी धरणी हैं,

दोनों को ईजाद, मशीनों की करनी है।''[3]

काम–सम्बन्धी कविताओं में 'मुहब्बत की खोज', 'अश्लीलता', 'केवल इतना', सेक्स और विश्वास', व्यक्तित्व और 'खास दोस्त' आदि कवितायें आती

---

2. आत्मा की आँखे– दिनकर, पृष्ठ 59
3. आत्मा की आँखे– दिनकर, पृष्ठ 62

है। दिनकर सेक्स को पाप नहीं मानते, वह तो नर–नारी के मध्य बहने वाला कोमल प्रवाह है, दिनकर की धारण है कि मन को संयत रखनें पर, वृत्तियाँ भी निर्मल रहती हैं। यथा–

"मन को बाँध रहो तो शरीर भी स्वच्छ रहेगा,

काम का प्रकाश, निर्धूम और प्रत्यक्ष रहेगा।"[1]

काम में निश्छल रूप से तथा चेतना रहित निमग्न रहना चाहिये अन्यथा काम की समस्त प्रक्रिया अशुद्ध हो जाती हैं–

"और अगर तुम डूबे नहीं, चेतना प्रबुद्ध रही

तो यह समझो काम की सारीक्रिया अशुद्ध रही।"[2]

अतः स्पष्टतः दिनकर की अनूदित कविताओं की भावभूमि में दोनों तत्वों व्यक्ति–तत्व और समाज–तत्व के घात–प्रतिघात समानान्तर रूप से चलते हैं, जो कि उनके मूल भाव व्यक्ति और समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हारे को हरिनाम–

'हारे को हरिनाम' भी दिनकर जी का मुक्तक–काव्य संकलन है। जिसका विमोचन सन् 1970 ई0 में हुआ। यह वह समय था जब दिनकर पश्चिमाकाल में अपनी किरणों को समेट रहा था। यथार्थ में यह संकलन पुरुषार्थ के विघटन की कहानी है। "ये वे ही कविताएँ हैं जिनमें प्रिय के द्वारा तोड़े गए विश्वास की पीड़ा से तिलमिलाया हुआ कवि प्रभु की शरण में जाकर उनकी करूणा से अपने अभावों को भर देना चाहता है।"[3]

---

1. आत्मा की आँखे– दिनकर, पृष्ठ 101
2. आत्मा की आँखे– दिनकर, पृष्ठ 13
3. राष्ट्र कवि दिनकर– डा0 गोपाल राय, पृष्ठ–178

'हारे को हरिनाम' इसी तथ्य का प्रतीक है–

''दहक उठे जो अंगारे बन गये,

कुसुम कोमल सपने थे।

अन्तर में जो गाँस मार कर गये,

अधिक सबसे अपने थे।

अब चल उसके द्वारा

सहज जिसकी करुणा है।

और कहाँ,

किसका आँसू कब थमा।

हृदय आकुल मत होना।''[1]

आज दिनकर का सौन्दर्य–प्रेम, पूर्ण काम बन गया, परन्तु उनका पुरुषार्थ थक गया है। कवि प्रिया के द्वारा परित्यक्त होने पर समाधि की बात करता है तो उस समाधि में भी वह तड़पन का भास ही देता है–

''और मर्द जब भभूत रमाकर

समाधि में बैठेगा,

तुम समझ जाओगे कि

भीतर से वह तड़प रहा है,

क्योंकि मूर्ति मन्दिर में रह गयी है।

असल में कोई नारी उसके प्राण में हैं।''[2]

---

1. हारे को हरिनाम– दिनकर, पृष्ठ–159
2. हारे को हरिनाम– दिनकर, पृष्ठ 45

परिवार, समाज और अपनो से हारे दिनकर जी की अन्तिम परिणति एक पराजित व्यक्ति की भक्ति–भावना और आध्यात्मिकता में हुई है। इसी कारण वह हारे को हरिनाम में पूर्ण पराजय स्वीकार करते हैं और रामनाम के साथ अपना प्राणान्त चाहते हैं–

"राम तुम्हारा नाम कंठ में रहे,
हृदय, जो कुछ भेजो, वह –सहे,
दुःख से त्राण नहीं माँगू।
माँगू केवल शक्ति दुःख सहने की,
दुर्दिन को भी मान तुम्हारी दया,
अकातर ध्यान मग्न रहने की।

देख तुम्हारा मृत्यु दूत को डरूँ नहीं,
न्यौछावर होने में दुविधा करूँ नहीं।
तुम चाहो, दूँ वही
कृपण हो प्राण नही माँगूँ।"[1]

बाल–साहित्य

दिनकर जी की मुक्तक काव्य रचनाओं और प्रबन्ध–काव्यों की रचनायें रचने वाले दिनकर जी ने बाल काव्य की रचनायें भी की है यथा–

धूप–छाँह

यह बाल काव्य सन् 1947 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। इस संग्रह–कृति में संग्रहीत केवल छैः कविताएँ ही मौलिक है, शेष प्रसिद्ध कविताओं के छायानुवाद हैं। कवि ने अंग्रेजी और बंगला की बालाओं के लिये उपयोगी

1. हारे को हरिनाम– दिनकर, पृष्ठ–3

कविताओं का रूपान्तर किया है। मौलिक रचनाओं में 'शक्ति का सौन्दर्य' और 'कलम और तलवार' शीर्षक कविताएँ उदात्त एवं उच्च भावों से पूर्ण है। 'पुस्तकालय' शीर्षक कविता सरल भाषा में पुस्तकों के महत्त्व को सुन्दर और आकर्षण रूप में उपस्थित करती हैं। 'शक्ति या सौन्दर्य' में किशोर के लिए शक्ति वरणीय है, यह कवि का सन्देश है। 'धूप–छाँह' की कविताओं में पौरुष और बलिदान की कवितायें शिशुओं के लिये नहीं हैं, अपेक्षाकृत अल्पवयस्क किशोरों के लिये हैं।

चित्तौर का साका–

यह बाल काव्य 1949 में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पुस्तक में चित्तौर के तीनों साकाओं की कहानियाँ, बालोपयोगी भाषा में अत्यन्त्य ओजस्वी ढंग से कहीं गयी है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिससे बालक तथा बालिकाओं को देशभक्ति वीरता और निर्भीकता की प्रेरणा मिलती है।

तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब राणा लखुमक्षी मेवाण के राजा राजसिंहासनासीन हुए थे, तब मेवाण अपने पूरे प्रताप के साथ उत्तरी भारत में देदीप्यमान हो रहा था परन्तु इसके बाद मेवाण को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा था। चित्तौर के छिन जाने से सिसोदिया–वंश की जातीय प्रतिष्ठा को अत्यन्त धक्का लगा था। चित्तोर के राणा लखुमखी, हम्मीर राणा सांगा, महाराणा प्रताप आदि ने मेवाण को स्वाधीन करके चित्तौर के किले पर सिसोदिया वंश की राज पताका को निर्भीकता से फहराने का अन्तिम प्रयास किया था।

मिर्ची का मजा

सन् 1951 में प्रकाशित यह वालोपयोगी सात कविताओं का संग्रह है।

इन कविताओं में अत्यन्त मौलिकता है तथा भाषा इनकी अत्यन्त सरल है। यहाँ कवि की ओजपूर्ण बाणी ही दृष्टिगत होती है।

सूरज का ब्याह

'सूरज का ब्याह' बाल काव्य सन् 1955 ई0 में प्रकाशित हुआ था। यह कृत्ति 9 कविताओं का संगह है। यह एक शिक्षाप्रद बालसाहित्य है। भाषा अत्यन्त सरल तथा सुस्पष्ट है। इसमें बालकों को अच्छी सीख दी गई है।

अध्याय-द्वितीय

दिनकर के पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों पर आश्रित काव्य में द्वन्द्व

1. कथ्यात्मक स्रोत परक द्वन्द्व
2. शिल्पात्मक प्रयोगपरक द्वन्द्व

कथ्यात्मक स्रोत परक द्वन्द्व

प्रस्तुत अध्याय में हमने दिनकर की उन रचनाओं पर विचार किया है जिनका आधार पौराणिक या ऐतिहासिक रखा है। उनके सभी प्रबन्ध काव्यों से कथा–स्रोत पुराणों से सम्बद्ध हैं। 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' मे जहाँ कवि ने महाभारत का आधार ग्रहण किया है, वहाँ 'उर्वशी' में कवि ने पद्म पुराण, 'ब्रह्मपुराण' आदि के द्वारा कथा–तन्तुओं को सम्बद्ध किया है। यही कारण है कि 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' को हमने यहाँ विवेचन का आधार बनाया है। तदनन्तर, जिन स्फुट कविताओं में पौराणिक या ऐतिहासिक तत्वों की प्रबलता है उनका मूल्यांकन किया गया है। यहाँ यह निवेदन कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि प्रस्तुत अध्याय में हमने पुराणाश्रित और इतिहासश्रित काव्यों की द्वन्द्वात्मक स्थिति का विवेचन किया है।

उदाहरणार्थ 'उर्वशी' के पौराणिक कथा स्रोतों की चर्चा जहाँ इस अध्याय में होने के साथ–साथ दिनकर ने किन परिस्थितियों में, किन द्वन्द्वात्मक स्थिति में 'उर्वशी' की रचना की।

भारत के सांस्कृतिक विकास में पुराणों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। पुराण भारतीय संस्कृति और इतिहास की आधारभूत सामग्री तो प्रस्तुत करते ही हैं, साथ ही वेद–विद्या को जन–साधारण तक पहुंचाने में भी पुराणों का प्रमुख योगदान रहा है। पुराण ''हिन्दू धर्म के सभी अंगों और स्तरों का पुराण–कथाओं, मूर्ति–पूजा, सेश्वरवाद और एकेश्वरवाद, ईश्वर–भक्ति, दर्शन और पूर्वग्रह, उत्सव और त्योहार तथा आचार का –किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा हमें कहीं अधिक गहन ज्ञान प्रदान करते हैं।''[1] कहना होगा कि

1. प्राचीन भारतीय साहित्य– एम. विन्टरनित्ज, प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ–196

पुराणों में हमारी संस्कृति, जीवन और मेधा का गूढ़ संश्लेष सरल और रूचिकर रूप में प्रस्तुत हुआ है।

दिनकर स्वभाव से आस्तिक कवि हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके हृदय में सम्मान और आस्था का भाव है। पारिवारिक कलह के कारण, सामाजिक शोषण, असमानता, ऊँच–नीच का भेदभाव, राजनैतिक विफलताओं ने उनके मस्तिष्क को द्वन्द्वात्मक बना दिया था। उनका द्वन्द्व परिवार, सरकार व समाज से था। इसी कारण दिनकर ने पौराणिक सामग्री का उपयोग अपनी मानसिक परिस्थिति के अनुरूप किया है।

'प्रणभंग' दिनकर की प्रथम कृति हैं। इसीलिए डा0 गोपाल राय ने लिखा है– "प्रण भंग दिनकर के काव्य की प्रथम उड़ान हैं।"[1]

इस छोटे से काव्य की रचना सन् 1928 में मैट्रिक पास करने के पश्चात ही की गई थी। इस कारण युवक कवि के इस काव्य में न विचारैक्य है, न प्रौढ़ता। लेकिन इतना अवश्य है कि इस लघु काव्य में ही उस विचार के बीज विद्यमान हैं, जिनका वृक्ष 'कुरूक्षेत्र' के रूप में हमारे सम्मुख आया तथा जिसने युद्ध की विभीषिका व जीवन–दर्शन को सापेक्ष रूंप से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

'प्रण–भंग' की कथा महाभारत से ली गई है। प्रारम्भ श्री कृष्ण के महल से होता है जहाँ दुर्योधन और अर्जुन कृष्ण को सेना सहित माँगने पहुंचते हैं और अपने अपने हित में युद्ध में ले जाना चाहते हैं। दुर्योधन और अर्जुन के मध्य बटबारा करने के निमित्त एक ओर श्रीकृष्ण की पूरी सेना, दूसरी ओर निहत्ते कृष्ण के रूप में कृष्ण ने दोनों से एक लेने को कहा।

1. राष्ट्रकवि दिनकर– डॉ0 गोपाल राय, पृष्ठ–81

श्रीकृष्ण की सेना को अर्जुन ने नहीं लिया। अर्जुन ने निहत्ते कृष्ण को लेना स्वीकार किया। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण की सेना लेना स्वीकार किया। महाभारत युद्ध में निहत्थे कृष्ण अर्जुन के सारथी बने। भीष्मपितामह ने प्रण किया था कि मैं कृष्ण को शस्त्रग्रहण करा दूंगा अन्यथा वे अर्जुन की रक्षा नहीं कर पायेंगे। कथा अर्जुन और भीष्म के युद्ध तक चलती है। भीष्म अर्जुन के रथ को बाणों की मार से तोड़ डालते हैं। कृष्ण भीष्म के विरुद्ध टूटे रथ के पहिये को उठाकर प्रण भंग करते हैं। कृष्ण का प्रण शस्त्र ग्रहण नहीं करने का था। वह प्रण भंग हो गया। कथा समाप्त हो जाती है।

युद्ध निन्दित कर्म–

'प्रणभंग' के रचना काल में दिनकर के शिशु–मस्तिष्क में युद्ध निंदित व क्रूर कर्म है। इस प्रकार का विचार था। युद्ध के प्रति दिनकर का द्वन्द्वात्मक विचार था कि युद्ध भाई–भाई को लड़ाते हैं। उनके सत्यानाश का कारण बनता है। इसमें मनुष्य का ज्ञान लोप हो जाता है। यु;द्ध में खून–खराबा, आहातों की चीत्कार ही सर्वत्र व्यापती रहती है। युद्ध जन्य परिस्थितियों का चित्रण देखिये–

"आह! भाइयों ने भाई से

ही प्रचण्ड खम ठोका था।

प्रलय घड़ी थी घोर, वहाँ पर

सर्वनाश का झोंका था।"[1]

युद्ध अन्धा होता है, जहाँ न विवेक है,

---

1. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ 18

न बुद्धि, केवल एक रण भूत खून का,

प्रतिशोध का, विजय का स्वार्थ उन्माद।

जहाँ शान्ति के स्थान पर द्रोह और कलह

तथा नीति के नाम पर कूटनीति और प्रणभंग होता है। खून और रण के कर्कश स्वर और लहू की पुकार–

"हिय में हमारे जो बसी

कर्कश कसक–विद्रोह है।"[1]

× × ×

"किस भाँति भूले भूलते

अब भी न वन के कलेश हैं।"[2]

× × ×

"जब तक कर सकूंगा चीरकर

हृद–रक्त उसका पान मैं।"[3]

इस काव्य में दिनकर का एक अस्फुट विचार है जो इस कथा का मुख्य विषय प्रतीत होता हैं; और वह है, साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद। इन दोनों शासन परम्पराओं के मध्य भारतीय जनता, विशेषकर बिहार की प्रकृति–पीड़ित जनता त्रस्त थी। उस समय विरोधी आन्दोलन थे– अहिंसा वादी व उग्रवादी। दिनकर का युवक कवि क्रान्तिवादियों के संस्कारों से

1. प्रणभंग–दिनकर, पृष्ठ 18
2. वही, पृष्ठ –28
3. वही, पृष्ठ–31

अलंकृत हो रहा था। इसलिये उसमें इन अत्याचारों के सहने की तथा अहिंसा की दुहाई देने की सामर्थ्य नहीं थी। उसके अन्तर में ज्वाला थी, प्रचण्ड प्रतिशोध की। समाज की ऐसी दयनीय अवस्था में उसे गाँधी और उसके प्रतीक युधिष्ठिर पसन्द नहीं थे। उसे रचे थे तिलक, व उसके प्रतीत अर्जुन व भीम, जो इस कुव्यवस्था को बलपूर्वक उखाड़ फेंकने के लिये अधीर थे। युधिष्ठिर का युद्ध की विभीषिका को देख शान्ति की बात करना दुर्भाग्यपूर्ण है। शोषण और अत्याचारों की इस घोर परम्परा में गाँधी की अहिंसा की बात करना, दिनकर की दृष्टि में स्वजन हितकामना नहीं, अपितु अपने शत्रु को बढ़ावा मात्र ही देना है। इसी कारण दिनकर भीम से उत्तर दिलाते हैं–

''इन कौरवों के ही किए

सब सामने संताप हैं।

फिर व्यर्थ ही इन दुर्जनों से

मोह करते आप हैं।''[1]

अर्जुन के मुख से दिनकर ने कहलवाया–

''हे तात! कैसा आपका

इन कौरवों पर मोह है?

कैसा जग दुर्योधनादिक

दुष्ट पर अनुराग है?

हैं आप पड़ते मोह में,

फूटा हमारा भाग्य है।''[2]

---

1. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ 30
2. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ–28

द्वितीय पद में अर्जुन का सम्बोधन अवश्य ही युधिष्ठिर की ओर है, लेकिन यह दोनों ही पात्र प्रतीकात्मक हैं। क्योंकि कवि के मुख्य लक्ष्य गांधी हैं, जो सरकार के प्रति आन्दोलनों को वापिस लेने की सलाह किसान और मजदूरों को देने लगे थे, तथा किसानों को बकाया लगान की अदायगी के लिए कहने लगे थे।

काव्य के अन्तिम चरण में कवि में एक दार्शनिक रूप का भी अंकुरण होता है। वह गीता को आधार मान, कर्म का प्रबल अनुयायी बनने का प्रयत्न करता है। मोह वह भी युद्ध में, व्यर्थ की बातें हैं–

''रण में दिखाते दीनता,

आती न तुमको लाज है।

तज मोह की बातें सभी,

शर तीव्र धन्वा पर धरो।''[1]

कृष्ण के प्रणभंग के समय दिनकर का निश्चित मस्तिष्क कुछ–कुछ अनिश्चितता पर आ जाता है, तभी तो विचार भी अस्पष्ट ''हुआ अन्त उस महासमर–तम–तोम का, उषा सदृश आ मिली जरा–सी पार्थ को, पर केशव का वह कलंक अक्षय रहा, यद्यपि बचाने को केवल जन–स्वार्थ को।''[2]

जन स्वार्थ यानी जनता के हित के लिये कृष्ण ने अपना प्रणभंग कर दिया कि मैं शस्त्र ग्रहण नही करूंगा। इस कारण गांधी जी को आन्दोलन में कहीं कहीं हिंसा का पुट आ जाने के कारण आन्दोलन वापस नहीं लेना चाहिये। उन्हें अपना अहिंसा का ब्रत तोड़ देना चाहिये। इस प्रकार दिनकर

1. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ–43

2. प्रणभंग–दिनकर, पृष्ठ–50

ने गांधी जी की ओर इंगित करते हुए यह पद की अन्तिम पंक्ति कही, ऐसा प्रतीत होता है।

दिनकर हीनता ग्रन्थि को प्रतिशोध के द्वारा समाप्त कर देना चाहते हैं–

दिनकर की धारणा है कि शान्ति की बातें करने से युधिष्ठिर के निर्वेद और पलायन से शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, अपितु शान्ति स्थापित करने का एक–मात्र साधन प्रतिशोध है। क्योंकि जब तक प्रतिशोध के द्वारा पापाचार समाप्त नही किया जाता, तब तक सच्ची शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है। पापाचार को सहना शान्ति स्थापना के लिए बाधक है। अगर स्वजनों की शान्ति प्रतिष्ठा के लिए प्रण–भंग भी करना पड़े तो कर देना चाहिए, भले ही नैतिक आधार पर वह कलंक कहलाये।

"पर, केशव का कृपापूर्ण प्रण–भंग ही,

इस छोटे–से पद्म–पुष्प का अन्त है।"[1]

अस्तु यह स्पष्ट है कि दिनकर का अहम प्रबल था। उसका प्रक्षेपण हमें 'प्रण भंग' में अर्जुन और भीम के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जिनमें क्रोध, प्रतिशोध और वीरत्व की भावनाओं का प्राधान्य है तथा भय का स्थान नाममात्र को भी नहीं है। संघर्ष व पुरूषार्थ ही उनका जीवन है। कर्म ही पुरुषार्थ है यथा–

"तो वीर–जीवन का कहाँ

रहता हमारा तत्त्व है?

1. प्रण भंग –दिनकर, पृष्ठ 50

इससे प्रकट होता यही

हममें न अब पुरुषत्व है।"[1]

जीवन की खीझ, अपने जीवन की अन्तर्दृष्टि में लेकर दिनकर 'कुरुक्षेत्र' में उतरे–

दिनकर की मनोवृत्ति में काम, क्रोध, मोह और धैर्य का प्रमुख स्थान है। महाभारत के भीष्म में काम, क्रोध और मोह का स्थान नहीं है परन्तु 'कुरुक्षेत्र' दिनकर के भीष्म में ये सभी मनोवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में विद्यमान हैं, जिनके आधार पर उन्हें दिनकर का प्रतीक–पात्र कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए महाभारत के भीष्म बाल–ब्रह्मचारी थे तथा उनका काम से नाम का भी वास्ता नहीं था पर इसके विपरीत कुरुक्षेत्र के भीष्म में दिनकर की कोमल व सुकुमार भावनाएँ विद्यमान हैं जिनका भीष्म ने दमन किया है और वे इस तथ्य पर प्रायश्चित्त करते प्रतीत होते हैं। भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का योग किया था, लेकिन ऐसा करके उन्होंने अपने यौवन को दबाया तथा अपनी सुकुमार आकांक्षाओं का दमन किया जो दिनकर की दृष्टि से उपयुक्त नहीं। इसी कारण दिनकर का कोमल कवि, कुरुक्षेत्र के भीष्म से इसका प्रायाश्चित कराता है। यही तथ्य भीष्म की कुंज बनकर उभरता है, जोकि महाभारत के भीष्म से सर्वथा भिन्न है। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म को इस बात का दुख है कि उन्होंने जीवन में किसी से प्रेम न कर अतृप्त जीवन ही व्यतीत किया।

"वह अतृप्ति थी छिपी हृदय के

किसी निभृत कोने में।

1. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ–51

जा बैठा था आँख बचा,

जीवन चुपके दोने में।''[1]

दिनकर की दृष्टि में प्रेम ही जीवन का उत्कर्ष है, जिसकी अनुपस्थिति में जीवन नीरव ही नहीं अपितु मृतप्राय है। दिनकर के भीष्म के हृदय में अतृप्त काम का द्वन्द्व था। यदि सूक्ष्य रूप से देखा जाये तो दिनकर का भीष्म युद्ध में लड़ने नहीं–अपितु एक प्रकार से किसी–न–किसी भाँति अपने जीवन की खीझ, अपने जीवन की अन्तर्दृष्टि में लेकर आया था जो कि निम्नलिखित पंक्तियों से सुस्पष्ट है–

पर ना जानता था भीतर,

कोई माया चलती है।

भाव गर्व के गहन वितल में,

शिखा छन्न जलती है।

× × ×

कुरूक्षेत्र में नहीं स्नेह पर

मैं भरने आया था।''[2]

दिनकर की मनोवृत्तियाँ निवृत्ति मार्गी नहीं, अपितु प्रवृत्ति मार्गी हैं–

दिनकर के अनुसार सभी सांसारिक वस्तुएँ भोग की सामग्री हैं, उनसे मुक्ति पाना अनुपयुक्त है। दिनकर की यही वृत्ति भीष्म के रूप में युधिष्ठिर को

---

1. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 51
2. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 51

ऐसा ही उपदेश देती है। शारीरिक सुख वाँछनीय है। अन्य दुनियाँ के विषय में निष्फल चिन्तन कर शरीर को कष्ट देना अनुपयुक्त है। उन भावों की कल्पना, जिसे शरीर उपलब्ध न कर सके, कल्पना मात्र है तथा मन के वे महल जिनमें शरीर निवास न कर सके, व्यर्थ हैं। इसलिए वह बुद्धि जो निरी कल्पना के विषय में ही विचार करे अथवा जिसका विचार–स्थल ही शून्य हो व्यर्थ है–

"ऊपर सब कूछ शून्य–शून्य है,

कुछ भी नही गगन में

धर्मराज्! जो कुछ है, वह है

मिट्‌टी में, जीवन में।"[1]

दिनकर का भोगवादी द्वन्द्व

ज्ञानमयी निवृत्ति से चिन्ताओं का ह्रास नहीं होता और न ही संसार को छोड़ने में इच्छाओं का समाधान है, अपितु मानसिक तुष्टि, शारीरिक तुष्टि से ही प्राप्त होती है। जो वस्तु शरीर को प्राप्त नहीं, उसी से मन को चिन्ता होती है, वहीं द्विधा का कारण बनती है। इसीलिए दिनकर की भोगवादी वृत्ति भीष्म के शब्दों में यों उभरती है–

"मन का स्वर्ग मृषा वह, जिसको,

देह न पा सकती है।

इससे तो अच्छा वह जो कुछ,

भुजा बना सकती है।"[2]

1. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 119
2. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 115

क्रोध दिनकर की मनोवृत्ति थी–

जिसका प्रक्षेपण उनके काव्य में अधिकांश स्थलों पर हुआ है, जिसका कारण उनका सामाजिक परिवेश था। 'कुरूक्षेत्र' में उनका आक्रोश ही प्रमुख रूप से उभर कर आया है। 'कुरूक्षेत्र' के भीष्म दिनकर की इसी वृत्ति का प्रतिपादन करते हैं, जो कि महाभारत के भीष्म से सर्वदा भिन्न है। गीता में क्रोध को काम की भाँति मनुष्य का शत्रु कहा है। यथा–

"क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।

स्मृति भ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति।।"[1]

(अर्थात्, क्रोध से अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है। दूसरों की दृष्टि से मृतप्राय हो जाता है।)

लेकिन दिनकर इसे मान्यता नहीं देते हैं। उनकी दृष्टि में यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो कि व्यक्ति के जीवन के विकास के लिए परम आवश्यक है।

प्रतिशोधका आधार ही क्रोध है–

दिनकर के विचार से प्रतिशोध का आधार क्रोध है। प्रतिशोध से पौरुष का विकास होता हैं–

"प्रतिशोध से ही होती शौर्य की शिखाएँ दीप,

प्रतिशोध–हीनता नरों में महा पाप है।

---

1. गीता, अध्याय 2, श्लोक 63

छोड़ प्रतिबैर पीते मूक अपमान वे ही,

जिनमें न शेष शूरता का वन्हि–ताप है।

हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिषाप है।''[1]

अपने किसी भी काव्य में दिनकर ने बुद्धि पर और विवेक पर बल नहीं दिया है। उनके अनुसार युद्ध में धर्म नहीं, क्योंकि धर्म शान्ति का उपदेश है, लेकिन वह शान्ति आरोपित शान्ति है, मन की नहीं। 'कुरुक्षेत्र' में इसी शान्ति को उखाड़ फेंकने का संकेत दिनकर ने दिया है तथा सांसारिक वस्तुओं को भोग तथा शरीरिक उपलब्धियों को शून्य चिन्तन के विपरीत श्रेष्ठ कहा है।

आक्रोश व प्रतिशोध दिनकर की मनोवृत्ति के दो मुख्य लक्षण है–

दिनकर को अवसर की उपयुक्तता की परख है, वे युद्ध कालीन धर्म–अधर्म को समझते हैं, उनकी दृष्टि में अवसर बलवान है, उसे खोना नहीं चाहिए। इसीलिए निहत्थे कर्ण पर अर्जुन से वार करने को कहते हैं–

''कहूँ जो, पाल उसको, धर्म है यह।

हनन कर शत्रु का सत्कर्म है यह।

क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा,

उलटकर काल तुझको ही ग्रसेगा।''[2]

प्रतिशोध दिनकर की मनोवृत्ति है। उपर्युक्त छन्द में दिनकर की इन्हीं वृत्तियों का प्रक्षेपण है। दिनकर आवेग के कवि हैं, जिनमें चिन्तन की कमी है,

---

1. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 27
2. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ–107

कर्म उनका प्रधान लक्षण है। इसी कारण कृष्ण मुख से वे निहत्थे कर्ण पर वार करने को कहते हैं तथा इसे ही सत्कर्म बतलाते हैं। कृष्ण ही अर्जुन की ग्लानि को समझ उसे समझाते हैं कि धर्म एक ही वर्ग की वस्तु नहीं, अपितु उसका पालन समान रूप से सभी को करना चाहिए। कौरवों ने कौन से धर्म का सहारा लिया और कैसी–कैसी यातनायें पाण्डवों को नहीं सहनी पड़ीं। इसलिए ऐसी स्थिति में धर्म की बात सोचकर मन को क्लेश नहीं देना चाहिए। अतः कृष्ण फिर अर्जुन से प्रतिशोध के लिए कहते हैं–

"शिथिल कर पार्थ! किंचित् भी न मन तू।

न धर्माधर्म में पड़ भीरू बन तू।

कड़ा कर वक्ष को, शर मार इसको,

चढ़ा शायक, तुरत संहार इसको।"[1]

दिनकर सरकार के हाथों बिके थे–

कभी–कभी मनुष्य परिस्थितिवश प्रतिकूल राह पर चल देता है, ये परिस्थितियाँ उसे सद्मार्ग पर चलने से रोकती है। मनुष्य सत्य और न्याय का पक्ष भी खुलकर नहीं ले पाता है। यदि इसी सन्दर्भ में हम देखें तो दिनकर के विवश आँसू हमें भीष्म की आँखों में दीख पड़ते हैं। दिनकर सामन्तवादी परम्परा मे उसी सरकार के कर्मचारी थे जो देश में विप्लव का कारण थी। उनका हृदयत्रस्त, पीड़ित जनमानस के साथ था, लेकिन उनके होठों पर जीवनयापन की मुहर बन्द थी, शरीर से वे सरकार के हाथों बिके हुए थे– ऐसी ही विषम स्थिति का चित्रण दिनकर भीष्म के मुख से कराते हैं–

---

1. रश्मिरथी–दिनकर, पृष्ठ–116

"सच है, था चाहता पाण्डवों

का हित में सन्मन से।

पर दुर्योधन के हाथों में

बिका हुआ था तन से।"[1]

दिनकर भाग्यवाद के विरोधी थे–

दिनकर भाग्यवाद के कट्टर विरोधी थे। चूंकि सामन्तवादी युग में भूमि पर राजाओं और उनके वंशजों का एकाधिकार था। जमींदारी प्रथा का जन्मवंशवाद से था। भूमि पर अधिकार वंशवाद का ही था। इसके पीछे दार्शनिक तत्व था कि श्रेष्ठ भाग्य के कारण व्यक्ति उच्चकुल और राज्यवंश तथा जमीदारों के घर उत्पन्न होते हैं। लेकिन दिनकर ने भाग्य को छलना का अपर रूप माना है। उसकी समझ में समूचे नर–समाज का भाग्य एक है और वह है श्रम, भुजबल। व्यक्तिगत संचय सामाजिक चोरी है और चौर्य वृत्ति का विनाश आवश्यक है। समाज में निशंक होकर सभी को जीने का अधिकार प्राप्त है–

" है सबको अधिकार मृत्ति का,

पोषक–रस पीने का,

विविध अभावों से अशंक हो–

कर जग में जीने का।"[2]

---

1. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ 52
2. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ 126

दिनकर ने कर्म को जीवन में अनिवार्य माना है–

उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' में कर्म को अपरिहार्य माना है। जिस प्रकार तिलक ने गीता को कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादक ग्रंथ सिद्ध किया है, उसी प्रकार दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम् सर्ग में निवृत्ति का खंडन और प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है–

"एक पंथ है, छोड़ जगत् को
अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और
निज को ही सुखी बनाओ
अपर–पंथ है औरों को भी,
निज विवेक बल देकर,
पहुँचो स्वर्ग–लोक में जग से
साथ बहुत को लेकर।"[1]

कवि ने इस प्रवृत्ति–मार्ग के द्वारा कर्मयोग की ओर संकेत किया है। यथा–

"जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो,
निकल भावना वन में,
धर्मराज, है घोर पराजय,
नर की जीवन–रण में।
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन,

1. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ 148

का यह कुत्सित क्रम है,

निःश्रेयस यह भ्रमित, पराजय,

विजित बुद्धि का भ्रम है।"[1]

निवृत्ति मार्ग पर प्रकाश डालते हुए दिनकर ने सन्यास को अकर्मण्यता की संज्ञा दी है–

"भ्रमा रही है तुमको विरक्ति जो,

वह अस्वस्थ, अब है,

अकर्मण्यता की छाया, वह

निरे ज्ञान का छल है।"[2]

दिनकर निवृत्ति औ प्रवृत्ति के द्वन्द्वात्मक विचारों में प्रवृत्ति को श्रेष्ठ मानते हैं और उन्होंने इसे जीवन के लिए सब प्रकार से श्रेयस्कर सिद्ध किया है। संसार को त्यागकर आत्म–विकास की चेष्टा करना उतना महत्वपूर्ण नही है जितना महत्वपूर्ण संसार में रहकर अपने जीवन और अपने आस–पास के मनुष्यों के जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाना है। दिनकर की जीवन–निष्ठा भी प्रवृत्ति मार्गी है। वैराग्य को वे पलायन का पर्याय मानते हैं।

कवि कर्म की निरपेक्ष स्थिति को स्वीकार करते हुए कहता है कि कर्म अपने आप में निरपेक्ष है। उसके शुभ–अशुभ का निर्णय कर्ता की भावना पर निर्भर करता है। वह अपने आप में न पाप है और न पुण्य। कर्म शुभ वही है जो शुभ बुद्धि से किया जाय, चाहे वह युद्ध ही क्यों न हो। यही कारण है कि बुद्धि में समरसता का समावेश कर लेने से व्यक्ति पाप और पुण्य से ऊँचा उठ

1. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ 154
2. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ 158

जाता है। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के माध्यम से यही भाव व्यक्त करवाकर युधिष्ठिर की युद्ध–विषयक जिज्ञासा का समाधान करने का प्रयत्न किया है–

" है मृषा तेरे हृदय की जल्पना

युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है,

क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,

जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो।

सत्य ही भगवान ने उस दिनकहा,

मुख्य है कर्ता हृदय की भावना,

मुख्य है यह भाव, जीवन युद्ध में,

भिन्न हम कितना रहे निजकर्म से।"[1]

कवि की दृष्टि में कर्म अनिवार्य है, उसे हेय दृष्टि से नही देखा जा सकता है। लेकिन उसका सम्पादन बुद्धि से ही होना चाहिए। 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म ने युधिष्ठिर को जिस कर्मयोग का सन्देश दिया है, उनमें लोक–संग्रह की भावना विद्यमान है। उन्होंने कर्मयोगियों के लिये लोक–संग्रह की भावना को ही अभिनन्दनीय स्वीकार किया है–

"जिन को ही देखो युधिष्ठिर!

देखो निखिल भुवन को,

स्वत् शान्ति–सुख की ईहा में,

निरत, वयग्र जन–जन को।"[2]

1. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 19–20.
2. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 149

× × ×

जाओ, शमित करो निज ताप से,

नर के रागानल को

बरसाओ पीयूष, करो

अभिसिक्त दग्ध भूतल को।"[1]

"दिनकर भाग्यवाद के विरोधी और पुरूषार्थ के समर्थक हैं।"[2]

पूर्व जन्म के कर्मों का फल किसी घटना में निहित रहता है अथवा भाग्य जीवन की समस्त घटनाओं का नियमन करता है, इस मान्यता को दिनकर हानिकारक मानते हैं। जो निष्क्रिय होते हैं वेही कर्म से पलायन करते हैं और दैव या भाग्य की बात कहते हैं। भाग्यवादी केवल अपने जीवन को ही निष्क्रिय और पलायन नहीं बनाता प्रत्युत् वह अपनी निष्क्रियता को उचित सिद्ध करने के अभिप्राय से भाग्यवाद का प्रचार करता है। और इस प्रकार सामाजिक जीवन को भी निष्क्रिय बनाता और विघटित करता है। पूर्व जन्म के सुख अथवा दुख प्राप्ति का तर्क देकर शोषक, शोषितों का शोषण करते हैं और अपने शोषण–चक्र के विरूद्ध किसी को उठ खड़ा होने, मुँह खोलने का अवसर नहीं देते। यही कारण है कि कवि पूर्व जन्म–कर्म–फल और भाग्यवाद की निन्दा करता है–

"भाग्यवाद आवरण पाप का

---

1. कुरूक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 173
2. खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ, विश्वम्भर मानव, पृष्ठ 102

और शस्त्र शोषण का,

जिससे रखता दबा एक जन

भाग्य दूसरे जन का।''[1]

शोषक अपने भाग्य को अच्छा कहकर, सुख–भोग करते हैं और शोषितों को, बुरे भाग्य के कारण, दुख भोगने के लिए छोड़ देते हैं। कवि की समझ से अच्छे और बुरे भाग्य की माया शोषकों की स्वार्थ–वृद्धि से उत्पन्न हुई है।– अतः खोखली है। वह कर्मशीलता को मानता है। कारण वह उसके सम्मुख पृथ्वी की कौन कहे आकाश तक का विनीत बनते देख चुका है–

''नर–समाज का भाग्य एक है

वह श्रम, वह भुज–बल है,

जिसके सम्मुख झुकी हुई–

पृथ्वी विनीत नभतल है।''[2]

कर्ण भुजबल को भाग्य से भी अधिक बली मानता है और उसी से संसार पर विजय पाना चाहता है। दिनकर कुलगोत्र से बड़ा होना स्वीकार नहीं करते हैं। वे कर्ण के माध्मय से कहते हैं–

''कुल–गोत्र नहीं साधन मेरा,

पुरुषार्थ एक बस धन मेरा,

कुल ने तो मुझे फेंक दिया,

मैने हिम्मत से काम लिया।।''[3]

---

1. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 132
2. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ 40
3. रश्मिरथी– दिनकर, पृष्ठ 40

दिनकर जानते—मानते हैं कि उद्यम, पौरुष में विधि के अंक, किस्मत के पाशे तक को पलट देने की क्षमता निहित है—

"बाहों को, पर कहीं भाग्य से बली मानता हूँ मैं,

महाराज, उद्यम से विधि का अंक पलट जाता हैं।

किस्मत का पाशा पौरूष से हार पलट जाता है।"[1]

फ्रायड की भांति दिनकर भी काम को ही परम पुरुषार्थ मानते थे—

दिनकर का मत है कि जीवन की गति धर्म से नहीं, अपितु काम से ही है। इसलिये काम ही धर्म के स्थान पर मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। दिनकर का काम के विषय में यह अभिमत तथा काम को अध्यात्म कहना साहित्य में विभिन्न क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का कारण बना। तदर्थ, सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि दिनकर ने काम का कौन सा रूप प्रस्तुत किया, जो कि साहित्य में विषद चर्चा का विषय बना, जिसने इस क्षेत्र में एक वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न की।

दिनकर के काम रूपी मानसिक द्वन्द्व ने कामाध्यात्म की उत्पत्ति की—

"दिनकर नारी से 'नानारव' से आक्रान्त मानव थे। इन्द्रिय के सुखों से उठी नाना—ध्वनियों को वे शरीर की शिराओं से पीते थे और उससे आगे किसी अव्यक्त अमूर्त आनन्द लोक में वे जीते भी थे।"[2] इस वाक्य में दो बातें

1. रश्मिरथी— दिनकर, पृष्ठ 54
2. धर्मयुग— दिनकर— स्मृति अंक 29 सितम्बर, 1974, लेखिका—कमलारत्नम, पृष्ठ 19.

महत्वपूर्ण हैं– एक–इन्द्रिय सुखों से उठी नाना ध्वनियों को शरीर की शिराओं से पीना, तथा दो–अमूर्त अव्यक्त आनन्द। जहाँ तक शारीरिक शिराओं का सम्बन्ध है, वह निश्चय ही नारी शरीर से सम्बन्धित है, तथा अव्यक्त आनन्द का सम्बन्ध उनके कल्पना जगत से लक्षित होता है, जिसका उत्कर्ष कामाध्यात्म में है। इन दोनों का संयुक्त स्वरूप हमें 'उर्वशी' के पुरुरवा में प्राप्त होता है, जिसे हम दिनकर का पर्याय मान सकते हैं। उर्वशी की कथावस्तु पौराणिक है तथा उसका मुख्याधार कालिदास कृत –'विक्रमोर्वशीय' है। लेकिन कालिदास व दिनकर के पुरुरवा में आकाश पाताल का अन्तर है। ''विक्रमोर्वशीय' का पुरुरवा वीर और प्रतापी है, जबकि 'उर्वशी' के पुरुरवा में ये गुण किंचित मात्र भी दृष्टिगत नहीं होते, उसमें अर्धनारीश्वर की भावना विद्यमान है, जिसकी वकालत दिनकर यथास्थान करते चले आये हैं। काम–चिन्तन दिनकर के पुरुरवा का मुख्य लक्षण है। वह अपनी प्रेयसी से मिलने को व्याकुल है, परन्तु प्रयत्नशील नहीं। इसके अतिरिक्त प्रेयसी के आलिंगन मे बद्ध होकर भी मन से कहीं दूर चला जाता है जो अर्ध–नारी–भावना का प्रतीक है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुरुरवा ही दिनकर हैं।

'काम' के विषय में सर्वप्रथम दिनकर की अधोलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं–

''रूप साकार कवित्व है और सौन्दर्य की लहर दर्शन की लहर से मिलती जुलती है। नारी मुस्कराती है तब पृथ्वी पर स्वर्ग का दरवाजा खुल जाता है। नारी जब बाँह बढ़ाती है तब दृश्य और आदृश्य के बीच सेतु बन जाता है। मन में कल्पना का वहाँ भी कोई कक्ष है, उसके दरवाजे पर एक

नारी है। जीवन में रस की जहाँ भी कोई धारा बहती है, उसके उत्स पर किसी रमणी का लाल–लाल पाँव है।''[1]

यह स्पष्ट है कि दिनकर कामानंद को केवल कायिक सुख नहीं मानते, अपितु वह आलौकिक आनन्द है। वह सहसा मनुष्य को सुख की उस अनुभूति तक बहाकर ले जाता है जो कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। इसी तथ्य को उर्वशी में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया गया है–

''यह अतिक्रान्ति वियोग नही, आलिंगन नर नारी का,

देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है।

× × ×

ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,

वहाँ जहाँ कैलाश प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,

और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।''[2]

''मनुष्य के पास शक्ति का जो स्रोत है, उसे ही काम कहते हैं, इसके बूते पर आदमी खेतों में हल जोतता है, फलक पर तूलिकाओं द्वारा रंग उड़ेलता है और मोक्ष एवं परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। काम की शक्ति दुर्लभ शक्ति है, जीवन में जहाँ भी रस का स्रोत हैं, वहाँ काम की माया का ही प्रसार है।''[3] काम ही अपने वृहत् अर्थ में जीवन है तथा समाज की श्रृंखला का कर्णधार, अपने सूक्ष्म अर्थ में यही प्रणय है, जीवन की सबसे मधुमय मुस्कान। दर्शन में यही प्रकृति और परमेश्वर का मिलन है, जहाँ न समय है न साकार,

1. उजली आग–दिनकर, पृष्ठ–23.
2. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –61
3. ज्योत्सना, दिनकर, विशंषांक, डा0 विजयेन्द्र नारायण सिंह प्र0, 1974

जहाँ बिन्दु और ब्योम सभी एक हैं, बस एक ही आनन्द–सच्चिदानन्द।

आध्यात्म आत्म–चिंतन है, जिसे हम दूसरे शब्दों में दर्शन कहते हैं। दर्शन वह मार्ग है जो कि दुःख, ध्वंस सुखानुभूति के मार्ग का अन्वेषण करता आगे चलता है। इसका मुख्य विषय आत्मा के लिए सुख की खोज है, न कि उसके लिए सुख और भोगों की निवृत्ति। दर्शन निवृत्ति को कहता ही कब है, वह तो आनन्द के द्वार खोजता और खोलता चलता है। वह काम का विध्वंसक रूप नहीं अपितु व्यक्ति को व्यक्ति से मिलाता है, मोक्ष का सोपान है। वही मोक्ष, जहाँ समय है न गति; जहाँ वाह्य गहन अन्धकार के मध्य अन्तः ज्योति के पुंज पुलकित होते हैं; जहाँ मानव की सानन्द समाधि है और वह अपने आप में खो जाता है। अतः दर्शन के मार्ग में आनन्द की ऊर्जा का कार्य भी काम ही करता है। काम अन्त में आत्मा से प्रेम व परमात्मा से विलय की स्थिति है, अध्यात्म के नाम पर त्याज्य नहीं, क्योंकि वही स्वयं में आत्म ज्योति भी है, आत्मा की शक्ति है।

अतः काम व आध्यात्म में विलगाव नही, वे एक दूसरे के सहगामी हैं। उपुर्यक्त तथा की पुष्टि दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियों में होती है–

''यह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की,
नींद टूट जाती, राहों में दीपक जल उठते हैं?
वह आलिंगन अन्धकार है, जिसमें बँध जाने पर,
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं
और कहोगे तिमिर–शूल उस चुम्बन को भी जिससे,
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन–मन की खुल जाती है''[1]

1. उर्वशी–दिनकर, पृष्ठ–45

मनुष्य की आत्मलीन स्थिति क्या होती है? उसकी समाधि–अवस्था क्या होती है? वह चंचल अचल है। समाधि में मनुष्य की बुद्धि तथा मन की चंचलता दोनो स्थिर और प्रायः लुप्त हो जाती है। वह समाधि की स्थिति में खोया हुआ अबोध रहता है। आत्मा की यह अबोध निर्लिप्त अवस्था तथा मन का स्थितप्रज्ञ होना अथवा करना ही तो आध्यात्मवाद का अभीष्ट विषय है। मन की इसी शान्ति के लिए तो अर्जुन कृष्ण से गीता में उपाय सुझाने को कहते हैं। यथा–

''स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशवः।

स्थितर्थाः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम्।।''[1]

अर्जुन बोले हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त करते हुये स्थिर बुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है। कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली–भांति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। जहाँ पहुँचकर प्रत्येक नर का रूप कल्याणकारी शिव का रूप हो जाता है व प्रत्येक नारी शक्ति स्वरूपा हो। जहाँ उसकी आत्मा परमात्मा से अंशमात्र ही नहीं वरन उसी में एक रूप हो जाती है। पुरुरवा उर्वशी के साथ इसी रहस्य का उद्घाटन करता है जिसकी पृष्ठभूमि दिनकर की आत्मिक अभिव्यक्ति है–

''यह अतिक्रान्त वियोग नहीं शोणित के तप्त ज्वलन का,

परिवर्तन है स्निग्ध शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।

निन्दा नहीं प्रशस्ति प्रेम की छलना नहीं, समर्पण,

---

1. गीता अध्याय–2, श्लोक 54

त्याग नहीं संचय : उपत्यकाओं के कुसुम द्रुमों को,

ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर।।''[1]

पुरुरवा के साथ उर्वशी को ऐसा अनुभव हुआ जैसे उद्गम पर बजते जल का नाद वह पहली बार सुन रही हो–

''प्रथम–प्रथम ही सुनानाद उद्गम पर बजते जलका,

प्रथम–प्रथम ही आदि ऊषा की द्युति से भींग रही हूँ।

तन की शिरा–शिरा में जो रागनियाँ बन्दी बड़ी थी,

कौन तुम्हारे बिना उन्हें उन्मोचित कर सकता था।''[2]

दिनकर की पत्नी और प्रेयसी का द्वन्द्व–

दिनकर की प्रेमिका पुरुरवा की प्रेमिका उर्वशी का रूप लेकर उभरी और दिनकर की पत्नी का रूप लेकर पुरुरवा की पत्नी ओशीनरी का 'उर्वशी' नाम प्रबन्ध काव्य में पदार्पण हुआ। दिनकर की पत्नी और प्रेयसी के रूप में ओशीनरी तथा उर्वशी का युद्ध है। दिनकर रूपी पुरुरवा इन दोनो के मध्य द्वन्द्वग्रस्त आधुनिक व्यक्ति है, जो दोनों ओर देखता है लेकिन सफलता सदैव सफल व्यक्ति को ही मिलती है। पुरुरवा अपनी प्रेमिका उर्वशी को ही प्राप्त हुआ, न कि रानी ओशीनरी को। ओशीनरी के शब्दों में–

''पर क्या जाने ललक जगाना नर में गृहणी नारी।

जीत गयी अप्सरा सखी! मैं रानी बन कर हारी।''[3]

औशीनरी मात्र आश्रिता बन कर रह जाती है। उसमें आनन्द, शान्ति

---

1. उर्वशी– दिनकर, पृ0 61
2. उर्वशी– दिनकर, पृ0 62–63
3. उर्वशी–दिनकर, पृष्ठ 34

व ताजगी सभी का अभाव है, जबकि उर्वशी के व्यक्तित्व में तीनो का मिश्रण है, वह व्यवहारिक है, अपने पति के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल सकती है, उसे आनन्दित कर सकती है तथा उसे ताजगी प्रदान कर सकती है। इन गुणों के न रहने पर ही ओशीनरी हार जाती है व सिर धुनती हुई कहती है–

"जीत गयी वे जो लहरों पर मचल–मचल चलंती थी
उड़ सकती थी खुली धूप में, मेघों भरे गगन में।
हारी मैं इसलिए कि मेरे ब्रीड़ा–विकल द्रगों में,
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।"[1]

गृहस्थ जीवन का आधार नारी हैं नर नहीं। यह वह स्थल है जहाँ कर्म आश्रित होता है। सुकन्या ओशीनरी से कहती है–

"इसलिये दायित्व गहन–दुस्तर गृहस्थ नारी का
क्षण क्षण सजग, अनिद्र–दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहाँ है व्यथा? समर से लौटे हुए पुरूष को,
कहाँ लगी है प्यास, प्राण में काँटे कहाँ चुभे हैं।"[2]

ओशीनरी एक भारतीय नारी का रूप है। ओशीनरी की उक्त मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि भारतीय नारियों में प्रतिक्षण देखी जा सकती है। दिनकर की तरह पुरुरवा भी एक कामुक व्यक्ति है। दिनकर अपनी पत्नी में भारतीय नारी के गुण विद्यमान रहने देना चाहते है परन्तु वे प्रेमिकाओं को भारतीय नारी के रूप में देखना पसन्द नहीं करते हैं इसी कारण दिनकर ने उर्वशी ऐसी दिव्य अप्सरा को चुना जो देवलोक की नर्तकी है। उर्वशी का व्यक्तित्व

1. उर्वशी–दिनकर, पृष्ठ 153
2. उर्वशी–दिनकर, पृष्ठ 155

पूर्ण है, वह सबल, शाश्वत व आत्मविश्वास–पूर्ण है, वह ओशीनरी की तरह मूक आश्रिता नहीं है। वह प्रिय के प्रत्येक श्वास का मर्म जानती है और उसी के अनुरूप रहती है। पुरुरवा के अंतः मन की पीड़ा को समझ, उससे आलिंगन को और दृढ़ करने को कहती है, पुरुरवा की मानसिक ग्रन्थि को दूर कर, उसे एक ताजगी प्रदान करना चाहती है–

"पर मैं बाधक नहीं, जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में,

वक्षस्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो।

कसे रहो बस, इसी भाँति उर–पीड़क आलिंगन में,

और चलाते रही अधर–पुट को कठोर चुम्बन से।'[1]

प्रथम–प्रथम में पंक्तियाँ जरा अश्लील सी लगती है, परन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह मूल्यवान है, क्योंकि ये उर्वशी के परिपक्व मस्तिष्क का परिचय मात्र हीं नहीं देती अपितु उसकी प्रिय–बोध ग्राह्यता का भी परिचय देती है। वह दर्द समझ उपचार भी करती है जीव व परमात्मा के मध्य महासेतु बनकर, बाधक बनकर नहीं। पुरुरवा की दृष्टि में उर्वशी का यही रूप समाया हुआ है–

"सत्य ही रहता नहीं यह ज्ञान,

तुम कविता, कुसुम या कामिनी हो।"[2]

दिनकर के प्रबन्ध–काव्यों में दिनकर के पात्रों में कृष्ण (प्रणभंग), कर्ण (रश्मिरथी), भीम (कुरुक्षेत्र) तथा पुरुरवा (उर्वशीं) मुख्य हैं। संयोग वश दिनकर का भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम के कारण इन सभी के कथानक

1 उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ 62

2. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ 50

प्राचीन पौराणिक हैं परन्तु उनके पात्रों में दिनकर की मानसिकता का पुट हैं जो दिनकर के चरित्र का प्रतिपादन करती है। दिनकर द्वन्द्व के कवि थे। परिवार से द्वन्द्व, पत्नी से द्वन्द्व, सरकार से द्वन्द्व, सवर्णों से द्वन्द्व, सामन्तों से द्वन्द्व रहा है। उसी के अनुरूप उन्होंने पौराणिक पात्रों के मुख से इन्हीं द्वन्द्वात्मक स्थितियों का निराकरण किया है।

शिल्पात्मक प्रयोगपरक द्वन्द्व

दिनकर द्वन्द्वात्मक कवि थे। उनके मन में भूखे मरने वाले कृषक और मजदूरों को देखकर सामन्तवादी व्यवस्था का द्वन्द्व था। विदेशी सरकार शोषणवादी होने के कारण इस अन्याय के विरुद्ध भी वैचारिक द्वन्द्व था। पत्नी से पटती नहीं थी। छोटी आयु में विवाह हो गया था। जब जबानी आई तो उनका आकर्षण एक अति सुन्दर कन्या के साथ हो गया। दिनकर सम्पूर्ण परिवार (बाबा की समस्त सन्तानों) का भार उठाते थे यही पत्नी को नागवार गुजरता था। पत्नी से मानसिक तनाव रहता था। फिर दिनकर पत्नी के साथ धर्म नहीं निभा पा रहे थे क्योंकि सारा धन परिवार पर व्यय होता था। इन्हीं कारणों से दिनकर की मानसिक सन्तुष्टि पत्नी नही कर पायी, जिसके कारण शारीरिक सन्तुष्टि के अवसर कम हो गये। दिनकर जी की इसी मानसिक द्वन्द्वता के कारण शिल्पात्मक प्रयोग में एक रूपता नहीं रह पाई। चूंकि दिनकर के वैचारिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के द्वन्द्व थे। इस कारण दिनकर की भाषा आदि भी स्थान स्थान पर उसी अनुरूप होती चली गई।

भाषा

सन् 1936 तक छायावादी काव्य भाषा की दृष्टि से भी चुक गया था। दूरारूढ़ कल्पना के भार–वहन हेतु छायावादी भाषा को भी बारीक कातने का

अभ्यास हो गया था। इस भाषा के कृत्रिम अभिजात्य की सतह को तोड़ने का उपक्रम चार प्रमुख कवियों ने किया दिनकर बच्चन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' और नरेन्द्रशर्मा। इनमें भाषा के स्तरों की भिन्नता के सबसे अधिक आयाम दिनकर मे उपलब्ध होते हैं। दिनकर के लिए भाषा मात्र माध्यम नहीं है वह उनकी कविता की वक्तृत्व शक्ति की भी वाहक थी। छायावादी कवियों की सघन और पारदर्शी भाषा की प्रतिक्रिया में दिनकर द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और छायावादी सुकुमारता दोनों का खमीर लेकर भाषा के क्षेत्र में आये। इसीलिए वे भाषा क्षेत्र में प्रयोगधर्मी माने जायगे।

पौराणिक–

ऐतिहासिक कथानकों पर आश्रित काव्यों में भी दिनकर की भाषा बहुस्तरीय रही है। इसका प्रमुख कारण दिनकर की द्वन्द्वात्मक स्थिति थी। उर्वशी में काम का द्वन्द्व था। इसी ने दिनकर के साहित्य में कामाध्यात्म उत्पन्न किया दिनकर ने काम को मानवीय शक्ति के रूप में चित्रांकन किया। काम के इस चित्रांकन को कामरूपी चालू शब्दों का प्रयोग न कर दिनकर ने तत्सम–बहुल भव्य भाषा का प्रयोग किया है। कुरुक्षेत्र में दिनकर सामन्तशाही के विरोध स्वरूप और युद्ध (महाभारत) का चित्रांकन में भी दिनकर की भाषा 'कुरुक्षेत्र' में सहज गतिमयी प्रसादपूर्ण भाषा हो गई। रसबन्ती दिनकर की रचना शान्तिकालीन रचना थी। इसमें दिनकर ने मधुर शब्दावली का प्रयोग किया है नये सुभाषित तथा एनार्की जैसी कविताओं में चलती हुई भाषा शैली का प्रयोग किया है। इसे सावित्री सिन्हा की दृष्टि में परिलक्षित करिये– ''उर्वशी' का तत्सम–बाहुल्य भव्य भाषा, 'कुरुक्षेत्र' की सहज गतिमयी प्रसादपूर्ण भाषा, 'रसबन्ती' की मधुर शब्दावली और नये सुभाषित तथा एनार्की जैसी

कविताओं की चलती हुई भाषा, तीनों के रूप अलग अलग है।''[1] प्रबन्ध काव्यों और स्फुट कविताओं दोनों में उन्होंने जहाँ एक ओर भाषा को संस्कृत के अभिजात्य में पागकर पौराणिक और ऐतिहासिक श्रोतों को विश्वसनीयता प्रदान की है। वही भाषा में आधुनिक युग की रचना धर्मिता को व्यक्त करने का प्रयास भी दिनकर ने पूरी ईमानदारी के साथ किया है।

उर्वशी और कुरुक्षेत्र दोनों पौराणिक कथानकों पर आश्रित प्रबन्ध काव्य में कवित्व और चिन्तन का मणिकांचन योग है ऐसी स्थिति में दिनकर के उर्वशी और कुरुक्षेत्र की भाषा में एक रूपता होनी चाहिए थी जो नहीं मिलती है। 'उर्वशी' की भाषा का उदाहरण देखिये–

''हम त्रिलोकवासी, त्रिकालचर, एकाकार, समय से भूत, भविष्यत्, वर्तमान, तीनों के एकार्णव में तैर रहे संपृक्त सभी वीचियों, कणों, अणुओं से समा रही धड़कने उरों की अप्रहित त्रिभुवन में काल–रन्ध्र भर रहा हमारी सासों के सौरभ से।''[2]

यहाँ कथा का सन्दर्भ पौराणिक होने तथा दर्शन की सहज गंभीरता के कारण भाषा में संस्कृत शब्दों का अभिजात्य अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ विद्यमान है। किन्तु कुरुक्षेत्र में कथा का आधार पौराणिक होते हुए भी वहाँ–भाषा में शब्दों की पच्चीकारी नहीं मिलती। वहाँ विचार के प्रवाह के साथ भाषा भी इठलाती हुई बहती है।

''सावधान मनुष्य यदि विज्ञान है तलवार,,

तो इसे दे फेंक, तजकर मोह, स्मृति के पार।

---

1. युगचारण दिनकर–सावित्री सिन्हा, पृष्ठ–224
2. उर्वशी – दिनकर, तृतीय अध्याय, पृ0 55

हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान

फूल–काँटों की तुझे भी नहीं पहचान।"[1]

यहाँ भाषा परम्परा से अर्जित नहीं बल्कि पारम्परिक कथ्य को आधुनिक भाषा प्रदान की गई है। भाषा यहाँ पारम्परिक कथ्य की सीमाओं का अतिक्रमण करके आधुनिक युग–सन्दर्भों को वहन करने में समर्थ हो सकी है।

दिनकर की भाषा में कही आयास नहीं है। "वे किसी भी परिस्थिति पर तुरन्त प्रतिक्रिया करते हैं। उनकी कविता उन्हीं प्रतिक्रियाओं का कलात्मक प्रतिफलन भर है,"[2] यही कारण उनकी काव्य भाषा में कही दुबोधता नहीं होती या उलझन नहीं होती। यही कारण है कि वे हिन्दी के नवीनतम कवि हैं जो प्रत्येक स्तर के व्यक्ति तक पहुँचे हैं।

जिस द्वन्द्वात्मक भाव से उत्पन्न काव्य की रचना हुई। उसे पूर्णतया निभाने के लिए जिस प्रकार की भाषा का उपयोग विचार प्रवाह को आगे बढ़ा सके उसका प्रयोग दिनकर जी ने किया है। भाषा की सतह को तोड़कर नवीन काव्य भाषा का सूत्रपात दिनकर जी ने अपने काव्य में किया है। नवीन काव्य भाषा का सूत्रपात की सफलता के लिये दिनकर ने गुरुतर दायित्व का निर्वाह करने हेतु नवीन और ताजे मुहावरों की रचनाकर भाषा में प्रयोग किया है। यथा–

क) **"एक घाट पर किस राजा का रहता बंधा प्रणय है।"[3]**

ख) **"थके सिंह आदर्श ढूढ़ते व्यंग्य बाण सहते हैं।"[4]**

---

1. कुरुक्षेत्र – दिनकर, पृष्ठ 71
2. दिनकर : (जीविनी और व्यक्तित्व– सावित्री सिन्हा) – मन्मथनाथ गुप्ता, पृष्ठ 9
3. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ–22
4. कुरुक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ–48

ग) **"जिस नर की बाँह गयी मैने"**[1]

उनके पौराणिक –ऐतिहासिक काव्य में सामान्यतः अभिधा और लक्षणा का प्रयोग हुआ हैं। उर्वशी में अभिधा शक्ति भी सौन्दर्य और मिठास में पगकर आई–

"कुसुम और कामिनी बहुत सुन्दर दोनों होते हैं,
पर तब भी नारियाँ श्रेष्ठ हैं कहीं कान्त कुसुमों से,
क्योंकि पुष्प है मूक और रूपसी बोल सकती है,
सुमन, मूक सौन्दर्य और नारियाँ सवाक सुमन हैं।"[2]

'परशुराम की प्रतीक्षा' से एक लक्षणा का उदाहरण लीजिए–

"है जिन्हें दाँत उनसे उदन्त कहते हैं,
यानि सूरों को देख सन्त कहते हैं,
तुम तुड़ा दाँत क्यों नहीं पुण्य पाते हो,
यानि तुम भी क्यों भेड़ न पाते हो,
पर कौन शेर भेड़ों की बात सुनेगा,
जिन्दगी छोड़ मरने की बात चुनेगा।"[3]

सचमुच दिनकर की छायावादी भाषा की जटिलता की प्रतिक्रिया में उपयुक्त काव्य भाषा के विधायक थे। "यदि यह कहा जाय तो उत्युक्ति न होगी कि दिनकर जी ने छायावाद की लाक्षणिक शैली के दूरान्वय, अस्पष्टता

---

1. रश्मिरथी दिनकर, पृष्ठ–41
2. उर्वशी– दिनकर ,पृष्ठ 84
3. परशुराम की प्रतीक्षा– दिनकर, पृष्ठ 26

और अत्यधिक साँकेतिकता समर्थ भाषा का निर्माण किया जिसके कारण छायावाद परवर्ती कवियों में दिनकर का स्थान शीर्ष पर रखा जाता है।'[1]

बिम्बविधान–

दिनकर के अतृप्त काम ने ही साहित्य के सारे क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न की है। दिनकर की एक प्रेमिका थी, सर्व सुन्दरी। उसका विवाह सजातीय लड़के से हुआ। दिनकर का प्रेम स्वार्थ के वशीभूत नहीं था। उनका शुद्ध प्रेम था। दिनकर अपनी प्रेयसी को न भूल सके। प्रेयसी को ही उर्वशी के रूप में स्वर्ग से भूतल पर उतारा। बिम्ब विधान के अन्तर्गत दिनकर के प्रबन्ध काव्यों और स्फुट काव्यों में 'उर्वशी' ही सर्वश्रेष्ठ रचना है।

दिनकर के बिम्ब–विधान में बिम्बों का महत्वपूर्ण स्थान है। 'काव्य की भूमिका' में दिनकर ने काव्य में बिम्बों की स्थिति पर विस्तार से विचार किया हैं दिनकर के अभिमतानुसार "कहानी में जो स्थान मनोविज्ञान का है, कविता में वही स्थान चित्र को दिया जाता है।"[2] वे चित्रात्मकता को एक मात्र शाश्वत गुण के रूप में स्वीकार करने में नहीं हिचकते हैं"[3] उनके पौराणिक–ऐतिहासिक कथानकों पर आश्रित प्रबन्ध काव्यों और सम्बद्ध स्फुट कविताओं में सर्वाधिक रमणीय बिम्ब उर्वशी में मिलते हैं। इसका प्रमुख कारण उनकी प्रेयसी है। जब उनकी प्रेयसी दिवा स्वप्न लोक में आकर बसती थी, उसी समय दिनकर की 'उर्वशी' पर कलम चलती थी। "वस्तुतः उर्वशी' की बिम्ब–योजना अत्यन्त समृद्ध है– विराट् और कोमल, उदान्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है।

1. युगचारण दिनकर–सावित्री सिन्हा, पृष्ठ–233
2. काव्य की भूमिका– दिनकर, पृष्ठ–9
3. काव्य की भूमिका– दिनकर पृष्ठ 101

सम्पूर्ण काव्य ही रंगीन चित्रशाला है जिसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अंकित नखचित्र, रेखाचित्र, रंगचित्र, तैलचित्र और विराट भित्तिचित्र जगमग कर रहे हैं।'[1] सौन्दर्य निरूपण की प्रक्रिया में निम्नलिखित बिम्ब कितना मनोहारी बन पड़ा है–

''इन कपोलों की ललाई देखते हो

और अधरों की हंसी यह कुन्द–सी, जूही–कली–'सी,

गौर चम्पक यष्टि सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,

स्वर्ग की प्रतिमा कला के स्तप्न–साँचे में ढली सी।''[2]

कहीं–कहीं कवि ने मौलिक बिम्बों का आकर्षक उपयोग किया है–

''खड़ा सिहरता रहता मैं आनन्द–विकल उस तरूसा,

जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियाँ किलक रही हों,

या पत्तों मे छिपी हुई कोयल कूजन करती हो।''[3]

वस्तुतः उर्वशी में दिनकर की बिम्ब निर्माण क्षमता और बिम्ब–आयोजन क्षमता दोनों की ही चरम सिद्धि है। 'उर्वशी' का काव्यानुभव इस प्रकार की बिम्ब योजना के लिए उपयुक्त भी था। किन्तु कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में भी बिम्बों की स्थिति कम सौन्दर्यमय नहीं है। जैसे द्रोपदी के प्रतिशोधात्मक व्यक्तित्व का अंकन दृष्टव्य है–

''और जब व्रत–मुक्त–वेशी द्रोपदी,

---

1. नगेन्द्र, उर्वशी : कला और विचार– बोध– वचन देव कुमार (सं0) उर्वशी विचार और विश्लेषण, पृ0 14
2 उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ 48
3. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ 41

मानवी अथवा ज्वलित, जाग्रत शिखा प्रतिशोध की,

दाँत अपने पीस अन्तिम क्रोध से,

आदमी के गर्म लोहू से चुपड़,

रक्त–वेणी कर चुकी थी केशकी,

केश जो तेरह बरस से थे खुले।''[1]

वस्तुतः प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत आलोच्य रचनाओं में बिम्बों से मौलिक प्रयोग अत्यन्त विरल हैं। किन्तु भाषा की आवेगमूलक प्रकृति के कारण ये बिम्ब बासी नहीं प्रतीत होते।

प्रतीक विधान–

दिनकर जी ने प्रतीकों का उपयोग अपने काव्य में उतना नही किया जितना छायावादी कवियों में मिलता है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि दिनकर छायावाद की काव्य भाषा के कुहासे को भेदकर उसके काव्यानुभव को मैथिलीशरण गुप्त जी की भाषा में बाँधना चाहते थे। किन्तु परम्परा की विशाल चेतना को अपनी मानसिकता से संयुक्त करने के लिए प्रतीकों का सफल प्रयोग किया है। सामन्तशाही और विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' के कथानक को चुना। अंग्रेजों का शोषण और सामन्तों का किसान और मजदूरों पर अत्याचार ने उनको उनके विरुद्ध कर दिया था। इसी द्वन्द्वात्मक विचार में 'कुरुक्षेत्र' का जन्म हुआ।

'कुरुक्षेत्र' की प्रतीकात्मकता उसके चरित्रों को लेकर है। भीष्म जहाँ हमारे समक्ष ''यथार्थोन्मुख न्याय भावना''[2] के प्रतीक रूप में आते हैं। युधिष्ठिर

1. कुरुक्षेत्र– दिनकर, पृष्ठ–3
2. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि– कामेश्वर शर्मा पृ0 61

अपने चरित्र से अहिंसा का प्रतीकत्व अर्जित करते हैं। ''कुरुक्षेत्र उस धर्म –युद्ध का प्रतीक है जो स्वत्व रक्षा, ज्वलित प्रतिशोध और पौरुष की जागृति के नाम पर अनिवार्य बन जाता है।''[1]

रश्मिरथी में कवि ने कर्ण को ''कलंकित मानवता का मूक प्रतीक'' माना है। 'रश्मिरथी' में कथा कर्ण के चारों ओर घूमती है। दिनकर का सवर्णो के प्रति द्वन्द्वात्मक रूख था। अस्पृष्यता के लिए दिनकर इसी सवर्ण वर्ग को मानते थे। इसी कारण दिनकर ने 'कलंकित मानवता' ऐसे शब्द का प्रयोग किया। वैसे अपनी समग्रता में रश्मिरथी द्विवेदी युगीन प्रबन्ध काव्य–परम्परा की ही एक कड़ी है। कर्ण के चरित्र मे दिनकर ने उन दलित् जनों की पीड़ा अभिव्यक्ति की है जो सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी जाति और कुल की हीनता के कारण उपेक्षित समझे जाते हैं–

''मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
मन में लिये उमंग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।''[2]

प्रतीक–विधान की दृष्टि से दिनकर की सबसे सफल प्रबन्ध–रचना' उर्वशी' है। पुरुरवा और उर्वशी यद्यपि पौराणिक पात्र हैं, किन्तु उनमें कोषगत अर्थ के माध्यम से दिनकर ने अपनी मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थिति का निराकरण किया है। दिनकर ने यह माना है कि ''मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।''[3] किन्तु उर्वशी को कवि ने कोषगत

1. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि– कामेश्वर शर्मा, पृ0 61
2. रश्मिरथी दिनकर, पृष्ठ भूमिका (ग)
3. उर्वशी–दिनकर पृष्ठ– ख

अर्थ के आधार पर असीमित वासना का प्रतीक माना है और पुरुरवा............ रूप, रस गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य के रूप में हमारे समाने आता है।"[1]

अतृप्त काम के प्रतीक दिनकर ने अपने इस द्वन्द्वात्मक विचार के अनुरूप पुरुरवा को उत्पन्न किया। दिनकर का 'कामाध्यात्म' इसी भावना के फलस्वरूप है। दिनकर ने पुरुरवा और उर्वशी के माध्यम से नारी और पुरुष की शाश्वत काम–चेतना को व्यक्त करना चाहा है तो दूसरी ओर उर्वशी के माध्यम से शारीरिक सम्बन्धों की द्वंद्वहीन आकांक्षा तथा पुरुरवा में विद्यमान देवत्व की तृषा के विरोधाभाष द्वारा आधुनिक बोध को सार्थक सन्दर्भ देने का प्रयास किया है। उर्वशी यह मानती है कि नारी और पुरुष का प्रेम कोई अमूर्त आदर्श नहीं बल्कि वह शारीरिक सम्बन्धों की सुदृढ़ नींव पर आधारित है। दूसरी ओर पुरुरवा मांसल प्रेम से अरूप देवत्व का सन्धान पाना चाहता है, इसलिये उर्वशी को आलिंगन पाश में बाँध कर भी वह अमूर्त सत्य के सन्धान का प्रयत्न करता है। दिनकर जी 'ओशो' के दर्शन से प्रभावित मानव थे। द्वन्द्व अनेक मानसिक स्तर पर मडरा रहा था। इसी कारण पुरुरवा को आलिंगन की स्थिति में भी ध्यानामग्न होते हुए दिनकर ने दिखाया है। आलिंगन पाश में स्त्री–पुरूष दोनों की मानसिक उपस्थिति वहाँ नहीं होगी तो सामने वाले को सुख प्राप्त नहीं होगा। इसलिये उर्वशी कई बार प्रगाढ़ मिलन सुख का अनुभव नहीं कर पाती–

"तन से तुमको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,

मन से, किन्तु विषाण दूर तुम कहाँ चले जाते हों?

---

1. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ–ख

बरसा कर पीयूष प्रेम का, आखों से आँखो में

मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हों?''[1]

पुरुरवा का लक्ष्य है–

''रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार,

कोई सत्य हो तो,

चाहता हूँ, भेद उसका जान लूँ।

पन्थ ही सौन्दर्य की आराधना का ब्योम में यदि,

शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।''[2]

इसी प्रकार प्रथम अंक में रंभा और मेनका के संवाद में भी रंभा जहाँ अमूर्त अनुभव का प्रतीक बनकर आती है। वहाँ मेनका यथार्थ मूलक तथा मांसल भोग के प्रतीकत्व को वहन करती है–

''क्या है यह अमरत्व? समीरों का सौरभ पीना है,

मन में धूम समेट शान्ति से युग–युग तक जीना है।

पर सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधु–रस पीता है,

दो दिन ही हो पर कैसे वह धधक धधक जीता है।''[3]

वस्तुतः 'उर्वशी' में कवि ने नारी और पुरुष की शाश्वत प्रेम–चेतना को वाणी दी है। उर्वशी और पुरुरवा का प्रतीकत्व आधुनिक जीवन के काम सम्बन्धों के यथार्थ को भी उसी सुन्दरता से वहन करता है जिस सुन्दरता से

---

1. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –45
2. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –45
3. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ –11

वह पौराणिक पुरुरवा और उर्वशी को शाश्वत विस्तार देता है। 'लहरों के राजहंस' के नन्द की तरह पुरुरवा का चरित्र भी आधुनिक साहित्य को दिनकर की एक महत्वपूर्ण देन समझी जायगी।

यहाँ दिनकर की एक कविता व्याल विजय की चर्चा इस सन्दर्भ में हम और करना चाहेंगे। भगवान श्री कृष्ण के जीवन में कालिया नाग के दमन की कथा का विशिष्ट महत्त्व है। सूर आदि कृष्ण भक्तकवियों ने अपेन ढंग से इस कथा का गायन किया है। दिनकर को वैसे भी सर्प–बिम्ब प्रयोग प्रिय है। डा0 विजेन्द्र नारायण सिंह के अनुसार दिनकर के काव्य में 66 से ऊपर सर्प बिम्बों के प्रयोग है।''[1] किन्तु अपनी व्याल–विजय कविता में ज़न्होंने कालिया नाग–दमन की पारम्परिक लीला से हट कर उसमें प्रतीकत्व के नये आधुनिक धरातल खोजे हैं। यहाँ कृष्ण पारम्परिक कृष्ण नही है बल्कि आधुनिक लघु मानव हैं जो अपनी लघुता मे भी विराट हैं सर्प मनुष्य के मन में स्थिति उस कालुष्य का प्रतीक है जो उसे पशुता की ओर अग्रसर करता है। कृष्ण इस कालुष्य के पुंजीभूत रूप व्याल को अपना फन फैलाने का आदेश देते हैं, जिससे वे बाँसूरी बजाकर जड़ता में चैतन्य का आधान कर सकें–

''यह बाँसुरी बजी माया के मुकुलित आकुंचन में,
यह बाँसुरी बजी अविनाशी के संवेश गहन में,
अस्तित्वों के अनस्तित्वों में, महा शान्ति के तल में,
यह बाँसुरी बजी शून्यासन की समाधि निश्चल में।
कंपहीन तेरे समुद्र में जीवन–लहर उठाऊँ,
तान, वान फण व्याल कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।''[2]

1. दिनकर:पुनर्मूल्यांकन– विजेन्द्र नारायण सिंह, पृष्ठ 56
2. नील कुसुम, ''ब्याल विजय''– दिनकर, पृष्ठ–8

पारम्परिक कृष्ण अपनी सामर्थ्य से विषधर का मान–मर्दन करते हैं किन्तु दिनकर के कृष्ण विष के बदले हिंसा का सहारा नहीं लेते बल्कि करूणा और शान्ति के अमृत–तत्त्व से नाग के विष का प्रक्षालन करना चाहते हैं–

''फूँक–फूँक विष–लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
यह बंशी र्निगरल, बजेगी सदा शान्ति की लय में।
पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मत वाला?
मैं हूँ साँपों की पीठों पर कुसुम लादने वाला।''[1]

वस्तुतः पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए भी कवि ने कृष्ण को तृप्त आत्मविश्वास से मण्डित जो प्रतीकात्मक आधार प्रदान किया है वह दिनकर की अहिंसात्मक गांधीवादी विचार धारा के अनुरूप है। हिंसा, हिंसा से नहीं बल्कि हिंसा, अहिंसा से जीती जा सकती है। इसी का प्रयोग दिनकर ने उक्त कविता में किया है।

काव्य रूप

कवि की रचना धर्मिता की प्रौढ़ता के मूल्यांकन का एक महत्वपूर्ण आधार उसके द्वारा स्वीकार किया गया काव्य–रूप होता है। कवि अपने काव्यानुभव को जितने जटिल काव्युानभव में बांध सकने में समर्थ होता है, उतना ही वह परिपाटी की लीक के संशोधन के निकट पहुंचता है।

'कुरूक्षेत्र में कवि ने यद्यपि पौराणिक कथा–स्रोतों को अपना उपजीव्य बनाया है। किन्तु काव्य–रूप की दृष्टि से परिपाटी की लीक को स्वीकार नहीं किया है। 'कुरुक्षेत्र' में कथा–तथ्य उतना प्रबल नहीं है जितना 'रश्मिरथी' में

---

1 ''ब्याल विजय'' –नीलकुसुम–दिनकर, पृष्ठ 10

मिलता है। यहाँ कथा के प्रवाह की अपेक्षा विचार–तत्व को प्रमुखता मिली है इसीलिए परम्परागत प्रबन्ध काव्यो में यह रचना अलग जानपड़ती है। यहाँ न घटनाओं का घात–प्रतिघात है और न चरित्र–चित्रण का नुकीलापन यहाँ तो 'दिनकर' को एक जलती हुई समस्या पर कुछ कहना है। यह उनकी मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थिति की और दिनकर की स्वीकारोक्ति है। वे चाहेंगे, उनके कहने की मीमांसा हो। घटनाओं के आभास मात्र और अध्यायों के विभाजन के आधार पर यदि इसे कोई खण्ड काव्य के चौखटे में बांधना चाहे तो बांध सकता है। परन्तु हमारी दृष्टि से कुरुक्षेत्र में काव्य और चिन्तन का जो विलक्षण सामंजस्य हुआ है, उसके आधार पर ही उसके काव्य–रूप का निर्धारण होना चाहिए। वस्तुतः यहाँ विचार भावुकता पर अनुशासन रखता है, और यह वैचारिक औदात्य ही रचना की प्राणवत्ता का आधार है। इसलिए किसी पारम्परिक सीमा में बाँधने की अपेक्षा कुरुक्षेत्र को यदि हम 'विचार–काव्य' कहें तो अधिक उचित होगा। इस काव्य–रूप निर्धारण से एक ओर तो इस रचना की विचार–प्रमुखता स्पष्ट हो जाती है, दूसरे उसमें कवित्व का जो सुधा हुआ सस्पर्क है, वह भी इसमें संकेतित हो गया है।

"रश्मिरथी' का काव्य–रूप पूर्णतः परम्परागत है। जैसाकि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है कि इस काव्य की रचना में कवि का हृदय उस परम्परा के प्रति मोह से आसक्त रहा है जिसका मैथिलीशरण गुप्त करते हैं।"[1] दूसरे शब्दों में द्विवेदी युगीन प्रबन्धकाव्य–परम्परा यहाँ कवि का आदर्श रही है। यहाँ प्रबन्ध काव्य की सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं। यहाँ कथावस्तु, पात्र–योजना, चरित्र–चित्रण, प्रकृति निरुपण, अन्तः संघर्ष और बहिसंघर्ष

---

1. रश्मिरथी– दिनकर, पृष्ठ–भूमिका पृष्ठ क

आदि वे सभी तत्व उपलब्ध हैं जो महाकाव्य के लक्षण हैं।"[1] फिर भी महाकाव्य की मूलभूत चेतना जो समग्रता और परिपूर्णता के साथ युगीन जीवन तथा युग निरपेक्ष शाश्वत जीवन मूल्यों के साथ व्यक्त होती है, रश्मिरथी में नहीं है। अतः इसे हम खण्डकाव्य मान सकते हैं।

'उर्वशी' का काव्य–रूप निश्चय ही जटिल और मिश्रित है। यहाँ कवि ने नाटक, गीत, प्रबन्ध आदि अनेक काव्य–रूपों का प्रयोग एक साथ किया है। जिस प्रकार पुरुरवा और उर्वशी जीवन की दो पृथक प्रवृत्तियों काम और अध्यात्म में सामंजस्य साधना चाहते हैं, उसी प्रकार कवि भी गीत प्रबन्ध और नाटक जैसे विरोधी काव्य रूपों में समन्वय स्थापित करना चाहता है। 'उर्वशी' के काव्य–रुप में मूलतः गीत का सौकुमार्य है किन्तु प्रतिपाद्य की दृष्टि से वह महाकाव्य का औदात्य लिये हुए है अतः उसे हम 'गीतिमूलक महाकाव्य' मान सकते हैं। उस पर नाट्य तत्वों का तो केवल आरोप किया गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि में 'उर्वशी' को महाकाव्य नही कहा जा सकता, किन्तु चिन्तन–तत्व की प्रबलता और कथ्य की विशदता के कारण उसमें अनायास ही महाकाव्योचित गरिमा आ गई है। साथ ही नीति की सुकुमारता के इन्द्र धनुषी रंग भी इस रचना में घुसते रहे हैं, अतः हमने 'उर्वशी' के काव्य–रूप को 'गीतिमूलक महाकाव्य' माना है।

छन्द विधान–

छन्द काव्य और गद्य को प्रथक करते हैं। "अन्तस् के उमड़ने वाले भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए जब कवि भाषा में लय और स्वर को

---

1. विजयेन्द्र स्नातक, रश्मिरथी, एक विश्लेषण, सावित्री सिन्हा (सं0) दिनकर, पृष्ठ–179

संयोजन करता है तब उसमें प्रेषणीयता अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जाती है।"[1]

दिनकर की यह विशेषता है कि उन्होंने ब्रज–भाषा के कवित्व और सवैयों से जुड़ी सुकुमारता का परिहार करके अपने दिनकरीय ओज और वैचारिक गरिमा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। तथा इस सन्दर्भ में हम सुन्दरी सवैया की चर्चा कर सकते हैं। यह 25 अक्षरों का मात्रिक छन्द है। परम्परा की दृष्टि से इसमें 8 सगण और 1 गुरु की व्यवस्था थी किन्तु अब लघु अक्षरों को गुरु कर देने की स्वतन्त्रता है। यति का स्थान भी पूर्णतः निश्चित नहीं रहा किन्तु सगण के आधार पर एक निश्चित लय विधान अवश्य चलता है। यथा–

"जब युद्ध में फूटपड़ी यह आग, तो

कौन सा पाप नहीं किया तूने?

गुरु के बध के हित झूठ कहा,

सिर काट समाधि में ही लिया तूने,

छल से कुरूराज की जाँघ को तोड़

नया रण–धर्म चला दिया तूने;

अरे पापी मुमूर्ष, मनुष्य के यक्ष को

चीर सहास लहू पिया तूने।"[2]

यहाँ कवि ने लघु अक्षरों को गुरु कर देने की स्वतन्त्रता भी ली है। और यति के विधान में भी परम्परा का अनुमोदन नहीं किया।

---

1. दिनकर की काव्य भाषा– यतीन्द्र तिवारी, पृ0 341
2. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ–67

कहीं कहीं कवि ने नवीन छन्दों का निर्माण भी किया है। यद्यपि इन छन्दों की लय परम्परागत ही है किन्तु छन्द का विस्तार और संकोच कवि का अपना होता है। 'गीतिका' के आधार पर 'कुरुक्षेत्र' में किया गया 26 मात्राओं का यह अतुकान्त प्रयोग दृष्टव्य है–

'औ' युधिष्ठिर/से कहा, ''तूफान/ है कभी? = 7,7,7,5 मात्राएँ

किस तरह आ/ ता प्रलय का नाद वहक/रता हुआ =7,7,7,5 मात्राएँ

काल–सा वन/ में द्रमों को/तोड़ता, झक/झोरता = 7,7,7,5 मात्राएँ

और मूलो/च्छेद कर भू/पर सुलाता, क्रोध से = 7,7,7,5 मात्राएँ

उन सहस्त्रों/पादपों को/जो कि क्षीणा/धार है? =7,7,7,5 मात्राएँ

रुग्ण शाखाएँ/द्रमों की/हर हराकर/टूटती = 7,7,7,5 मात्राएँ

टूट गिरते। शावकों के/साथ नीड़ वि/हंग के; = 7,7,75मात्राएँ

अंग भर जा/ते बनामी के/निहित तरु/गुल्म से = 7,7,7,5 मात्राएँ

छिन्न फूलों/के दलों से,/पक्षियों की/देह से।''[1] =7,7,7,5मात्राएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में कवि ने जहाँ छन्दों के सन्दर्भ में अपनी परम्परा मूलक दृष्टि का परिचय दिया है, वहाँ छन्दों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने में भी उसने संकोच नहीं किया है। इस प्रकार छन्द–विधान की दृष्टि से कवि ने छायावादी और द्विवेदी युगीन का विलक्षण सामंजस्य प्रस्तुत किया है। छायावादी कवियों की सघन और पारदर्शी भाषा की प्रतिक्रिया में दिनकर द्विवेदी युगीन इतिव्रतात्मकता एवं छायावादी सुकुमारता–दोनों की खमीर लेकर आए। आलोच्य काव्य में दिनकर

1. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ 11

की भाषा बहुस्तरीय रही है। उर्वशी में आभिजत्यपरक भाषा का आदर्श रूप दीख पड़ता है। जो 'कुरुक्षेत्र' की सहजगतीय प्रसादपूर्ण भाषा हमें आकर्षित करती है। 'रसबन्ती' की माधुर्य–गुण–सम्पन्न कोमल छन्दावली और 'नये सुभाषित' तथा एनार्की जैसी कविताओं को चलती हुई भाषायें उनकी भाषा के अलग–अलग रूप है। सूक्तियों का बहुत सुन्दर उपयोग कवि ने किया है। इस प्रकार उन्हें हम सहज ही एक नवीन काव्य–भाषा का विधायक मान सकते हैं।

अध्याय-तृतीय

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में द्वन्द्व

1. समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीयता और द्वन्द्व
2. भाषिक प्रयोग धर्मी द्वन्द्व

समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीयता और द्वन्द्व

'राष्ट्र' शब्द एक विशिष्ट देश जाति से सम्बद्ध होता है। किसी देश या जाति का इतिहास, उसका उत्थान–पतन, उसकी संस्कृति–सभ्यता, सभी राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं और इसमें एक स्थानीय वैशिष्ट्य है जो मानव मात्र की सामान्य भूमि से इस सम्पत्ति को प्रथक करती है। इस एकता सूत्र के साथ रागात्मक संबंध और उसकी सुरक्षा के प्रति कर्त्तव्य सामान्य रूप से राष्ट्रीयता के अन्तर्गत आते हैं। राष्ट्रीयता के इस व्यापक अर्थ के साथ एक विशेष अर्थ भी मान्य है। जब एक देश या जाति अपने अन्धकार, अपनी दुर्बलता या एकता की शिथिलता के कारण अपने अधिकारों से वंचित हो जाती हैं तब एक विजेता उसके श्रम एवं सम्पत्ति का शोषण करता है; तब असन्तोष जन्म लेता है। असन्तोष कण–कण एकत्र होकर एक ज्वालामुखी में परिवर्तित हो जाता है। विच्छिन्न एकता–सूत्र इस वातावरण में क्रान्ति के रूप में जन्म लेता है। जब हम लोग राष्ट्रीयता की बात करते हैं तो सामान्यतः अपने इतिहास की शक्तियों का संबल लेकर। उस समय एकता सूत्र में दृढ़ आस्था रखते हुए किए गए प्रयत्नों से भी हमारा अभिप्राय है।

जहाँ तक दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं का प्रश्न है, दिनकर ने स्वयं कहा है– "संस्कारों सें मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन–तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो................ और सुयश तो मुझे 'हुंकार' से मिला किन्तु, आत्मा मेरी अब भी 'रसबन्ती' में बसती है।.............राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं बनी, उसने बाहर

से आकर मुझे आक्रान्त किया।[1] राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी होने का सुयश मुझे हुंकार के प्रकाशन के बाद मिला, किन्तु 'हुंकार की पहली ही कविता में सन्देश वहन और आनन्दवाद विषयक मेरी द्विधा अत्यन्त मुखर है।''[2]

जब दिनकर जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उसका हृदय तो प्रेम की कविताओं में ही लीन हो पाता है और राष्ट्रीयता बाहर से आरोपित भाव है तो स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में दिनकर की राष्ट्रीयता जो आनन्दवाद और राष्ट्रीय भाव की द्वन्द्वात्मक मनः स्थिति में है इसका प्रयोग बहुत सावधानी के साथ किया गया है।

दिनकर मूल रूप से छायावादी संस्कारों के कवि हैं और उनके प्रेम–विषयक स्वभावों को देखने से इस बात की सच्चाई में कोई सन्देह नही रह जाता है। वैसे उन्होंने स्वयं भी लिखा है– ''अनुभूतियां और भाव तो मुझे छायावादियों के ही अच्छे लगते थे।[3]

दिनकर जी ने अपने काव्यों में सर्वप्रथम सामयिक जीवन की चुनौती को न केवल स्वीकार किया बल्कि उसका एक प्रभावशाली उत्तर देने का प्रयास किया। उनकी कविताओं में क्रान्ति का स्वर यथा स्थान सुनाई पड़ता है। विशेष रूप से 'हुंकार' की 'आमुख' कविता में। 'हुंकार' की 'आमुख' कविता का दिनकर की राष्ट्रीय विचार धारा के अन्तर्गत अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस कविता से कवि के सम्पूर्ण काव्य–विकास का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। वर्तमान के क्षण किस समय कवि को बुलाने के लिए आते हैं उस समय वह

---

1. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ 33
2. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ 32
3. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ 35

शाश्वत–सनातन आदर्शों में खोया हुआ है, अपने आप में मग्न था, उसे भारत पर छिड़े हुए भयानक युद्ध का ज्ञान भी नहीं था।

वर्तमान परिस्थिति ने ही उसे क्रान्ति के गीत गाने और अपना बलिदान करने की ओर प्रेरित किया–

"समय–ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये?
शैल–शृंग चढ़ समय–सिन्धु के आर–पार तुम हेर रहे,
किन्तु, ज्ञात क्या तुम्हें, भूमि का कौन दनुज पथ घेर रहे?
दो वज्रों का घोष, विकट संघात धरा पर जारी है,
वन्हि–रेणु चुनस्वप्न सजा लो, छिटक रही चिनगारी है।
रण की घड़ी, जलन की बेला, रुधिर–पंक में गान करो,
अपना साकल धरो तुम कुण्ड में, कुछ तुम भी बलिदान करो।[1]

इस उद्धरण की तीसरी पंक्ति का सम्बन्ध हिन्दी के उन अधिकांश कवियों से हैं, जो वसुन्धरा की वास्तविकता से दूर, काफी दूर, पर्वत की ऊँची चोटी पर खड़े होकर सनातन मूल्यों की खोज में इतने व्यस्त दिखाई पड़ते हैं कि तत्कालीन सामाजिक संघर्ष उन्हें किंचित मात्र भी प्रभावित नहीं कर सकते। लेकिन कवि दिनकर अपने वर्तमान कालिक संघर्ष से प्रभावित होता है। उसकी दृष्टि देश की वर्तमान दशा की ओर आकृष्ट होती है और वह देश के हित सब कुछ बलिदान करने के लिए तत्पर हो जाता है। जैसे ही वह कुछ गाना चाहता है अपनी पराधीनता और बेबसी का उसे ज्ञान हो जाता है–

1. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–1

"श्रृंग छोड़ मिट्टी पर आया, किन्तु, कहो क्या गाऊँ मैं?

जहाँ बोलना पाप, वहाँ क्या गीतों से समझाऊँ मैं?

विधि का शाप, सुरभि–साँसों पर लिखूँ चरित में क्यारी का,

चौराहे पर बंधी जीभ से मेल करुँ चिनगारी का?"[1]

और वह व्याकुल हो जाता है। अपनी व्याकुलता को सह सकने में वह असमर्थ हो जनता को क्रान्ति करने के लिये प्रेरित करता है–

"वर्तमान की जय अभति हो खुलकर मन की पीर बजे,

एक राग मेरा भी रण में, बन्दी की जंजीर बजे।

नई किरण की सखी, बाँसुरी के छिद्रों से लूकं उठे,

साँस–साँस पर खड़ग–धार पर नाच ह्रदय की हूक उठे।

नये प्रात के अरुण! तिमिर उर में मरीचि–संधान करो,

युग के मूक शैल! उठ जागो, हुंकारों, कुछ गान करो।

किसकी आहट! कौन पधारा! पहचानो, टुक ध्यान करो,

नयी भूमि! अति निकट अनागत का स्वागत–सम्मान करो।"[2]

उसे नये युग के निर्माण के लिए क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव होती है। उसे अपने क्रान्तिकारी स्वर पर, अपनी शक्ति पर, देश की सफलता पर पूर्ण विश्वास है–

"जय हो, युग के देव पधारो! विकट, रूद्र, हे अभिमानी।

मुक्त–केशनी खड़ी द्वार पर कब से भावों की रानी।

---

1. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–1
2. हुंकार–दिनंकर, पृष्ठ–2

अमृत–गीत तुम रचो कलानिधि, बुनो कल्पना की जाली,

तिमिर–ज्योति की समर–भूमि का मैं चारण, मैं बैताली।''[1]

दिनकर जी सरकारी नौकरी में थे। उसी अंग्रेजी सत्ता के विपरीत शंखनाद करना चाहते थे। क्योंकि वे सरकारी दासता में थे इस कारण उनके भाव में द्वन्द्वथा कि कहीं उन्होंने खुलकर अंग्रेजों के विरुद्ध बिगुल फूंका तो उनके परिवार का भरण–पोषण कैसे होगा जो उत्तरदायित्व उन्हें उनके पिता की मृत्योपरान्त सिर पर आन पड़ा था। इसी कारण दिनकर जी ने प्रतीकों के माध्यम से क्रान्ति के बीज बोये। उस समय की देश–काल परिस्थिति की अगुवाई की।

दिनकर और समसामायिक राष्ट्रीय गतिविधियाँ–

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का जितना सुन्दर निरूपण दिनकर के काव्य में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं। उन्होंने दक्षिण पंथी और उग्रपंथी– दोनो धाराओं को आत्मसात करते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास ही काव्य बद्ध कर दिया है। आन्दोलन की सफलता, असफलता, उत्साह, आशा, निराशा आदि सभी तथ्य उनके काव्य में पूरी सामर्थ्य के साथ मिलेंगे। 25 अक्टूबर 1929 को लार्ड डरविन ने जब गोलमेज सम्मेलन की घोषणा की तो भारतीय नेताओं ने इस घोषणा का हार्दिक स्वागत किया किन्तु उग्रपंथी नवयुवकों में इस सम्मेलन का व्यापक विरोध हुआ। इंगलैण्ड में उदार और अनुदार दलों द्वारा इस सम्मेलन का विरोध किया गया और तत्कालीन भारत मंत्री वेज बुडवेन द्वारा उक्त बयान को 1917 वाले वक्तव्य की पुनरावृत्ति माना गया। कांग्रेसी नेताओं का मोह भंग हुआ और 1929 ई0 में लाहौर कांग्रेस

1. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–2

द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित किया गया। उस समय के उत्साह से अभिभूत होकर कवि ने लिखा–

"टुकड़े दिखा–दिखा करते क्यों मृग–पति का अपमान?
ओ मद सत्ता के मतवालों बनो न यों नादान।"[1]

सत्याग्रहियों का आन्दोलन वस्तुतः उनके धैर्य की परीक्षा थी। शस्त्र का उत्तर शस्त्र से देने वाले की अपेक्षा हिंसा का सामना अहिंसा से करने वाले का दायित्व कठिन होता है। दिनकर ने सत्याग्रहियों को आश्वस्त करते हुए लिखा–

"दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर, पुण्य प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल–अक्षरों, में इतिहास तुम्हारा,
जिस मिट्टी ने लहू पिया, वह फूल खिलायेगी ही,
अम्बर पर घन बन कर छायेगा, ही उच्छवास तुम्हारा।
और अधिक ले जाँच देवता, इतना क्रूर नहीं है।
थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।"[2]

स्वतन्त्रता प्राप्ति पश्चात भी दिनकर युग–धर्म से जुड़े रहे। उन्होंने देखा कि स्वतन्त्रता उस व्यक्ति के लिए नहीं आई जो शोषित है, पीड़ित है; बल्कि उसका उपभोग तो वे कर रहे हैं जो सत्ता के केन्द्र में हैं। कवि अनुभव कर रहा है कि व्यवस्था के शिकंजे में जकड़ी देश की जनता अब भी वैसे ही पिस रही है, जैसे पहले पिस रही थी। उसने नेताओं पर कठोर व्यंग्य करते

---

1. प्रणभंग (वाइसराय की घोषणा पर)– दिनकर, पृष्ठ–54
2. सामधेनी, "वह्न प्रदीप जो दीख रहा है"–दिनकर, पृ0 11

हुए मानों पूरे राजनीतिक ढाँचे को ही आड़े–हाथों लिया–

''टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ।

कुरता कहता है मुझे बोरिया ही कर लो।

ईमान बचाकर कहता है आँखें सबकी,

बिकने को हूँ तैयार, खुशी से जो दे दो।''[1]

अपनी काव्य चेतना के विकास के प्रारम्भिक चरण में ही दिनकर ने युग–धर्म के अपने दायित्व को पूरी तरह निभाया है और डा0 सावित्री सिन्हा ने तो उनकी युग–चेतना को आधार मानकर 300 से ऊपर पृष्ठों का एक विस्तृत आलोचना–ग्रन्थ लिखा– ''युग चारण दिनकर'' और भी अनेक आलोचकों ने दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण घटना–सूत्र खोज निकाले हैं, जिनके विषय में डा0 विजेन्द्र नारायण को लिखना पड़ा कि ''दिनकर के कुछ आलोचक काव्यालोचन की अपेक्षा यदि राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास लिख देते तो दोनों का अधिक उपकार होता।''[2]

व्यष्टि और समष्टि रूपी द्वन्द्व–

प्रश्न यह है कि हम युग चारण किसे कहें? क्या उसे जो अपने समय की महत्वपूर्ण घटनाओं का लेखा–जोखा छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत कर दें; या उसे जो युग की घटनाओं के तल में बैठकर युग सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति दे सके। 'चारण' शब्द को यदि उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ में लिया जाये तो सर्वप्रथम प्रकार का दायित्व निर्वाह की पर्याप्त है, किन्तु यदि 'युग चारण' शब्द में हम युग की पीड़ा पहचानने वाले व्यक्ति का प्रतिबिम्ब देखना

1. नीम के पत्ते – ''पहली वर्षगांठ'' – दिनकर, पृष्ठ–18
2 दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन– डा0 विजेन्द्र नारायण सिंह, पृष्ठ–5

चाहें, तो हमें उस सीमा–रेखा का अतिक्रमण करना होगा जो दिनकर को 'युगचारण' 'युग–देवता', 'राष्ट्रकवि' आदि मानते हुए आलोचकों ने निर्धारित की है। इन आलोचकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास दिनकर के काव्य के साथ नत्थी करने का असफल प्रयत्न किया है। इन्होंने दिनकर की काव्य–चेतना के उस अन्तर्द्वन्द्व को पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया जो काव्य में आदि से अन्त तक विद्यमान रहा है। सच तो यह है कि दिनकर की मूल दृष्टि सांस्कृतिक रही है। जैसाकि उन्होंने रश्मिलोक में लिखा है– "रेणुका, हुंकार, रसबन्ती और द्वन्द्वगीत, ये पुस्तकें निकली तो अलग–अलग समयपर, किन्तु उनकी कविताएँ लगभग साथ–साथ लिखी' जा रहीं थी।"[1] और भी..... "आरम्भ से ही वीर और श्रृंगार, दोनों ही मुझे बारी–बारी से लुभाते रहे हैं। वैसे एक बार मैने कहीं कहा भी था कि कीर्ति तो मुझे हुंकार से मिली, किन्तु आत्मा मेरी रसबन्ती में बसती है।"[2]

उपर्युक्त वक्तव्य हमारे समक्ष एक नया प्रश्न प्रस्तुत करते हैं– किसी कवि के काव्य की मुख्य प्रवृत्ति के सन्धान के लिए उसकी वैयक्तिक अभिरूचि को आधार माना जाए या रचनाओं के विषयागत अनुपात को? दिनकर के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि आलोचकों ने कवि की वैयक्तिक अभिरूचि की उपेक्षा करते हुए स्थूल विषय परक दृष्टिकोण से उन्हें राष्ट्रकवि, युग चारण या जन कवि आदि मान लिया। जैसा कि हमने पहले निवेदित किया अपने स्थूल रूप में राष्ट्रीय कवि राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित करने वाली घटनाओं का काव्यात्मक व्याख्याता होता है। वस्तुतः "राष्ट्र कवि

1. रश्मिलोक– दिनकर, पृष्ठ– ऊ
2. वही पृष्ठ– ऊ

उसे कहना चाहिये जो अपने देश की प्रत्येक संस्कृति को अपने में समा लेता है, जो देश के प्रत्येक वर्ग का अपने को प्रतिनिधि समझता है और सभी सम्प्रदायों के बीच जो देशगत ऐक्य है, उसे मुखर बनाता है।[1] दिनकर के काव्य में संस्कृति की सुदीर्घपरम्परा और समसामयिक स्वचेतना दोनो का समीकरण साधने का प्रयत्न देखा जा सकता है। उनमें एक ओर कालिदास, रवीन्द्र और प्रसाद की तरह सौन्दर्य के साक्षात्कार की ललक है, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतन्त्रय आन्दोलन से भावनात्मक रूप में जुड़े रहने की छटपटाहट भी उनमें देखी जा सकती है। हमारा यह दावा कतई नहीं है कि वे अपनी इन आकांक्षाओं का समीकरण साधने का प्रयत्न करने में कालिदास, रवीन्द्र या प्रसाद की ऊँचाइयों का स्पर्श कर पाये हैं, किन्तु उनमें सौन्दर्य और युग–सत्य को समीकृत करने का प्रयत्न निश्चित रूप से मिलता है। इसी प्रयत्न के कारण वे संसलिष्ठ सांस्कृतिक चेतना के कवि सिद्ध होते हैं। उनके काव्य में 'युग चारण दिनकर' ही प्रतिबिम्बित नहीं होता बल्कि संस्कृति के चार अध्याय का लेखक काव्य की सम्पूर्ण मधुरता के साथ झलकता दृष्टव्य है। उनको 'युग चारण', 'जन कवि', 'युग द्रष्टा' आदि कहना उतना ही असंगत है जितना उनको ''पैदाइशी रोमांटिक'' कवि मान लेना।''[2] वे सही माने में हमारी सांस्कृतिक धरोहर के कवि हैं। उनका काव्य व्यष्टि और समष्टि दोनों धरातलों पर समानान्तर रूप में सांस्कृतिक बोध को ही अभिव्यक्ति देता है और इसी परिप्रेक्ष्य में उनके राष्ट्रीय काव्य का विश्लेषण होना चाहिये।

---

1. साहित्य मुखी– दिनकर, पृष्ठ–11
2. डा0 विजेन्द्र नारायण सिंह ने अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ ''दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन'' में दिनकर को ''पैदाइसी रोमांटिक कवि'' माना है।

दिनकर युग चारण कवि नही बल्कि राष्ट्रीय कवि थे–

दिनकर को युग चारण कवि कहना उचित नही प्रतीत होता। संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा और राष्ट्रीय आन्दोलन की महत्वपूर्ण घटनाओं के समीकरण को वैयक्तिक और सामाजिक दोनों धरातलों पर – साधने का सार्थक प्रयास किया था। इसलिए युग चारण की अपेक्षा या तो उन्हें सांस्कृतिक कवि कहना उचित होगा या वृहत्तर सन्दर्भो में उन्हें राष्ट्रीय कवि कहा जा सकता है। दिनकर के काव्य की राष्ट्रीय–सांस्कृतिक चेतना को पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। इसके लिए आवश्यक होगा कि हम उनके काव्य की उन प्रवृत्तियों को समझे जो उन्हें राष्ट्रीय काव्य की परम्परा में पृथक वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों से दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की मूलभूत प्रकृति को समझा जा सकेगा। ये प्रवृत्तियाँ सामान्यतः निम्न हैं–

(क) अतीत के प्रति उत्कट आकर्षण

(ख) वर्तमान के प्रति असन्तोष

(ग) आवेग मूलकता

क) अतीत के प्रति उत्कट आकर्षण–

अतीत और वर्तमान के बीच दिनकर निरन्तर तनाव ग्रस्थ (द्वन्द्वात्मक) रहे हैं। एक ओर अतीत उन्हें लुभाता है तो वर्तमान उन्हें खिझाता है। दिनकर अतीत का विश्लेषण नहीं करते, दूसरे शब्दों में अतीत की प्रति उनका दृष्टिकोण वस्तुपरक नहीं है, बल्कि रोमांटिक है। सच तो यह है कि "दिनकर की राष्ट्रीयता के तीन रूप हैं। प्रथम तो अतीत का गौरव गान, द्वितीय वर्तमान की कारुणिक स्थिति, और तृतीय उसके निदान के लिए आतंकवाद

का सहारा।"[1] अतीत के प्रति दिनकर का एक अतिरिक्त मोह है जो उसके समान राष्ट्रधारा के अन्य कवियों में प्रायः नही पाया जाता। विशेष रूप से 'रेणुका' में उनका अतीत–मोह कहीं–कहीं तो अतिरेक की सीमा तक पहुँचा हुआ है। वैसे अतीत के प्रति यह सम्मोहन–भाव उन्हें छायावादी कवियों से प्राप्त हुआ। छायावाद के विस्तृत कुहासे में भी राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्य–चेतना की एक क्षीण धारा प्रवाहित हो रही थी।".. छायावादी कवियों की अनुभूति' के राष्ट्रीय तत्व का परीक्षण किया जाए। कहीं ऐसा तो नहीं है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना भी छायावादी कवियों की राष्ट्रीय चेतना का ही एक विकसित रूप है।"[2] कवि ने जिस प्रकार रोमेंटिक दृष्टिकोण से अतीत का अभिमूल्यन किया है, वह छायावादी कवियों से सीधे जुड़ता है। अन्तर मात्र इतना ही है कि दिनकर जहाँ अपने कथ्य को आवेग की स्फीति दे देते हैं, वही छायावादी कवि उसे पारदर्शिता से पिघलाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यदि रोमांटिक काव्य के विषय में यह मान्यता स्वीकार कर ली जाए कि

"वह सम्भावनाओं को देखकर नहीं चलता, उसमें वांछनीय–अवांछनीय, सम्भावना–असम्भावना का प्रश्न नहीं उठता, तो यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय प्रतिपाद्य की ओर भी दिनकर की प्रारम्भिक दृष्टि रोमेंटिक कवि की ही रही है।"[3]

(ख) वर्तमान के प्रति असन्तोष (द्वन्द्वात्मक भाव)–

वर्तमान के प्रति दिनकर के मन में गहरा असन्तोष (द्वन्द्वात्मक भाव)

1. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि – कामेश्वर शर्मा, पृष्ठ–16
2. युग चारण दिनकर– डा0 सावित्री सिन्हा, पृ0 70
3. डा0 तारकनाथ बाली, दिनकर की राष्ट्रीयता, डा0 सावित्री सिन्हा (सं0) "दिनकर", पृष्ठ 102.

है। वे स्वतन्त्रता संग्राम के समय से लेकर अपनी काव्य–यात्रा के अन्त तक वर्तमान की उपलब्धियों के साथ एकात्म नही हो सके। यह द्वन्द्वात्मक मनः स्थिति उनकी रचना धर्मिता को समाधान या विकल्प नहीं देता, बल्कि उनको अपनी अन्तिम, परिणति में निराशावादी बनाता है। वर्तमान उनमें असन्तोष जागृत करते हुए व्यंग्य की मुद्रा बनाकर अध्यात्म के एकान्त में पर्यवसित हो जाता है। दिनकर में अपने युग की ज्वलन्त समस्याओं को प्रस्तुत कर देने की विलक्षण क्षमता है। किन्तु समाधान की रचनात्मक ऊर्जा उनके पास नहीं है।

(ग) आवेग मूलकता–

दिनकर को समसामयिक परिस्थितियों के प्रति संतुष्टि नही थी। इसी कारण समसामयिकता ने उन्हें द्वन्द्वात्मक भावनाओं की ओर ढकेल दिया। इसी कारण दिनकर का अधिकांश राष्ट्रीय काव्य आवेश मूलक बन गया। इसमें सहृदय के मानव की सुगबुगाहट देने की अद्‌भुत शक्ति है। वे वर्तमान की समस्याओं का निदान आतंकवाद में मानते हैं किन्तु उनके आतंकवाद पर गांधीवादी अहिंसा का अंकुश भी है। वे विध्वंस चाहते हैं किन्तु उसे आपद् धर्म के रूप में स्वीकार करते है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि "एक ओर अहिंसा का विरोध दूसरी ओर उसका स्तवन क्या दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का अन्तर्द्वन्द्व नहीं है।"[1] दिनकर ने आतंकवाद को अपना आदर्श मान लेने और हिंसा को आपद् धर्म के रूप मे ग्रहण करने में आवेग धर्मी भाषा का उपयोग किया है। यह आवेग कविता की पृकृति से अर्जित नहीं किया गया बल्कि इसने कविता की सर्जनात्मकता को आकार दिया है। निष्कर्षतः हम कह

---

1. दिनकर की राष्ट्रीयता– डा० तारकनाथ बाली, दिनकर–डा० सावित्री सिन्हा (सं०), पृष्ठ–108

सकते हैं कि दिनकर की कविता अतीत और वर्तमान के बीच तनावग्रस्त द्वन्द्वात्मक मनः स्थिति की कविता है। अतीत के प्रति रोमेंटिक आकर्षण जहाँ उनकी कविता को छायावाद से सीधे जोड़ता है वहाँ वर्तमान के प्रति आक्रोष उनकी कविता को कहीं–कहीं निराशा और अध्यात्म की ओर ले जाता है। इस प्रकार उनके राष्ट्रीय काव्य की प्रकृति रोमांटिक है जो आवेग के द्वारा स्फूर्ति प्राप्त करती है।

अतीत से प्रेरित राष्ट्रीयता समसामयिक परिस्थितियों के निराकरण की ओर–

दिनकर जी अंग्रेजी सरकार के कर्मचारी थे। उनके पिता के मरणोपरान्त उनका दायित्व परिवार के भरण–पोषण का आ गया। परिवार सम्मिलित था। उसके प्रमुख कर्त्ता धर्ता दिनकर जी थे। इनके अलावा परिवार का कोई भी सदस्य योग्य नहीं था। दासता के बन्धन के कारण दिनकर जी ने स्वतन्त्रता के पूर्व क्रान्ति का विगुल सीधे नहीं फूंका बल्कि पुराण का सहारा लेकर राष्ट्रीय भाव जगाने का प्रयत्न किया। दिनकर जी ने जिन पुराण कथाओं का सहारा लिया, उन्होंने उस प्रचीन समय की परिस्थितियों को सम सामयिक परिस्थितियों में ढाल कर जन मानस को अंग्रेजी सत्ता के विपरीत उभाड़ा। उनके मस्तिष्क में भारतीय संस्कृति और समसामयिक परिस्थितियों का द्वन्द्व चला करता था। दिनकर जी को अपने देश से अनुराग था। इसी कारण वे भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं से अनिवार्यतः जुड़े रहे। दिनकर जी ने राष्ट्रीय अतीत के द्वारा सम सामयिक परिस्थितियों के निर्माण हेतु एक मानदण्ड प्रदान किया है। दिनकर जी अपने देश की पारम्परिक उपलब्धियों पर गर्व करते थे। उन्होंने अपने कृतित्व के आरम्भ से ही देश की उज्ज्वल

परम्पराओं का काव्यात्मक स्तवन किया है। 'प्रण भंग' से ही दिनकर ने अतीत को अपने काव्य का विषय बनाना आरम्भ कर दिया था।

हमारे देश को इतिहास के क्रम में कुसमय के जो आघात मिले हैं दिनकर ने उन आघातों की कटुता को रेखांकित नही किया, वरन वह तो अतीत की उन धरोहर की भीनी–भीनी सुगन्ध से अभिभूत है–

"विश्व–विभव की अमर–बेलि पर,

फूलों–सा लिखना तेरा।

शक्ति–यान पर चढ़कर वह,

उन्नत–रवि पर मिलना तेरा।

भारत! क्रूर समय की मारों,

को न जगत सकता है भूल।

अब भी उस सौरभ से सुरभित,

है कालिन्दी के कल–कूल।"[1]

कवि ने 'प्रण–भंग' नामक इस खण्ड काव्य में महाभारत के एक प्रसंग विशेष को काव्यात्मक आधार दिया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दिनकर ने यहाँ महाभारत के घटना–क्रम के अनुरूप ही प्रसंग का विस्तार किया है। उसने अपनी ओर से घटना–क्रम अथवा पात्रों की प्रस्तुति में कोई परिवर्तन नहीं किया। उस समय कवि का प्रारम्भिक जीवन था, इस कारण कवि ने अपने काव्य के विकास की दिशा का सन्धान अपने पूर्ववर्ती कवियों के पदचिन्हों को आधार मानकर किया था। विशेष रूप से प्रबन्ध काव्य के

---

1. प्रणभंग– दिनकर, पृष्ठ 17

क्षेत्र में दिनकर जी उस समय गुप्त जी के प्रबन्ध–कौशल से अत्यधिक प्रभावित थे। इस कारण उन्होंने कथा स्रोतों में पात्रों की मूल प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं किया। 'प्रणभंग' नामक इस खण्ड काव्य के अतिरिक्त अन्य स्फुट कविताओं में यद्यपि अतीत की राष्ट्रीय परम्पराओं को आधार–बनाने का उपक्रम कवि ने नही किया है किन्तु स्वयं 'प्रण–भंग' जहाँ से कवि ने अपनी काव्य–यात्रा का शुभारम्भ किया था[1] वह देश की अतीत कालीन परम्पराओं के प्रति कवि की निष्ठा का परिचायक है।

अतीत के प्रति दिनकर का आकर्षण निरन्तर बढ़ता ही गया। विशेष रूप से रेणुका में कवि ने देश के अतीत कालीन गौरव स्तम्भों का भावुक स्मरण किया है। नगपति हिमालय का मानवीकरण करते हुए दिनकर जी ने मानों सारे अतीत का आह्वान किया है–

"कितनी द्रुपदा के बाल खुले,

कितनी कलियों का अन्त हुआ।

कह हृदय खोल चित्तौर! यहाँ,

कितने दिन ज्वाल बसन्त हुआ।"[2]

द्रुपदाओं के बाल खुलने और कलियों के अन्त होने में कवि ने इसे केवल ऐतिहासिक सन्दर्भ ही नही रहने दिया है, बल्कि उसे आज से भी जोड़ना चाहा है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस कविता में 'हिमालय' स्वयं ही एक प्रतीक है। वह उस निष्क्रिय, प्रतिक्रिया–हीन जनमानस का

---

1. क्योंकि 'वारदोली विजय' उपलपब्ध नही है। अतः 'प्रणभंग' को शोधक काव्य यात्रा का प्रारम्भ मानता है।
2. रेणुका, 'हिमालय के प्रति– दिनकर, पृष्ठ–15

प्रतीक है जिस पर किसी घटना क्रम का कोई प्रभाव नहीं होता। आज भी हमारी माँ–बहनों का सतीत्व लूटा जाता है, अधखिली कलियों को मसल दिया जाता है किन्तु मानों हमारा रक्त ही पानी हो गया है। उस पानी बन गये रक्त को उष्ण और रक्तिम बनाने के लिए हिमालय के बहाने कवि ने आज के जन मानस को ही झकझोर दिया है–

"कितनी मणियाँ लुट गईं? मिटा

कितना मेरा वैभव अशेष।

तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर

वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।"[1]

हिमालय का यह आह्वान भारत के गौरवमय अतीत की ओर संकेत करता हुआ भी इस अर्थ में समसामयिक है, क्योंकि वह प्रतीक में घनीभूत होकर हमारी आज की पीड़ाओं को व्यक्त करता है किन्तु कवि के राष्ट्रीय काव्य में यह पीड़ा उस समय गौरव का रूप धारण कर लेती है जब उसे यह आभास होता है कि वर्तमान के कठोर होने पर भी भारत के प्राचीन अतीत में अपनी शूर–वीरता के कारण सबने लोहा माना है–

"जगती पर छाया करती थी,

कभी हमारी भुजा विशाल।

बार–बार झुकते थे पद पर,

ग्रीक–यवन के उज्ज्वल भाल।"[2]

---

1. रेणुका, 'हिमालय के प्रति– दिनकर, पृष्ठ–14
2. 'पाटलिपुत्र की गंगा' – रेणुका– दिनकर, पृष्ठ–33

'हुंकार' में कवि चाहकर भी राष्ट्र की स्वर्णिम परम्पराओं में उतना नहीं रम पाता जितना वह 'प्रण भंग' और 'रेणुका' में रम सका था। क्योंकि वर्तमान के आह्वान पर उसके दायित्व बढ़ गए हैं।

वह क्रान्ति की देवी का द्वार–प्रहरी बन गया है। उस समय जब कि क्रान्तिदेवी के अन्य सेवक विश्राम में लीन है। कवि को ही द्वार–प्रहरी का यह गुरूतम भार उठाना पड़ता है–

"अन्य अनुचर सोये निश्चिन्त,

शिथिल परियों को करते प्यार;

रात में भी मुझ पर पड़ा

द्वार–प्रहरी का गुरुतम भार।"[1]

और वह अपने अतीतोन्मुख गीतों का मुँह उस समय की विभिषिका की ओर मोड़ देता है–

"समय–ढूह की ओर सिसकते

मेरे गीत विकल धाये;

आज खोजते उन्हें बुलाने

वर्तमान के पल आये?

शैल–शृंगचढ़ समय सिन्धु के आर पार तुम हेर रहे,

किन्तु ज्ञात क्या तुम्हें, भूमि का कौन दनुज पथ घेर रहे।"[2]

वस्तुतः हुंकार की वे राष्ट्रीय कविताएँ जो परम्पराओं के गौरव से

---

1 हुंकार, "असमय आह्रान" –दिनकर, पृष्ठ–4

2. हुंकार, "असमय आह्वान"–दिनकर, पृष्ठ–4

अनुप्राणित है, उनमें सम सामयिकता की यथार्थ मूलकता का दंश बराबर बना रहता है। अब 'रेणुका' की भांति वह अपने देश के अतीत पर इतराता नहीं बल्कि समसामयिकता के दबाव का भी निरन्तर अनुभव करता रहा है—

"देखा, शून्य कुंवर का गढ़ है, झांसी की वह शान नहीं है।

दुर्गादास, प्रताप बली का, प्यारा राजस्थान नहीं है।

जलती नहीं चिता जौहर की, मुट्ठी में बलिदान नहीं है।

टेढ़ी—मूँछ लिए रण—वन फिरना अब तो आसान नहीं है।"[1]

और समसामयिक परिस्थितियों के दबाव से अतीत के प्रत्यावर्तन की कठिनता को अनुभव करता हुआ कवि सारे राष्ट्र को चुनौती देता है—

"समय माँगता मूल्य मुक्ति का, देगा कौन माँस की बोटी?

पर्वत पर आदर्श मिलेगा, खायें चलो घास की रोटी।"[2]

'हुंकार' पश्चात कवि ने 'कुरूक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में भी 'प्रणभंग' की भांति महाभारत के कथा—स्रोतों का आश्रय लिया किन्तु यहाँ उसके उद्देश्य की प्रकृति में परिवर्तन हो गया है। वह 'प्रणभंग' की भांति महाभारत के कथा प्रसंग को यथावत् काव्य बद्ध नहीं कर देना चाहता बल्कि वह अतीत और समसामयिकता के मध्य विद्यमान अंतराल को पाटना चाहता है। 'कुरुक्षेत्र' में स्पष्ट रूप से संकेत करता है कि " 'कुरुक्षेत्र' की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई।"[3] उसका यह भी दावा नहीं कि "... 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर, ठीक—ठीक, महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म

1. रेणुका, "बसन्त के नाम—दिनकर', पृष्ठ—36
2. रेणुका, "बसन्त के नाम—दिनकर', पृष्ठ—36
3. कुरूक्षेत्र— दिनकर, भूमिका, पृष्ठ—1

हैं।"[1] एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय"[2] लेकर कवि ने 'कुरुक्षेत्र' को विचार –काव्य का गठन प्रदान किया। 'रश्मिरथी' में भी दिनकर ने कर्ण को दलितों के नेता के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया–

"मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूंछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
मैं उनका आदर्श, किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्र बल से समाज में पद विशिष्ट पाएंगे।"[3]

दिनकर जी के मन में दीनों (अछूतों) के उद्धार का भाव समाहित था। सवर्ण और अछूतों में भेद दृष्टि के विरुद्ध द्वन्द्वात्मक भाव होने के कारण दिनकर ने पात्र तो महाभारत की कथा से लिये परन्तु अपने द्वन्द्वात्मक भावना के वसीभूत पात्रों की प्रस्तुति की। इसी कारण दिनकर जी ने 'रश्मिरथी' के कर्ण को महाभारत की कथा से अलग हटकर दलितों का नेता बना दिया।

कवि ने यद्यपि स्थूल रूप से इन प्रबन्ध काव्यों में राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त नही किया है किन्तु सांस्कृतिक आधारपर हमारे पौराणिक चरित्रों को उसके नवीन युग सन्दर्भों की टंकार देकर प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि अतीत के पौराणिक कथा–स्रोतों को ग्रहण करते हुए भी कवि वर्तमान के दायित्व की गम्भीरता से बराबर संयुक्त रहता है।

समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीयता और द्वन्द्व–

समसामयिकता दिनकर के काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। जिन

---

1. कुरुक्षेत्र– दिनकर, भूमिका, पृष्ठ–1
2 कुरुक्षेत्र (भूमिका)– दिनकर, पृष्ठ–2
3. रश्मिरथी–दिनकर, चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ–57

आलोचकों ने कवि को युग चारण का फतवा दिया है उन्होंने उनके समसामयिक बोध को ही अपने फतवे का आधार माना है। "दिनकर के काव्य ने सबसे पहले सामयिक जीवन की चुनौती को स्वीकार किया और उसका प्रभावशाली उत्तर देने का प्रयास किया।"[1] उनका समसामयिक राष्ट्रीय काव्य इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उसमें हमारे स्वतन्त्रता संग्राम की महत्वपूर्ण घटनाएँ और तथ्य नत्थी है; बल्कि इसलिए क्योंकि दिनकरस्य अपनी सम्पूर्ण प्राणवत्ता के साथ अभिव्यक्ति पा सका है। उसके समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीय काव्य का विश्लेषण करते समय हमें ध्यान रखना होगा कि "दिनकर मूलतः भाव प्रवण व्यक्ति हैं। अधिकतर उनकी प्रतिक्रियायें विवेकात्मक न होकर भावात्मक हैं, इसीकारण उग्रता के प्रति उनका सहज आकर्षण रहा हैं। भावना–प्रधान व्यक्तित्व होने के कारण ही उनकी बौद्धिकता तथा सहज प्रतिक्रियाओं में प्रायः द्वन्द्व चलता रहा है, और हरसमस्या पर दोनों ही पक्षों की मान्यताएँ टकराती हैं। परिस्थितियाँ उनकी भावनाओं को उत्तेजित करने में बिजली के स्विच का काम करती है। इस उग्रता के साथ उनका सम्पर्क बौद्धिक अधिक होता है, व्यवहारिक क्रम।"[2] वे अपने काव्य में वर्तमान के उस अंश को आत्मसात कर देना चाहते थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ा रहा हो। यही कारण है कि समसामयिकता से प्रेरित उनका राष्ट्रीय काव्य परिमाण और विस्तार की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। उनके इस प्रकार के काव्य का विश्लेषण हम दो खण्डों में कर सकते हैं– स्वतन्त्रता से पूर्व का काव्य और स्वतन्त्रता के बाद का काव्य।

---

1. दिनकर की राष्ट्रीयता– डा0 तारकनाथ बाली, डा0 सावित्री सिन्हा (सं0) "दिनकर" पृ0 113
2. युग चारण दिनकर–डा0 सावित्री सिन्हा, पृ0 24

दिनकर जी अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों को समझते थे। भारत माता की परतन्त्रता की बेड़ियाँ किस प्रकार काटी जाय, इसके लिए दिनकर जी कभी गरमदल और कभी नरमदल के द्वन्द्वात्मक भाव को लेकर अग्रसर थे। 1929 में अंग्रेजी 'गोल मेज का फ्रेन्स' का प्रस्ताव आया, उसी समय से ही दिनकर जी ने सम्मेलन का विरोध करने वाले नवयुवकों का साथ दिया, दिनकर जी आक्रोश में भरकर ललकार उठे–

''टुकड़े दिखा–दिखा करते क्यों मृगपति का अपमान?

ओ मद सत्ता के मतवाले! बनो न यो नादान।''[1]

यतीन्द्र नाथ की शहादत पर कवि ने जनता का आवाहन किया–

''रण भेरी बज चुकी,

कौन–बलि के हित ललचाते हैं?

बाट जोहती माँ

देखें कितने 'यतीन' आते हैं''[2]

दिनकर अपने समय की घटनाओं से प्रभावित होते हैं और अपनी प्रतिक्रिया को काव्य बद्ध कर देते हैं। 'रेणुका' में सम–सामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीय काव्य में आवेग के अनुकूल निर्धनता और धनवान के द्वन्द्वात्मक भाव को लेकर 'कस्मै देवाय' में एक कविता लिखी गयी जब परतन्त्र भारत में किसान आन्दोलन अपने पूरे उत्कर्ष पर था–

''क्रान्ति–धात्रि कविते! जागे, उठ,

---

1. प्रण भंग, ''वाइसराय की घोषणा पर'' दिनकर, पृ0 54
2. प्रण भंग, ''वाइसराय की घोषणा पर'' –दिनकर, पृ0 54

आडम्बर में आग लगा दे,

पतन, पाप, पाखंड जलें,

जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे

विद्युत की इस चकाचौंध में,

देख, दीप की लौ रोती है,

अरी, हृदय को थाम, महल के

लिए झोपड़ी बलि होती है।''[1]

दिनकर जी ने क्रान्ति का उद्‌घोष करने में गरम दल का साथ दिया परन्तु दिनकर के मस्तिष्क में 'बुद्ध' भी समाये हुए थे। क्योंकि 'बुद्ध' ने दलितों का उद्धार किया और महल छोड़ कर निर्धनों का उत्थान किया। बड़कुलों के आडम्बर विहीन समाज की रचना की। दिनकर जी ने अतीत 'बुद्ध' के समय के समसामयिक समस्याओं के समाधान का सहारा लेते हुए व्यापक काव्य–फलक का निर्माण किया–

''अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,

जागो बोधिसत्व! भारत में हरिजन तुम्हें बुलाते हैं,

जागे विप्लव के वाक्! दम्भियों के इन अत्याचरों से,

जागो गांधी पर किये गये नर पशु–पतितों के वारों से

जागो, मैत्री–निघोष! आज व्यापक युग–धर्म पुकारों से।''[2]

'रेणुका' में दिनकर ने तथ्य परक सामयिकता को कवित्व की तरलता

---

1. रेणुका– ''कस्मैदेवाय''– दिनकर, पृष्ठ 39
2. रेणुका, ''बोधिसत्व'' –दिनकर, पृष्ठ–66

प्रदान की थी किन्तु यहाँ भी कवि को समसामयिक स्वतन्त्रता–संग्राम के तथ्यों पर पूरा अधिकार प्राप्त नहीं हैं दूसरे शब्दों में कहें तो तथ्य कवित्व के पिघलाव में यद्यपि एकात्म हो गए हैं। किन्तु अभी कवि वह आत्म–विश्वास अर्जित नही कर पाया जो राष्ट्रीय कवि के लिए अनिवार्य है। 'रेणुका' में कवि अतीत और वर्तमान द्वन्द्वीय ढलानों पर रपट–रपट जाता है। किन्तु 'हुंकार' में आकर कवि ने युग–धर्म के दायित्व को पूरी तरह स्वीकार कर लिया है–

''सुनूँ क्या सिन्धु में गर्जन तुम्हारा,,

स्वयं युग–धर्म की हुंकार हूँ मैं।''[1]

रक्त–पिपासु इटैलियन ने जब अबीसीनिया पर आक्रमण किया तब कवि अपने राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं को भूल गया। उसने लिखा–

''काबुल' मूक दूर 'यूरल' है क्या भोली 'आँसू' बोले?

उद्वेलित 'भूमध्य' स्वेज का मुख इटली कैसे खोले?

श्वेतानन स्वर्गीय देव हम! ये हब्शी रेगिस्तानी।

ईसा साखी रहें, इसाई दुनिया ने बर्छी तानी।''[2]

विभाजन का निर्णय किसी भी राष्ट्रवादी के लिए अप्रत्याशित था। स्वयं गाँधी जी ने कठोर शब्दों में देश के विभाजन का विरोध किया था किन्तु कुछ अपरिहार्य परिस्थितियों में कांग्रेस को विभाजन का निर्णय स्वीकार करना पड़ा। जिस समय मुस्लिम लीग और कांग्रेस में देश के बटवारे के प्रश्न को लेकर मतभेद उग्र होते जा रहे थे तब कवि की आत्मा कराह उठी–

''हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं;

---

1. हुंकार; परिचय–दिनकर, पृष्ठ –86
2. मेक्ष–रन्ध्र में बजी रागनी–दिनकर, पृ0 43

पांव में जिसके अभी जंजीर है;

बाँटने को हाय! तौली जा रही;

बेहया उस कौम की तकदीर है।''[1]

कितना बड़ा व्यंग्य है हमारी राष्ट्रवादिता पर गुलाम भारत में इस प्रकार के मतभेद कितने लज्जाजनक थे जब हम भारत माता के बंटवारे में लगे थे–

''चीथड़ों पर एक की आँखें लगी;

एक कहता है कि मैं लूँगा जवां,

एक की जिद है की पीने दो मुझे;

खून जो इसकी रगों में है खाँ।''[2]

दिनकर राष्ट्रीय आन्दोलन के काव्य को हूबहू घटनाओं से रंजित करता आया है। उसमें जहाँ भी निराशा आई बहाँ वह उमंग में भर उन–कवि आन्दोलन के समय की प्रत्येक मनः स्थिति के मार्मिक चित्र सदैव उकेरता रहा है। सत्याग्रही जब ब्रिटिश शक्ति के समक्ष कभी–कभी पस्त हो जाता था तो दिनकर उसे इन शब्दों में ढाढ़स देते हैं–

''दिशा दीप्त हो उठी प्राप्तकर,

पुण्य–प्रकाश तुम्हारा,

लिखा जा चुका अनल–अक्षरों

में इतिहास तुम्हारा,

---

1. ''तकदीर का बंटवारा'' हुंकार–दिनकर, पृ0 –70
2. ''तकदीर का बंटवारा' हुंकार–दिनकर, पृ0 79

जिस मिट्टी ने लहू पिया,

वह फूल खिलायेगी ही,

अम्बर पर घन बन छायेगा

ही उच्छवास तुम्हारा

और अधिक ले जाँच देवता इतना क्रूर नहीं है।

थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।''[1]

स्वातन्त्र्योत्तर दिनकर–काव्य में समसामयिकता का बोध निरन्तर पैना होता गया है–

हमारा वह पूरा युवक वर्ग जो स्वतन्त्रता–संग्राम का मनसा वाचा कर्मणा साक्षी रहा था, उसने स्वराज्य आने के पश्चात बड़ी–बड़ी आशाएँ लगाई थी। किन्तु जिन लोगों ने स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहे थे वे सत्ता के मद में डूब गए। उस स्थिति में सारे समाज में एक प्रकार की निराशा व्याप्त हो गई। दिनकर ने उस निराशा की मन, स्थिति में लिखा–

''आजादी खादी के कुरते की एक बटन,

आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई,

फैशन बालों के लिए नया फैशन निकला,

मोटर में बांधों तीन रंग वाला चिथड़ा,

औ गिनों कि आँखें पड़ती हैं कितनी हम पर,

हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर।''[2]

---

1. सामधेनी, ''वह प्रदीप जो दीख रहा है'' –दिनकर, पृ0 11
2. नीम के पत्ते, ''पहली वर्षगाँठ'' –दिनकर, पृ0 –18

वस्तुतः 'नीम के पत्ते' में दिनकर ने अपने हृदय की उस कड़वाहट को व्यक्त किया है जिसका अनुभव स्वतन्त्रता पश्चात प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति कर रहा था। दिनकर ने शासक और जनता की प्रकृति के अन्तर्द्वन्द्व को रेखांकित करने में कहीं कोताही नहीं की–

"टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ।

कुरता कहता है मुझे बोरिया ही कर लो।

ईमान, बचाकर कहता है आँखें सबकी,

बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो जो दे दो।"[1]

'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि की सम–सामयिक राष्ट्रीयता अपनी आवेग–धर्मिता के कारण 'रेणुका' और 'हुंकार' की कविताओं से जुड़ती है। बल्कि कहना चाहिए कि दिनकर ने चीन के छल (आक्रमण) के प्रति सम्पूर्ण देश को क्रोध की वाणी दी है–

"गीता में जो त्रिपिटक– निकाय पढ़ते हैं,

तलवार गलाकर जो तकली गढ़ते हैं,

शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,

शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का।"[2]

दिनकर का चीन के छल के प्रति द्वन्द्वात्मक भाव उत्पन्न हुआ और कुछ काल बाद वह समाप्त हुआ तो दिनकर के मस्तिष्क में अराजकता के प्रति द्वन्द्वात्मक भाव उत्पन्न हो गया। उसने अनुभव किया कि समाज की

---

1. नीम के पत्ते, "पहली वर्षगाँठ" –दिनकर, पृ0 –17
2. परशुराम की प्रतीक्षा, दिनकर, पृष्ठ–1

सम्पूर्ण व्यवस्था ही चरमरा गयी है–

"और छात्र बड़े, पुर जोर हैं,

कालिजों में सीखने को आये तोड़–फोड़ हैं।

कहते हैं, पाप है समाज में,

धिक् हम पै! जो कभी पढ़ें इस राज में।

अभी पढ़ने का क्या सवाल है?

अभी तो हमारा धर्म एक हड़ताल है।"[1]

दिनकर द्वन्द्व के कवि हैं। दिनकर भारत की जनता जो सोई हुई है उसे क्रान्ति का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। इसके निमित्त दिनकर ने जड़ हृदय बाले नरों को हिमालय की संज्ञा दी है। हिमालय जड़ है। 'हिमालय के प्रति' नामक कविता में दिनकर ने हिमालय की जड़ता को ललकारा है। उसने उसे झिंझोड़ा कि स्वदेश वीरान हो गया और हिमालय तपस्या में ही लीन बना रहा। वह हिमालय का आह्वान करता हुआ कहता है–

"तू मौन त्याग, कर सिंह नाद,

रे तपी! आप तप को नकार

नव युग–शंख–ध्वनि जगा रही

तू जाग जाग मेरे विशाल।"[2]

शोषण के प्रति दिनकर के विचार, साम्यवादियों से मेल खाते थे। 'कस्मैदेवाय' में कवि दिनकर शोषण के विरूद्ध उस प्रगतिशील क्रान्ति का

---

1. परशुराम की प्रतीक्षा, दिनकर, "एनार्की", पृष्ठ 63
2. रेणुका, हिमालय–दिनकर, पृ0 14

आह्वान करता है जिसका संचालन साम्य वादियों ने किया था–

"धन–पिशाच के कृषक भेष में

नाच रही पशुता मतवाली

आगन्तुक पीते जाते हैं

दीनों के शोणित की प्याली

उठ वीरों की भाव–रंगिणी

दलितों के दिल की चिंगारी

युग–मर्दित यौवन की ज्वाला

जाग–जाग री क्रान्ति–कुमारी।"[1]

दिनकर जी बिहार प्रान्त के रहने वाले हैं। बिहार में सारी भूमि भूमिहारों, सवर्णों के पास है। मजदूरों को बन्धक बनाकर काम कराना दिनकर जी ने अपनी आँखों से देखा था। मजदूरों के साथ पशुओं की तरह व्यवहार किया जाता था। इस कारण दिनकर जी का इन जमींदारों, जागीरदारों के विरुद्ध द्वन्द्वात्मक भाव जागृत हो गया था। इस कारण इसे समाप्त करने के लिए क्रान्ति का जागरण कराया। दिनकर केवल देशवासियों को जगाता नहीं है, बल्कि उसके पीछे उन्हें प्रगतिशील आन्दोलन की दिशा भी देता है। विशेषरूप से कवि स्पष्टतः देश को क्रान्ति और बलिदान का सन्देश देते हुए साम्राज्यवादी, सामन्तवादी और पूंजीवादी शोषण के प्रति विद्रोह करने की प्रेरणा देता है–

"शैल–श्रृंग चढ़ समय–सिन्धु के आर–पार तुम हेर रहे,

---

1. रेणुका, हिमालय– दिनकर, पृ0 12

किन्तु, ज्ञात क्या तुम्हें, भूमि का कौन दनुज पथ घेर रहे?

दो व्रजों का घोष, विकट संघात धरा पर जारी है,

वन्हि–रेणु, चुन स्वप्न सजा लो, छिटक रही चिंगारी है।

रण की घड़ी, जलन की बेला, रूधिर–पंक में गान करो,

अपना साकल धरो कुण्ड में, कुछ तुम भी बलिदान करो।''[1]

''दिनकर जी की एक विशेषता थी कि वे साम्राज्यवाद के साथ–साथ सामन्तवाद के भी विरोधी थे।''[2] पूंजीवादी शोषण के प्रति उनका द्वन्द्वात्मक भाव अन्त तक विद्रोही रहा।

दिनकर जी भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे भारतीय आदर्श 'बसुधैव कुटुम्बकम्'' को मानते थे। इस कारण राष्ट्र आपस में युद्धरत होते समय नर बलियाँ ही तो होती हैं। विजित देश जनता का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक शोषण करते हैं। इसी कारण दिनकर जी का द्वन्द्वात्मक भाव युद्ध के प्रति बन गया। इसलिये युद्ध न हों जो मनुष्य से मनुष्य को लड़ाता है। युद्ध के लिये राष्ट्रीय भाव ही दोषी है। इस कारण दिनकर जी ने अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का मण्डन किया है और राष्ट्रीयवाद का खण्डन किया है। दिनकंर जी राष्ट्रवाद की उन अवधारणाओं से घृणा करते है जो राष्ट्र को किन्हीं भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध स्वीकार करती है। ऐसे राष्ट्र–धर्म को कवि पशुता का पर्याय स्वीकार करता है–

''टिकने देती भैंस नहीं बाहर वाली भैंसों को,

अपने घूंटे से ढकेल कर बाहर कर देती है;

1. हुंकार– दिनकर, आमुख, पृ0 1
2. राष्ट्रकवि दिनकर– डा0 गोपाल राय, पृ0 25

यही भाव विकसित, प्रशस्त होकर नर की भाषा में,

राष्ट्र, राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र का गौरव कहलाता है।"[1]

राष्ट्रवाद विश्व–मानवता के प्रसार में बाधक है–

"और आपको विदित नही, क्या राष्ट्रवाद यह कैसे,

विश्व मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है?

कारण राष्ट्रवाद उपयोगी भाव, निरी पशुता है।"[2]

वस्तुतः दिनकर का युद्ध के प्रति द्वन्द्वात्मक भाव ही ने राष्ट्रवाद के संकुचित अर्थ का, यानी संकुचित दृष्टिकोण का विरोधी बनाया जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता को कुछ भौगोलिक सीमाओं में बांध कर मानवतावाद या अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का एकान्त निषेध करता है। कवि के लिए भारत वर्ष किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है, बल्कि वह तो कुछ शाश्वत जीवन मूल्यों की समष्टि का प्रतीक है–

"तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ मैं?

मेरे प्यारे देश! देह या मन को नमन करूँ मैं?

किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करू मैं?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है

नर के नमश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है?

वेदों का ज्ञाता निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है;

मेरे प्यारे देश! नहीं तू पत्थर है, पानी है।

---

1. कोयला और कवित्व–दिनकर, पृष्ठ–77
2. कोयला और कवित्व–दिनकर, पृष्ठ– 77

जड़ताओं मे छिपे किसी चेतना को नमन करूँ मैं?

किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?"[1]

भारत वर्ष की जड़ताओं में छिपे चैतन्य का साक्षात्कार कवि को आदि से अन्त तक अभीष्ट रहा है। और यही कवि राष्ट्रीयता की सीमाओं को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीयता वाद का समर्थक बन जाता है। वह भारतवर्ष की काव्यात्मक परिभाषा इन शब्दों में करने लगता है–

"भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,

एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है।

जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है;

देश–देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्कर है।

निखिल विश्व की जन्म भूमि–वन्दन को नमन करूँ मैं,

किसको नमन करूँ मैं भारत किसको नमन करूँ मैं?'[2]

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का द्वन्द्वात्मक भाव युद्ध की विभीषिका को देख कर पनपा है। दिनकर एक मानवतावादी दृष्टिकोण रखने वाले कवि थे। युद्ध में मानवता का हनन होता है। दोनों ओर से सेनाओं के रूप में सामान्य जन की ही हानि होती है। इसी कारण दिनकर युद्ध विरोधी हैं। राष्ट्रीयतावाद में युद्ध अनिवार्य है। दिनकर जी ने देखा कि जो धन जनहित में लगना चाहिये उसका अधिकांश भाग मात्र सीमा सुरक्षा मे व्यय होता है। अगर सीमा अन्तर्राष्ट्रीय है तो इस प्रकार का व्यय करने का

---

1. रश्मिलोक–दिनकर, पृ0 253
2. रश्मिलोक–दिनकर, पृष्ठ–254

कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। शायद इसी कारण से दिनकर जी अन्तर्राष्ट्रीयता वाद के पोषक बन गये।

भाषिक प्रयोग धर्मी द्वन्द्व–

१. भाषा

दिनकर जी ने व्याकरणिक भाषा का उपयोग नहीं किया है केशव की तरह दिनकर जी क्लिष्ट भाषा के उपयोग से बचे रहे हैं। क्लिष्ट शब्दों का उपयोग तो किया है, जो भावों के अनुरूप चल सकें, उन्हीं का प्रयोग किया है।

अ) शब्द चयन– दिनकर जी समर्थ शब्दशिल्पी हैं। उनके काव्य में शब्दों की कोई परिधि निर्धारित नहीं की जा सकती। वे तत्सम, तद्भव, विदेशी आदि की सीमा रेखाओं में नहीं बंधते बल्कि शब्द–चयन में सीमाओं के अतिक्रमण से एक नवीन काव्य भाषा का निर्माण करते हैं। "दिनकर की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है अभिव्यक्ति की स्वच्छता। इस अभीष्ट की प्राप्ति उन्होंने सर्वत्र ऋजु, सहज सार्थक और भावानुकूल शब्दों के द्वारा की है।"[1]

विशेष रूप से उनके राष्ट्रीय काव्य में शब्दों का सटीक चुनाव ही उसे आवेग धर्मी और प्रभुविष्णु बनाता है। वे शब्दों के चुनाव के लिए तत्समता या तद्भवता को आधार मानकर नहीं चलते बल्कि शब्दों के विन्यास में उनका उद्देश्य स्वच्छ अभिव्यक्ति में काव्यानुभव का आवेग धर्मी अर्जन रहता है। अन्य राष्ट्रवादी कवियों के लिये शब्द अभिव्यक्ति को आकार देने का माध्यम है किन्तु दिनकर के लिए वे इससे कुछ अधिक है। शब्द उनके लिए माध्यम ही नहीं बल्कि चुनौती बन कर आते हैं। वे अपने भावों की प्रबलता के अनुरूप

1. रश्मिलोक–दिनकर, पृष्ठ–254

शब्दों को खोज लाने में सिद्धहस्त हैं। यही कारण है कि उनके राष्ट्रीय काव्य के आधार पर उन्हें शब्दों के किसी वर्ग विशेष का कवि स्वीकार करना कठिन है।" दिनकर को शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान है; यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनमें भावों को शब्दों में भर देने की सामर्थ्य है।"[1]

वे एक ओर अपने राष्ट्रीय काव्य में जहाँ अनय, अनद्य, समिस्त्र, सिकता, आलोक धन्वा, शिखण्ड, विशिख, अपवर्ग, पुंगव आदि शुद्ध शब्दों का प्रयोग करके उसे एक आभिजात्य परक गरिमा प्रदान करते हैं, वहाँ मुन्तजिर, कफस, रवानी, परवाज, दिलेर, मरदानों, किश्ती, इन्साफ जैसे अरबी–फारसी शब्दों तथा कैबिनेट डेमोक्रेसी, शोसलिष्ट, स्लीपर जैसे अंग्रेजी शब्दों का उपयोग करके वे भावगत अभिजात्य की सतह को तोड़ने का उपक्रम करते दिखाई देते हैं। एक ओर बे राष्ट्रीय कवि को निम्नलिखित शब्द–चयन से नुकीला बनाते दीख पड़ते हैं–

"मेरी ध्वनि के छा गए त्रिदिव में प्रतिध्वान,

सुर वर्त्म स्तब्ध रूक गया, विभावसु का विमान।

दृगबद्ध विवश फट रहा छिन्न घन–सा–प्रकाश,

गुंजित अम्बर के रन्द्र–रन्द्र में अग्नि ह्रास।"[2]

साथ ही ग्रामींण अंचल की सोंधी महक से मण्डित उनकी भाषा का यह लोक तात्विक स्तर भी दृष्टव्य है–

"भैया! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग,

---

1. युग चारण दिनकर,–डा0 सावित्री सिन्हा, पृष्ठ–218
2. हुंकार, "स्वर्ग दहन"–दिनकर, पृष्ठ–12

चारो कोनें खेम कुशल मांझे ठा मोर वियोग।''[1]

''शब्द–चयन की दृष्टि सबसे पहले उनकी भावानुकूलता पर रहती है, उनके शब्द कोश की सीमायें नहीं है।''[2] यही कारण है कि उनका राष्ट्रीय काव्य अपनी कथ्य विषयक सीमाओं के रहते हुए भी भाषिक दृष्टि से आधुनिक है। उनकी अपनी है। वे परम्परागत और समसामयिकता के द्वन्द्व में रहते हुए भी उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण किया।

(ब) शब्द शक्तियाँ

दिनकर का राष्ट्रीय काव्य उर्वशी या रसबन्ती की तुलना में अधिक मूर्त है। वस्तुतः राष्ट्रीय काव्य की प्रकृति सांकेतिकता के अधिक अनुकूल भी नहीं है, क्योंकि राष्ट्र–प्रेम की अमूर्त अनुभूति को चरित्रों, घटनाओं, स्थितियों और परिवेश में साकार करना राष्ट्रीय काव्य का मूल उद्देश्य होता है। दिनकर ने मूर्तिकरण की इस प्रक्रिया के बीच कहीं–कहीं लक्षणा और व्यंजना का सुन्दर उपयोग करते हुए स्पृहणीय पारदर्शिता अर्जित की है। किन्तु यह पारदर्शिता छायावादी कवियों की तरह दूरारूढ़ कल्पनाओं पर आश्रित न होकर यथार्थ की भूमि पर दृढ़ है। ''दिनकर लक्षणा के कवि हैं, और उनकी लक्षणा केवल आकाश को पृथ्वी से और पृथ्वी को आकाश से मिलाने का काम नहीं करती बल्कि जग और जीवन से सम्बन्धित विषयों को अपने में बाँधकर उन्हें सुन्दर बना देती है।''[3] वे लक्षणा का उपयोग काव्यानुभव को तीव्र बनाने के लिए करते हैं, उसे सूक्ष्मता प्रदान करने के लिए नहीं। जैसे–

---

1. हुंकार, वन–फूलों की ओर'' पृष्ठ–32
2. युगचारण दिनकर, – डा0 सावित्री सिन्हा, पृ0 222
3. युग चारण दिनकर– डा0 सावित्री सिन्हा, पृ0 331

"वैराग्य छोड़ बाहों की विभा संभालो,

चट्टानों की छाती से दूध निकालो।

है रूकी जहाँ भी धार, शिलाएँ तोड़ो,

पीयूष चन्द्रमाओं को पकड़ निचोड़ो।"[1]

यहाँ बाहों की विभा को संभालना, 'चट्टानों की छाती से दूध निकालना, 'चन्द्रमाओं को पीयूष प्राप्त करने के लिए निचोड़ना' इन पदावलियों में लाक्षणिकता में अभिव्यक्ति की सहज मूर्तता का अतिक्रमण नहीं होता बल्कि काव्यानुभव आवेग की ऊष्मा से प्रगाढ़ बनता है। कहीं–कहीं व्यंजना के द्वारा राष्ट्रीय काव्य में व्यंग्य के नुकीलेपन का आधान किया गया है–

"गांधी को उल्टा घिसो, और जो धूल झरे,

उसके प्रलेप से अपनी कुण्ठा के मुख पर,

ऐसी नक्काशी गढ़ो कि जो देखे, बोले;

आखिर बापू भी और बात क्या कहते थे?"[2]

ग) मुहावरे और लोकोक्तियाँ–

छायावाद की पतनोन्मुखता के बीच दिनकर का कवि–व्यक्तित्व प्रदीप्त हुआ। दिनकर ने छायावादी काव्य भाषा के ठहराव को एक अद्भुत प्रवाह और गति दी। विशेषतः उनके राष्ट्रीय काव्य में जो रवानगी है, वह उनकी अपनी विशेषता है। इस विशेषता को अर्जित करने में मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रमुख भूमिका रही है। यद्यपि उन्होंने हिन्दी कविता को कोई नया मुहावरा नहीं दिया किन्तु परम्परागत मुहावरों के सटीक और सार्थक

1. परशुराम की प्रतीक्षा–दिनकर, पृष्ठ –18
2. नये सुभाषित–दिनकर, पृष्ठ–48

उपयोग ने उनके काव्य की एक अलग पहचान बनायी है। एक उदाहरण लीजिए–

> **"घर का चरण विजित श्रृंगो पर झंडा वहीं उड़ाते हैं,**
> **अपनी ही अंगुली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।**
> **पड़ी समय से होड़ खींच मत तलवों से कांटे रूककर,**
> **फूंक–फूंक चलती न जवानी चोटों से बचकर झुककर।"[1]**

यहाँ झंडा उड़ाना, अपनी उँगली पर खंजर की जंग छुड़ाना, 'समय से होड़ पड़ना', 'फूंक–फूंक कर चलना' आदि मुहावरों से उत्साह के काव्यानुभवन को तीव्र बनाया गया है। कहीं–कहीं कवि ने लोकोक्तियों के सर्तक प्रयोग ने अभिव्यक्ति को एक नवीन क्रान्ति प्रदान की है–

(क) "फटन जाय अम्बर की छाती"[2]

(ख) "अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती"[3]

(ख) "अभय बैठ ज्वाला मुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं;
ये हैं वे जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं।"[4]

दिनकर जी के द्वन्द्वात्मक परम्परा और आधुनिकता के भाव ने एक ओर भाषागत अभिजात्य परम्परा को ग्रहण किया दूसरी ओर काव्यानुभव की बदलती हुई प्रकृति के अनुरूप उनकी भाषा में आधुनिकता के अनेक सन्दर्भ देखे जा सकते हैं। जैसे–

---

1. हुंकार, "अनल किरीट" –दिनकर, पृष्ठ– 27.
2. दिल्ली–दिनकर, पृ0 5
3. हुंकार "हाहाकार" दिनकर पृष्ठ–22.
4. हुंकार, "अनल किरीट"–दिनकर, पृष्ठ–27

व्यंग्यात्मकता, शब्द–शक्तियों के उपयोग में यथार्थपरक दृष्टि का उपयोग, मुहावरे और लोकोक्तियाँ के माध्यम से भाषा की अभिव्यंजना सामर्थ्य का विकास आदि।

२. अलंकार विधान–

काव्य में अलंकारों का विशिष्ट महत्व है। वे कवि के अन्तर में निहित उस ओज को अभिव्यक्त करते हैं जो सम्पूर्ण सृजन का ओज है। दूसरे शब्दों में कहें तो अलंकार कवि की सृजनात्मकता के प्रतीक हैं। वे काव्य के शोभाकारक धर्म ही नहीं कवित्व के सतत जीवित रहने का एक विशिष्ट प्रमाण भी हैं। इसीलिए अलंकारों का उदार प्रयोग करने वाले या अलंकारों से सजगता पूर्वक बचने वाले कवियों को हम शिल्प की दृष्टि से क्रमशः परम्पराशील या आधुनिक की सीमाओं में नहीं बांध सकते। जब तक अभिव्यक्ति की भंगिमा को महत्व दिया जाता रहेगा अलंकारों का वैशिष्ट्य अक्षुण रहेगा। आधुनिक काव्य में भले ही अलंकारों के महत्व के अवमूल्यन का प्रयास–सैद्धान्तिक और व्यवहारिक–दोनों स्तरों पर हुआ है किन्तु अलंकारों के प्रयोग में कोई गतिरोध नहीं आया है।

दिनकर ने अलंकारों का उपयोग शास्त्रीय तालिकाओं के आधार पर नहीं किया हैं। बल्कि वे अलंकारों को सौन्दर्य का साधन मानते हुए आवश्यकतानुसार उनका विन्यास करते हैं। वैसे यदि अनुपात की दृष्टि से देखें तो अपने राष्ट्रीय काव्य में अलंकारों के उपयोग में उनपर परम्परा का प्रभाव अधिक रहा है। दिनकर ने अलंकारों को सदैव अपना साधन माना है, साध्य नहीं वे राष्ट्रीय काव्य में बेड़ियों की झनकार और नये युग के गाण्डीव

की टंकार के लिए अलंकारों का उपयोग करते हैं। विशेषरूप से अलंकारों के प्रयोग में उत्साह, शौर्य, आदि भावों को साकार कर दिखाया है। अनुप्रास के कुछ उदाहरण देखिए–

(क) "झंझा–झकोर पर चढ़ी मस्त झूलो रे।"[1]

(ख) "अंगार हार अरपो, अर्चना करो रे।"[2]

(ग) "अरि–मुण्डों से खाइयाँ–खोह पाटेगा।"[3]

पुनरूक्ति प्रकाश कवि का प्रिय अलंकार है। सामान्यतः इस अलंकार का प्रयोग कवि छान्दिक गति के निर्वाह या चमत्कार के लिए करते आए हैं किन्तु दिनकर ने इस अलंकार से अभिव्यक्ति में आवेग उत्पन्न करने का काम लिया है–

"दूध–दूध! फिर दूधअरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे?

दूध–दूध! मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे,

× × ×

दूध, दूध फिर सदा कब्र की आज दूध लाना ही होगा।

× × ×

दूध, दूध औवत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"[4]

पहले दो चरणों में दूध के अभाव में बिलखते बच्चों के उन अभिभावकों की सीख, दुःख और बेबसी को वाणी दी गई है। अगली पंक्ति में दूध लाने

1. परशुराम की प्रतीक्षा–दिनकर, पृष्ठ–31
2. वही, पृ0 15
3 वही पृ0 17
4. हुंकार, 'हाहाकार''–दिनकर, पृष्ठ–23

की विवशता एक अदम्य निश्चय में परिवर्तित हो जाती है और अन्तिम पंक्ति में बिलखते बच्चों को एक आश्वासन के साथ कविता का समापन होता हैं यहाँ सभी मनोभावों को तीव्रतर बनाने में 'दूध' शब्द की पुनरुक्ति का अपरिहार्य महत्व है।

काव्य में सादृश्य मूलक अलंकारों की एक विशेष स्थिति होती है। क्योंकि वे एक ओर जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे सम्बन्ध में सम्बन्ध स्थापित कर वे प्रस्तुत की काव्यात्मक प्रतीति कराते हैं तो दूसरी ओर साधारणीकरण के उद्देश्य की पूर्ति में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहता है। क्योंकि प्रस्तुत की काव्यात्मक प्रतीति जब तक नहीं होगी, साधारणीकरण की स्थिति संभव नहीं है। यही कारण है कि सादृश्य मूलक उपमादि अलंकारों में कवि के अलंकार विन्यास की सफलता की एक महत्वपूर्ण कसौटी बन जाते हैं।

दिनकर ने उपमा अलंकार को अपने राष्ट्रीय काव्य में पर्याप्त महत्व दिया है किन्तु उसके उपमान परम्परा के क्रम से ही जुड़े हुए हैं। उनसे हमारा पहले का परिचय है किन्तु उनके विन्यास में कवि ने अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से उनमें अद्‌भुत सौन्दर्य का आद्यान किया है। यथा–

"पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल–सा,

तम के सिर पर निकला मैं कनक–कमल सा।"[1]

जहाँ निसर्ग द्वारा कवि को पुण्य के फल के रूप में प्राप्त करना और अन्धकार पर स्वर्ण कमल बन कर निकलना–इन उपमानों (पुण्य का फल और स्वर्ण कमल) में परम्परा का ही प्रभाव है किन्तु उपमान कवि के वैशिष्ट्य को

---

1. हुंकार, "आलोक धन्वा" दिनकर, पृष्ठ 14

सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ निरूपित कर पाने में सफल रहे हैं।

अपनी विवशताओं में छटपटाते क्रान्तिकारी मानव की विवशता को कवि इन शब्दों में व्यक्त करता है–

"रह–रह पंखहीन खग–सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में;

झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न–राज्य आँसू के जल में।[1]

उपर्युक्त "पंखहीन खग" का उपमान यद्यपि पुराना है किन्तु भू की हलचल में उसका गिर पड़ना कवि की सारी पीड़ा को साकार कर देता है।

इस प्रकार उपमादि सादृश्य मूलक अलंकारों में कवि पर परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु अपनी प्रतिभा के बल पर कवि इन अलंकारों के उपयोग में अपनी काव्यात्मक क्षमता के प्रति हमें आश्वस्त कर देता है।

दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों के उपयोग में कवि ने आधुनिक बनने का प्रयास नहीं किया। कहीं–कहीं जब कवि राष्ट्रीय काव्य में व्यंग्य की विधा का उपयोग करना चाहता है तब अवश्य वह प्रचलित अलंकारों में आधुनिकता का आधान करता है। जैसे

'महँगी आजादी की यह पहली साल गिरह,

रहने दो बापू की अर्थी अब दूर नहीं,

और धूम धाम से नहीं मनाओंगे क्या तुम,

कुछ ही वर्षो में दशक चोर बाजारी का?"[2]

ब्याज स्तुति के माध्यम से कवि स्वतन्त्रता के बाद के भ्रष्टाचार का

---

1. हुंकार "हाहाकार"–दिनकर, पृष्ठ 20
2. नीम के पत्ते, "पहली वर्षगांठ, –दिनकर, पृ0 20

संकेत कर रहा है, जिसकी उसे आशंका है। इस प्रकार अलंकारों के विन्यास की दृष्टि से दिनकर के राष्ट्रीय काव्य पर परम्परा का प्रभाव अधिक व्यापक है।

३ बिम्ब–विधान–

बिम्ब कवि की रचना धर्मिता का एक निकष है। केवल अर्थ–ग्रहण को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। काव्य में तो अव्यक्त और अमूर्त को साकार करना होता है। यही कारण है कि भले ही बिम्ब–विधान शब्द पश्चिम से प्रभाव–ग्रहण करके आया हो किन्तु बिम्ब की परिकल्पना हमारे कवि और आचार्यों के मानस में आरम्भ से रही है। काव्य में व्याप्त परम्परा और आधुनिकता के तत्वों के विश्लेषण के लिए बिम्बों की परख बहुत आवश्यक है, क्योंकि बिम्बों का चयन केवल कवि की शिल्पगत प्रतिभा की कसौटी ही नही होता, बल्कि यह चयन उसके अवचेतन में विद्यमान परम्परा मूलकता और आधुनिकता से भी सम्बद्ध होता है।

दिनकर जी का बिम्ब–विधान प्रमुखकतः परम्परा से प्रभावित है। अपने राष्ट्रीय काव्य में उन्होंने प्रायः परम्परागत बिम्बों का ही प्रयोग किया है। किन्तु दिनकर अपनी भाषाके आवेग–तत्व में बिम्बों को इस प्रकार एकात्म कर लेते हैं कि ये बिम्ब बासे मालूम नहीं पड़ते जैसे–

"झन–झन–झन–झन–झन झनन–झनन

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में

अपनी आगमनी बजा रही मैं आप कुछ हुंकारों में;

मैं अहंकार–सी कड़क उठी हंसती विद्युत की धारों में;

बन काल–हुताशन खेल रही पगली में फूट पहाड़ों में;

अंगड़ाई में भूचाल, सांस में लंका के उनचास पवन।''[1]

यहाँ कवि ने विपथगा के रूप में क्रान्ति को साकार करने का प्रयत्न किया है। ''झन–झन'' के श्रव्य बिम्ब से कवि ने पायल की झनकार और तलवार की झनकार के एकात्म्य को रूपायित करने का प्रयत्न किया है।'' विद्युत की धारों में कड़क उठा कर हंसना'', ''कालग्नि बन कर पहाड़ों में फूट कर क्रीड़ा करना,'' ''अंगड़ाइयों में भूचाल और लंका में 49 पवनों का वेग होना''– ये चाक्षुष्य बिम्ब हैं जिनसे क्रान्ति के विराट स्वरूप को साकार किया गया है। इस प्रकार चाक्षुष्य और श्रव्य बिम्बों के सुन्दर सामंजस्य से कवि क्रान्ति जो विपथगा है– की प्रकृति को अंकित करने मे पूर्णतः सफल रहा है।

जैसा कि हमने निवेदन किया दिनकर के बिम्ब उनकी काव्य भाषा की सतह पर नहीं तैरते बल्कि वे उनकी काव्य भाषा का अंग बनकर काव्यानुभव को तीव्र करते हैं। वे कहीं–कहीं आवेग–तत्व की सिद्धि करने के लिए भी बिम्बों का उपयोग करते हैं। जैसे–

''लपटों से लज्जा ढको, कहाँ हो धधकी धधकी घोर अनल

कब तक ढ़क पायेंगे इसको रमणी के दो छोटे करतल।

नारी का शील गिरा खण्डित कौमार्य गिरा लोहू लुहान;

भगवान भानु जल उठे क्रुद्ध चिंघार उठा यह आसमान।''[2]

यहाँ ''रमणी द्वारा अपने छोटे–छोटे करतलों द्वारा अपनी लज्जा

---

1. हुंकार, ''विपथगा''–दिनकर, पृष्ठ–72
2. बापू –दिनकर, पृ0 17

ढंकने का प्रयास'', ''कौमार्य का लहु लुहान होकर गिरना'', ''सूर्य का जल उठना'' और ''आसमान का चिंघार उठना'' ये बिम्ब साम्प्रदायिक वर्गों में नारी पर हुए अत्याचारों के वर्णन को आवेगमय बनाकर काव्यानुभवन को अतिरिक्त संवेदानात्मक घनता प्रदान करते हैं। कहीं–कहीं कवि ने लोक–जीवन से गृहीत बिम्बों का आश्रय लेकर ग्राम्य संस्कृति की सोंधी महक को साकार किया है–

> **''वन–तुलसी की गंध लिए हल्की पुरवैया आती है,**
> **मंदिर की घंटा ध्वनि युग–युग का संदेश सुनाती है,**
> **टिम–टिम दीपक के प्रकाश में, पड़ते निज पोथी शिशुगन,**
> **परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह बिरह गीत उन्मन–''**
> **''भैया! लिख दे एक कलम मो बालम के जोग,**
> **चारो कोने खेम–कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग।''[1]**

पुरवैया में वन–तुलसी की हल्की गंध का होना वातावरण को जहाँ सुगन्धित बनाता है वहाँ ग्रामीण अंचल के आस्था भाव को और प्रगाढ़ करता है। मन्दिरों की घंटा–ध्वनि में शाश्वत मानव–मूल्यों की संगति गूँजती है। दीपक के मंद–मंद प्रकाश में कृषक–शिशुओं का अपनी पुस्तकें पढ़ने में तल्लीन होना जीवन के एक सहज कार्य–कलाप की ओर इंगित करता है। रात के अकेलेपन से सिहर कर वियोगिनी जब प्रियतम को संदेश भेजना चाहती है तब उसके हृदय की हूक गति बन कर फूट पड़ती है। इस प्रकार के बिम्ब निस्सन्देह आधुनिक रचना धर्मिता के एक महत्वपूर्ण दायित्व को

1. रेणुका, ''कविता की पुकार'', दिनकर, पृष्ठ–24

हमारे सामने रखती है। ऐसी ही बिम्बगत आधुनिकता का एक उदाहरण प्रस्तुत है–

> **"कुर्ता टोपी बाँध कमर में भले बाँधलो,**
> **पाँच हाथ की धोती घुटनों के ऊपर तक,**
> **अथवा गांधी बनने को आकुल प्रयास में,**
> **आगे के दो दाँत डाक्टर से तुड़वा लो।"[1]**

प्रत्येक नेता जिस प्रकार गांधी का हास्यास्पद अनुकरण करना चाहता है, उसके लिए उपर्युक्त बिम्ब सार्थक व्यंग्य–प्रहार करते हैं। राष्ट्रीय काव्य में जैसे पैने बिम्ब दिनकर की "नीम के पत्ते" रचना से मिलते हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। दिनकर के बिम्ब परम्परा से गृहीत हैं किन्तु भाषागत आवेग के साथ से पारम्परिक बिम्ब इस प्रकार घुल जाते हैं कि उनमें एक विशेष प्रकार का टटकापन आ जाता है। लोक–तत्वों का उन्होंने बिम्बों में समर्थ उपयोग किया है जो उनके बिम्बों को आधुनिकता से जोड़ता है। जहाँ कवि ने व्यंग्य की विधा को अपनाया है, वहाँ उनके बिम्ब नितान्त आधुनिक हैं। इस प्रकार दिनकर के बिम्ब न आधुनिक हैं न परम्परागत हैं वे दिनकर के अपने हैं।

छन्द विधान–

छन्द कवि के अन्तस में विद्यमान संवेदना के अंतरंग संगीत का व्यक्त रूप है। यद्यपि नये कवियों ने छन्दों के बन्धन से अपने को मुक्त करने का बहुत प्रयास किया किन्तु वही कविताएँ काल की कसौटी पर खरी उतरी जिनमें या तो छन्द के बन्धन की स्वीकृति थी या काव्यानुभव की प्रकृति के

---

1. कुरुक्षेत्र दिनकर, पृष्ठ–67

अनुरूप लय विधान था। यही कारण है कि छन्दों की प्रासंगिता केवल परम्परा की परिधि में ही नहीं है, बल्कि आधुनिक शिल्प में भी वे अपने महत्व को बनाए हुए हैं। छन्द विधान की दृष्टि से भी कुल मिलाकर दिनकर ने परम्परा का ही अनुसरण किया है। यद्यपि उन्होंने यत्र–तत्र छन्दों के बन्धन को तोड़ने का उपक्रम किया है किन्तु वे अन्ततः पुराने छन्दों में ही अपनी दिनकरीय क्षमता को व्यक्त कर पाते हैं। दिनकर काव्य की विख्यात आलोचिका डा० सावित्री सिन्हा के अनुसार "दिनकर की परम्परागत तथा नवीन दोनों ही प्रकार की छन्द योजनाओं का सबसे विशिष्ट गुण है, उनकी लयात्मकता तथा भावानुरूपता। उनकी परम्परागत छन्द योजना आन्तरिक रागों और अनुभूतियों को स्पन्दन और प्राण देती है, तथा नवीन छन्द योजना में बौद्धिक चिन्तन को सुस्थिरता और दृढ़ता से व्यक्त करने की सामर्थ्य है।"[1]

पारम्परिक छन्द विधान का एक उदाहरण प्रस्तुत है। इस छन्द में 12–12 की यति से 24 मात्राएं हैं–

I I S I S I S S S S I S I S S = 24 मात्राएँ

धुँधली हुई दिशाएं छाने लगा कुहासा"[2]

अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'हिमालय' को कवि ने पद्धरि छन्द में बाँधा है। इसमें प्रत्येक चरण 16 मात्राओं का होता है तथा अन्त में लगण आता है यह समलयात्मक छन्द है। एक उदाहरण लीजिए–

S S I S I S I I I S I

"साकार दिव्य गौरव विराट = 16 मात्राएँ

---

1 युग चारण दिनकर– डा० सावित्री सिन्हा, पृ० 282

2 सामधेनी, "आग की भीख"–दिनकर, पृ० 56

ऽ ।। ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ।

पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल[1] = 16 मात्राएँ
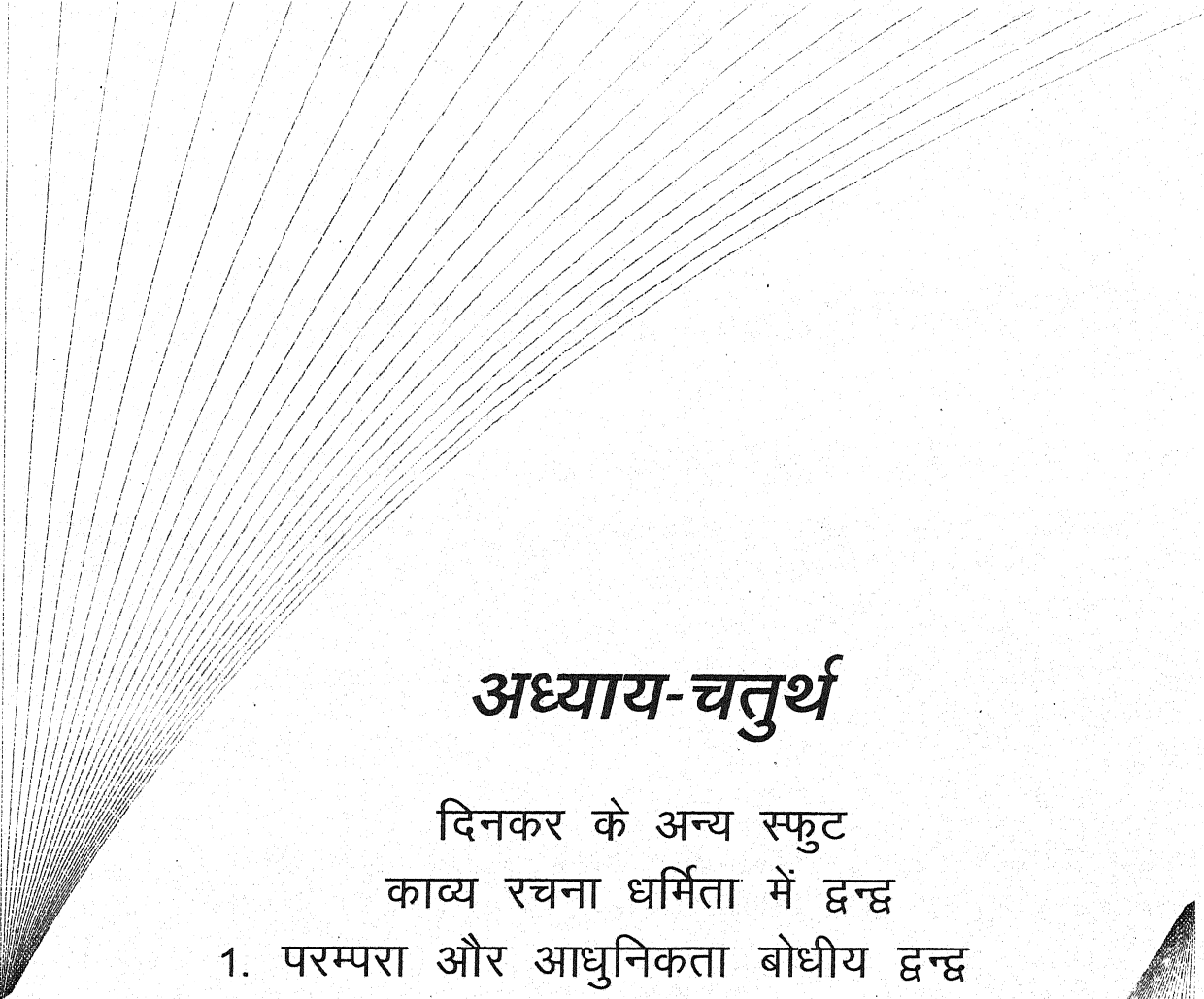
इन पारम्परिक छन्दों के साथ कवि ने कुछ नवीन प्रयोग भी किए हैं। जैसे सार छन्द का आधार लेकर कवि ने अतुकान्त चतुर्दशपदी की रचना की है–

"मत खेलों यों बेखबरी में जनता फूल नहीं है,
और नहीं हिन्दू कुल की अबला सतबन्ती नारी,
जो न भूलती कभी एक दिनकर गहने वाले को,
मरने पर भी सदा उसी का नाम जपा करती है।"[2]

दिनकर ने राष्ट्रीय काव्य में छन्द विषयक कुछ नवीन प्रयोग भी किए हैं। इन छन्दों के निर्वाह मे कवि की सबसे बड़ी विशेषता है– छान्दिक गति पर अचूक अधिकार। दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में जो आवेग है, प्रभाव का जो नुकीलापन है उसमे उनके छन्दों के चयन एवं छान्दिक गति की भी अपनी भूमिका है।

---
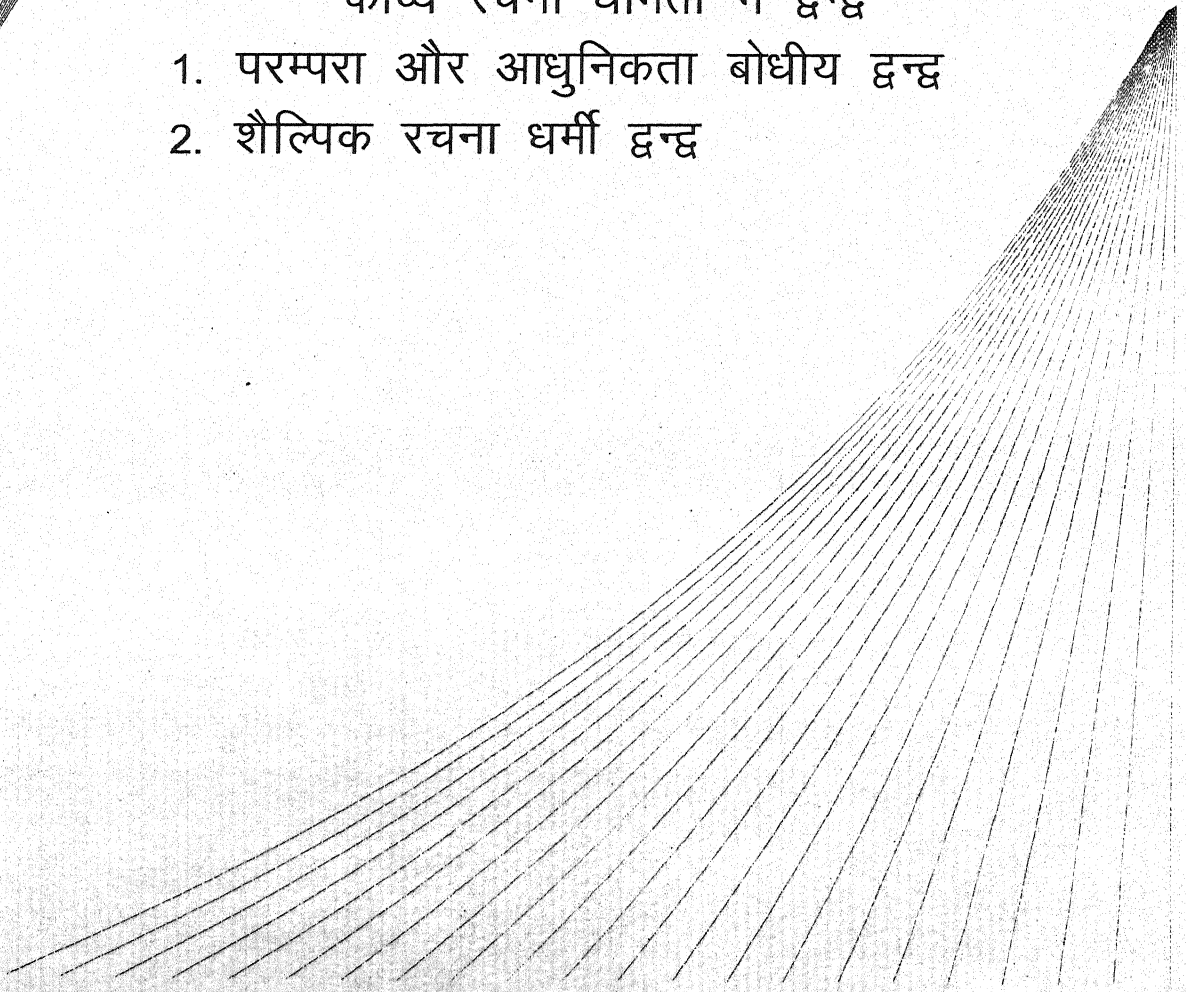
1. रेणुका "हिमालय के प्रति" –दिनकर, पृ0 13
2. नीम के पत्ते, "जनता", –दिनकर, पृ0 30

अध्याय-चतुर्थ

दिनकर के अन्य स्फुट काव्य रचना धर्मिता में द्वन्द्व

1. परम्परा और आधुनिकता बोधीय द्वन्द्व
2. शैल्पिक रचना धर्मी द्वन्द्व

परम्परा और आधुनिकता बोधीय द्वन्द्व

आज का व्यक्ति अपने परिवेश के प्रति सम्पृक्ति नही बल्कि एक तनावपूर्ण द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण रखता है ! आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक दबावों से टूटता–जुडता मनुष्य परिवेश को नहीं जीता बल्कि परिवेश ही उसे जीता और सोखता है ! व्यक्ति की निजी आकांक्षाओं की समानांतरता में परिवेश की मुद्रा विरोधी ही होती है ! परिवेश और व्यक्ति का यह अन्तर्द्वन्द्व ही उसके यथार्थ–बोध का मूल आधार है ! फिर, इस अन्तर्द्वन्द्व ने मानव–सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है ! ''यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग–विराग नहीं बदले– प्रेम अब भी प्रेम है, और घृणा अब भी घृणा,यह साधरणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धो की प्रणालियाँ बदल गयी है। और कवि का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि–कर्म पर बहुत गहरा असर पडा है।''[1] इस सन्दर्भ में यदि यह कहा जाए कि मानव–सम्बन्धो के मूल में विद्यमान राग –तन्त्र अपनी स्थिति को यथावत–सुरक्षित रख पाया है। इसमे हमे सन्देह है। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच में उन अन्तरंग मानव–सम्बन्धो की प्रकृति भी बदली है जो विशुद्ध भावानात्मक धरातल पर विकसित होते थे । सम्बन्धो के निर्धारण में उनकें विकास में व्यक्ति और परिवेश के अन्तर्द्वन्द्व ने मूर्त और अमूर्त स्वार्थो की छायाओं को उभारा है। एसी स्थिति में यह कैसे स्वीकार किया जाए कि केवल रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ ही बदली हैं।

व्यक्ति और परिवेश की विरोधी मुद्रा में मानव–सम्बन्धों के

---

1. दूसरा सप्तक – अज्ञेय, पृष्ठ–9

बदलाव का अनिवार्य परिणाम है– परम्परा के प्रति सन्देह। इस प्रकार बदलते हुए मानव सम्बन्धों और परस्पर सन्देहोन्मुखी परम्परा–बोध में कारण कार्य सम्बन्ध हैं। जब इस परिवेश के दबाव का अनुभव संवेदनात्मक स्तरो पर करते हैं तब हमें बदलते हुए मानव–सम्बन्धों का अतीत से भिन्न एक नया बोध होता है। हम जिस परिवेश के साक्षी हैं, उसकी समानांतरता में जब हम अतीत को विन्यस्त करते हैं तो वह हमें स्वाभावतः आश्वस्त नहीं कर पाता। हम अतीत और वर्तमान के बीच संवादहीनता को सन्देह के स्तरों पर अनुभव करने लगते हैं। "लगता है जैसे पिछला इतिहास आज के मनुष्य का था ही नहीं, इतना बड़ा अन्तर इस बीच में आ चुका है। इस इतिहासीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य तथा संस्कृति के पूर्व–क्रम से कटता चला गया है। यही कारण है कि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के समस्त माध्यम बासी पड़ गए हैं और आन्तरिक भाव–जगत् को छूने में अक्षम प्रतीत होते हैं। उनके प्रति लोगों के मन में न वह पिछला आदर है, न हृदय का तादात्म्य। जैसे एक सुदूर मंत्र पर एक छाया–नाटक बहुत दिन से चल रहा हो, दर्शनों का जिससे कोई सम्बन्ध नहीं।"[1]

जब व्यक्ति और परिवेश के अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप हम परम्परा का सन्देह के कोण से मंथन और मूल्यांकन करते हैं तब उसके सकारात्मक सन्दर्भों पर ध्यान केन्द्रित नही रख पाते। परम्परा के प्रति हमारा दृष्टिकोण एक विद्रोही जैसा हो जाता हैं। यह विद्रोह यदि परम्परा के सर्जनात्मक अंशों को स्वीकार कर सके तो इसकी एक निजी प्रासंगिकता है। किन्तु विद्रोह स्वयं से कोई मूल्य नहीं है। बह तो एक प्रक्रिया है जिससे हम मूल्य

1. विश्व इतिहास की झलक– नेहरू, पृ0 107

अर्जित करते हैं। विद्रोह व्यवस्था का विरोधी नहीं होता, वह तो उसकी यांत्रिकता का निषेध करता है। नरेन्द्र मोहन जब विद्रोह को सामाजिक विवशता[1] के रूपमें रेखांकित करते हैं तो इसे विद्रोह के मूल्यगत स्वीकार की अतिवादिता के रूप में ग्रहण करना होगा।

जब तक विद्रोह के पीछे सर्जनात्मक प्रेरणा कुछ मूल्य–चेतनाएँ नहीं होती तब तक वह विद्रोह या तो कागजी रहता है अथवा वह अपने कार्य–रूप में ध्वंसात्मक होता है।

कोई भी साहित्य अपने देश की परम्पराओं से अछूता नहीं रह सकता–

चेतन या अचेतन रूप से साहित्यकार के मानस में परम्परा के ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया चलती रहती है। यदि परम्परा और साहित्य के सम्बन्धों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो हम पायेंगे कि यह सम्बन्ध कभी भी सार्वभौम नहीं होता। वह अपने देश के जातीय, सामाजिक एंव सांस्कृतिक सन्दर्भो से अपना आकार ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में परम्परा और साहित्य के सम्बन्धों का आयात संभव नहीं जिसका प्रयत्न हमारे नये साहित्याकारों द्वारा किया जा रहा हैं।'' हम या तो परम्परा के नाम पर एक तथा कथित सांस्कृतिक एश्वर्य की अभिव्यक्ति को ही श्रेष्ठ कविता के स्वयं सिद्ध प्रतिमान के रूप में जाने–अनजाने मान्यता प्रदान किये रहते हैं या फिर इसके विपरीत छोर पर परम्परा की जीवित वास्तविकताओं से मुख मोड़ कर तथा सर्जन–प्रक्रिया के लिए उनके अस्तित्व बोध तक को सर्वथा असम्बद्ध, अनावश्यक करार देकर मात्र अपनी निरपेक्ष व्यक्ति संवेदना में ही

1. विद्रोह और साहित्य, सं0 डा0 नरेन्द्र मोहन, पृ0 17

नए प्रभावों को आयात करने और पचाने में दूसरी भाषाओं के साथ होड़ बदने के लिए कटिबद्ध रहते हैं।''[1] साहित्य के लिए परम्पराएं कभी बोझ नहीं बनती है वह गृहीता जिसे अपनी परम्पराओं के आभ्यान्तरीकरण का ज्ञान नहीं होता जो नये पन की झोंक मे परम्परा के आस्था रूपी अमृत–रस को नहीं चख सका। ''आस्था किसी अन्य कर्म–व्यापार के परिणाम को प्रभावित कर सकती है, परन्तु साहित्य को तो वह स्पन्दित दीप्त जीवन देती है।''[2]

इसमें सन्देह नही साहित्य परम्परा को केवल स्वीकार के लिए नहीं टटोलता। प्रश्नानुकूलता, सन्देह, मंथन, संशोधन भी परम्परा के रचनात्मक ग्रहण के आवश्यक सोपान है किन्तु इसका आशय यह नहीं कि साहित्य और परम्परा के सम्बन्ध का निर्धारण ये नकारात्मक सन्दर्भ ही करते हैं। यह ठीक है कि इनसे परम्परा के रूढ़िगत तत्व छँटते हैं–प्रतिगामी अंश निःशेष होते हैं, किन्तु इनके अतिवादी उपयोग से परम्परा की अर्थवत्ता को तो हम खो ही बैठते हैं, हमारी आधुनिकता की समझ भी भोड़ी हो जाती है। हम चाहकर भी परम्परा से पलायन नहीं कर सकते। विश्व का कोई भी लेखक शुद्ध आधुनिक नहीं हो सका क्योंकि उसके जैविक और मनोमय स्तर परम्परा के अणुओं से निर्मित हैं

साहित्य की सर्जनात्मकता मानवीय अनुभव के संवेदनात्मक विस्तार में निहित होती है। यह विस्तार किसी अवधि विशेष की चौखट पर समर्पित नहीं होता, बल्कि अतीत और वर्तमान को समीकृत करता हुआ वह भविष्य

---

1. समानान्तर– रमेश चन्द्र शाह, पृष्ठ 46–47
2. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, महादेवी वर्मा, पृ0 26

में घुलनशील हो जाता है। सृजन और परम्परा का यह सम्बन्ध रचनाकार को बना बनाया नहीं मिलता। उसे परम्परा का मन्थन करके, उसके गलित अंशों को रद्द करके ही इस सम्बन्ध का निर्धारण करना होता है। वस्तुतः साहित्य की सर्जनात्मकता की लब्धि के लिए यह आवश्यक होता है कि रचनाकार पहले परम्परा का सर्जनात्मक ग्रहण करे।

दिनकर के काव्य का आदर्श परम्परागत अथवा आधुनिक–

इससे पहले कि हम परम्परा और आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य मे दिनकर की साहित्यगत मान्यताओं की चर्चा करें, यह जान लेना आवश्यक है कि साहित्यकार तथा उसके द्वारा लिखी जाने वाली आलोचना में परस्पर क्या सम्बन्ध है? या यों कहेंकि रचनाकर जब अपनी साहित्यिक मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण करता है तो उसकी रचनात्मक क्षमता का अधूरापन माना जाये या इस प्रस्तुतीकरण से यह क्षमता दृढ़ता और विस्तार अर्जित करती है? वस्तुतः कविता के साथ साथ उसके मूल में विद्यमान काव्य सिद्धान्तों की चर्चा हमारे कवियों के लिए इन दिनों आधुनिकता का पर्याय बन गया है। जैसे–जैसे गद्य का निखार और परिस्कार हुआ है, वैसे–वैसे कवियों ने अपनी–अपनी कविताओं की 'भूमिका' के लिए इसका सजगं उपयोग करना प्रारम्भ किया। किन्तु छायावादी कवियों तक इस भूमिका के प्रस्तुतीकरण के दो गंभीर उद्देश्य रहे है–

(1) अज्ञात, अनुद्घाटित तथा विशिष्ट, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक सन्दर्भो का अपने पाठकों को परिचय देना (2) भाव अथवा शिल्प की दृष्टि से नवीन आन्दोलन के औचित्य का प्रतिपादन। पहले उद्देश्य की दृष्टि से

'कामायनी' की भूमिका को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। दूसरे उद्देश्य के लिय पंत के –'पल्लव' की भूमिका का उदाहरण यथेष्ट है। इसमें काव्य भाषा के छायावादीपन का सशक्त समर्थन तो किया है किन्तु इसके साथ ही इसमे अपनी कविता की सामर्थ्य की धुंधली वकालत भी की गई है। यह वकालत छायावाद के बाद अपने धुंधलेपन को खोती हुई स्पष्ट होती गई है। वस्तुतः "भूमिका का काम भूमि तैयार करना है; भूमि 'तैयार' वही है जिसपर चलने में उसकी ओर से बे खटके होकर उसे भुला दिया जा सके,"[1] किन्तु भूमिका की भूमि पर चलने के खटके को छायावाद के बाद के रचनाकार अधिक स्थूलता से रेखांकित करते चले हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि कविताओं का परीक्षण भूमिकाओं की प्रयोगशालाओं में होने लगा।

दिनकर की काव्य यात्रा जिस अनुपात में और. जिस रूप में प्राणवान है, उनकी भूमिकाएँ उसके वैचारिक समर्थन के प्रमाणिक दस्तावेज हैं। यह प्राणवत्ता क्योंकि कविता के बदलते संदर्भों को अपने में अन्तर्मुक्त करना चाहती है, अतः अपनी भूमिकाएँ एक प्रकार से सम सामयिक कविता को अपने पैमानों पर परखने के सार्थक–निरर्थक प्रयत्नों का लेखा–जोखा भी प्रस्तुत करती है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो "दिनकर की आलोचना उनकी कविता की पूरक है। दूसरे शब्दों में, दिनकर की आलोचना उनकी कविताओं की प्रतिरक्षा में लिखी गयी हैं।"[2] यह प्रतिरक्षा कितनी सफल रही है, यह तो प्रश्न अलग है किन्तु दिनकर ने आधुनिक कवियों की इस

---

1. तीसरा सप्तक– अज्ञेय, पृ0 13
2. दिनकर, एक पुनर्मूल्यांकन–विजेन्द्र नारायण सिंह, पृ0 20

भूमिका परक सुविधा का पूरा लाभ उठाते हुए साहित्य की परम्परा और आधुनिकता को निजी कृतित्व की सीमाओं पर जिस ईमानदारी से परखा है, उसका एक विशिष्ट महत्व है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

दिनकर सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं–

सांस्कृतिक चेतना का कवि आस्तिक होता है। उसकी आस्था श्रृंगार–काव्य की रचना में भी दोलायमान नहीं होती, बल्कि वह मर्यादाओं के व्यूह के आगे सदैव नतमस्तक है। उसमें विद्रोह की वह ऊष्मा नहीं जो उत्तर–छायावादी कवियों को सहजप्राप्त है। दिनकर प्रेम–सौन्दर्य–परक रचनाओं के प्रणयन में छायावादी गोपनशीलता को दिनकरीय सहज विश्लेष्य आवेग का ताप प्रदान करते चलते हैं। अपनी श्रृंगार प्रमुख रचना रसबन्ती में छायावाद को निजी मूर्तता प्रदान करते हैं। यों रेणुका में भी कवि की इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता हैं वहाँ छायावादी निराशा और अधिक आस्फालक रूप में उभरी है–

"दो कोटर को छिपा रही मदमाती आँखें लाल सखी
अस्थि–तन्तु पर ही तो है ये खिले कुसुम–से लालसखी
और कुचों के कमल झड़ेंगे ये तो जीवन से पहले
कुछ थोड़ा–सा माँस प्राण का छिपा रही कंकाल सखी।"[1]

रसबन्ती में आकर दिनकर के काव्य में छायावादी रंग कुछ अधिक गहरे हो गए हैं। यहाँ वही अमूर्त शब्दावली ज्यों–की–त्यों विद्यमान है। जैसे–

1. रेणुका, "धूल के हीरे"– दिनकर, पृष्ठ 12

"रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व,

रूप पल–पल अरूप की ओर,

तीव्र होता ज्यों–ज्यों जय–नाद,

बढ़ा जाता मुरली का रोर।

सनातन महानन्द में आज,

बांसुरी–कंकन एकाकार,

बहा जा रहा अचेतन विश्व,

रास की मुरली रही पुकार।"[1]

उर्वशी में छायावादी काव्यानुभव और दिनकरीय आवेग–मूलक प्रासादिकता का समन्वय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है।" ये आवेग उनकी शक्ति है, सुनिर्णीत अत्यन्ता का अभाव उनकी सीमा।'[2] और इसीलिए उनका काव्यानुभव वहीं तक आधुनिक है, जहाँ तक वह द्वन्द्व का आवेगमय विस्फोट करता है, किन्तु जिस विषय पर कवि ने तूलिका उठाई है उस पर आधुनिकता के रंगों से और भी सूक्ष्म और संतुलित चित्र उकेरे जा सकते थे।

प्रेम और सौन्दर्य परक काव्य में दिनकर–

प्रेम और सौन्दर्य परक काव्य में दिनकर ने केवल अपनी अनुभूतियों को ही काव्यबद्ध नहीं किया, बल्कि प्रेम, सौन्दर्य, काम, नारीत्व पर अपने दृष्टिकोण को भी अभिव्यक्ति दी है। विशेष रूप से "काम की विवेचना उन्होंने बहुत ही विस्तृत रूप में की है। आज के मनुष्य की आपराधिक

1. रसबन्ती, "रास की मुरली"–दिनकर, पृ0 43
2. उर्वशी, उपलब्धि और सीमा– डा0 विजेन्द्र नारायण सिंह, पृ0 130.

वृत्तियों के पीछे अतृप्त काम की कुण्ठा भी काम करती है। आज का मनुष्य रूग्ण है, इसलिए नही कि उसमें अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ है, बल्कि मूलतः इसलिए कि उसके जीवन का काम–पक्ष रूग्ण है। दिनकर ने इस समस्या का अनुभव बहुत गहराई से किया है और 'उर्वशी' में अपने दृष्टिकोण का सशक्त प्रतिपादन किया है। इस प्रतिपादन में परम्परा और आधुनिकता दोनों के तत्व संयोजित हुए हैं।

दिनकर का काम विषयक चिन्तन बहुत अंशो तक परम्परागत है, क्योंकि उसमे काम के पारम्परिक व्यापकता का आख्यान किया गया है। उन्होंने उर्वशी में काम विषयक चिन्तन की पूरी परम्परा का सफल उपयोग किया है। भारतीय काम विषयक चिन्तन आरम्भ से ही आदर्श मूलक रहा है। काम का अर्थ कभी भी हमने मात्र शारीरिक सम्बन्धों तक सीमित नहीं माना बल्कि उसके असीमित प्रसार का मुक्त कण्ठ से गायन किया है–

''तिरश्चींनो विततो रश्मि ऐषामधः स्विदासो दुपरि स्विदासीत।

रेतीधा जस–महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात्प्रयातिः परस्ताव।''[1]

ऋषियों ने अनैतिक शारीरिक सम्बन्धों को कभी समर्थन नही दिया। ''ऋग्वेद के यम–यमी संवाद में काम–विकल यमी के प्रस्ताव को यम, इसलिए अस्वीकार कर देता है क्योंकि भाई–बहिन का शारीरिक सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से अनुचित है। निष्कर्षतः ऋग्वेद मे काम के महत्व को दो रूपों में स्थापित किया है–(1) वह परमेश्वर के हृदय में उत्पन्न शक्ति, (2) वह देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करके विवाह और पुत्रप्राप्ति में अपनी सार्थकता उपलब्ध करता है।'' अथर्ववेद में काम का विवेचन लौकिक

1. ऋग्वेद, 10–169–5.

धरातल पर हुआ है किन्तु वहाँ शरीरिक मिलन की अपेक्षा मानसिक ऐक्य के महत्व को बार–बार प्रतिपादित किया है।

''यथार्थ–वाहो अश्विना समैति संच वर्तते।

एवा भामभि ते मनः समेतु सं0 च वर्तमान।।''[1]

इसी प्रकार ''मुण्डकोपनिषद् के अनुसार काम पुरूष के आविर्भूत होने का एक मात्र कारण है। पुरूष की सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होने के उपरान्त काम अपने आप विलीन हो जाता है।''[2]

मनुस्मृति ने काम की अतिचारिता और अकामता–दोनों को ही गर्हित माना है। इस प्रकार यहाँ काम के सन्तुलित उपयोग पर बल दिया गया है–

''कामात्मता न प्रशस्ता, न चै वे हास्त्य कामता।

काम्योहि वेदाधिगमः कम योगश्च वैदिक।।''[3]

अन्यत्र धर्म तथा अर्थ के साथ काम की गणना करके उसे भी धर्म ही माना है।[4] महाभारत में भीम ने काम को कामना के अर्थ में ग्रहण करते हुए सिद्ध किया है कि 'धर्म' और 'अर्थ' से काम श्रेष्ठ है क्योंकि धर्म और अर्थ के लिए किए गए प्रयासों में भी कामना विद्यमान है। यथा–

''नाकामः कामयत्यर्थ नाकामों धर्म मिच्छति।

नाकामः कामयानोऽस्ति तस्यात कामो विशिष्यते।''[5]

1. अथर्ववेद, 6–10–2–1.
2. मुण्डकोपनिषद्, 1–3–12
3. मनुस्मृति, 2–2.
4. मनुस्मृति–मनुः, 2–224
5. महाभारत, शान्तिपर्व, 167/29–36.

भारतीय परम्परा ने आरम्भ से ही जिस व्यापकत्व का भाव–मय आख्यान किया है उसकी चरम परिणति शैव दर्शन में मिलती है। शैवमत में काम को परम तत्व के रूप में ग्रहण किया गया है। 'तन्त्रालोक' में काम की व्यापकता का दार्शनिक शब्दावली में निर्देशन किया गया है–

''अतएव विसर्गाध्यम् व्यक्तहकलात्मकः।

काम तत्व मिति श्री मत्कुल गुहवर उच्येत।।

यत्तरमव्यक्तः कान्ता काण्ठे व्यवस्थितम्।

ध्वनि रूपमनिच्छं तु ध्यान धारण वर्जितम्।।

तंत्र चित्तं समाधाय वशये युगपज्जगत्।।[1]

यहाँ काम को अव्यक्त, अक्षर, सरस, ध्वनिरूप, स्वच्छन्द एवं अत्यन्त सूक्ष्म होने से ध्यान और धारणा से परे बताया गया है। ऐसे काम में चित्त को एकाग्र करने से अविलम्ब ही समस्त विश्व को वश में किया जा सकता है– ऐसे तन्त्रालोक में माना गया है।

दिनकर ने काम के अर्थ–विकास की पूरी परम्परा का उपयोग किया है। उन्होंने 'उर्वशी' में काम के व्यापकत्व का आख्यान करते समय किसी नवीन चिन्तन सूत्र का ऐसा उपयोग नहीं किया जो परम्परा से पूरी तरह विच्छिन्न हो। वे काम–दर्शन का परम्परा–समर्थित और काव्यात्मक उपयोग करते हैं। उन्होंने उर्वशी के काम–दर्शन को कृति की भूमिका में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। वे शारीरिक मिलन को घोषित करते हुए काम की पूर्णता उस स्थिति में स्वीकार करते हैं जब व्यक्ति सौन्दर्यानुभूति की

1. तन्त्रालोक–2.

चरम कोटि में लीन होता है। दिनकर जी के शब्दों में– ''काम को ये जो निराकार झंकृतियाँ है, वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाएँ स्पर्श के द्वारा, सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं, वह अधूरा और अपूर्ण है। पूर्णता पर वह तब पहुंचता है, जब हम सौन्दर्य के निदिंध्यासन अथवा समाधि में होते हैं।''[1]

कवि ने पुरुरवा और उर्वशी के चरित्र का निरूपण सौन्दर्य की इसी समाधि के आदर्श को प्राप्त कर लेने के परिप्रेक्ष्य में किया है। उनका प्रेम शरीर की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ मन के गहन गुह्य लोकों में प्रवेश करता है।

काम का सम्बन्ध तन से ही नहीं होता मन से भी

कविता 'नदी और पेड़' में दिनकर ने पेड़ के रूप में एक प्रकार से मानो स्वयम् को प्रतीकित करने का प्रयास किया है। वृक्ष यहाँ यौवन की बाढ़ उतर जाने पर प्रौढ़ व्यक्ति का प्रतीक है और नदी उस युवती का जो यौवन के कूलकगारो पर इठलाती हुई बहती जाती है। वृक्ष नदी का स्पर्श सात्विक भावनाओं से प्रेरणा पाकर करता है किन्तु–

''क्या हुआ उस दिन?

तुम्हें मैने छुआ था,

मात्र सेवाभाव से, करूणा, दया से,

स्पर्श में, लेकिन कहीं कोई सुधा की रागिनी है।

और त्वचा के भी श्रवण हैं।

---

1. उर्वशी दिनकर, भूमिका पृ0 –'ड़'

स्पर्श का झंकारमय यह गीत सुनते ही

त्वचा की नींद उड़जाती;

लहू की धार में किरणें कनक की झिलमिलाती है।''[1]

काम का सम्बन्ध केवल तन से नहीं होता, मन से भी होता है। प्रौढ़ वय होने पर भी काम के रूप में ''लहू की धार में किरणें कनक की झिलमिलाती है।'' वृक्ष के रूप में कवि को आभास होता है कि युवती रूपी नदी मानो उसका उपहास उड़ा रही है। वह वासना जो वृक्ष के हृदय को अब तक उद्वेलित कर रही थी उसका वृक्ष ने संकोचवश विसर्जन कर दिया—

''और इतने में, न जानें,

सोचकर क्या बात मन में हंस पड़ी तुम

मैं, न जाने, देख क्या सकुचा गया।

एक पीला पत्र धारा में बहाकर

वृक्ष फिर अपनी जगह पर आ गया।''[2]

दिनकर ने जार्ज रसल के एक महत्वपूर्ण विचार—सूत्र को प्रस्तुत करते हुए अपने आलोचना ग्रन्थ के काव्य की भूमिका में लिखा कि ''कविता अंधी होने पर भी खूबसूरत हो सकती है, जैसे शीशे पर अगर रंगो से सघन चित्रकारी कर दें तो शीशे के भीतर तो कुछ दिखायी नहीं पड़ेगा, लेकिन, चित्रकारी खूबसूरत जरूर होगी। परन्तु यह कारीगरी उस कारीगरी की बराबरी नहीं कर सकती, जिसके द्वारा शीशे पर रंगीन चित्र भी बनाये गये

1. ''नदी और पेड़'' कोयला और कवित्व, दिनकर, पृ0 22
2. ''नदी और पेड़'' कोयला और कवित्व, दिनकर, पृ0 23

हैं और उसकी पारदर्शिता भी मारी नहीं जाती।''[1] 'कोयला और कवित्व' की आधुनिकता इसीप्रकार की है। कहीं–कहीं काम का कवि ने आधुनिक दृष्टि से अनुभवात्मक आख्यान किया है जैसे–

''चर्म को छीलता, न छाँटता है,

काम का पुराना बाण।

गोदता नही है प्राण,

दोहों के समान नपे–तुले व्रण काटता है''[2]

यहाँ 'नपे–तुले–तृण काटने में काम की अनुभात्मक पीड़ा साकार हो उठी है।

नया कवि जिस प्रकार परम्पराशील कवियों से घृणा करता है, दिनकर उसका उत्तर घृणा से नहीं देते वे जानते हैं किं अपनी समस्त सांस्कृतिक उपलब्धियों को सजाकर उन्हें परम्परा की खाद बनाना है–

''हंसते हो हम पर?

परन्तु हम नहीं चिढेंगे।

हम तो तुम्हें जिलाने को मरने आये है।

मिले जहाँ भी जहर, हमारी ओर बढ़ा दो।''[3]

वस्तुतः यहाँ परम्परा ने मानो आधुनिकता के प्रति अपना दायित्व निभाया है, और दायित्व का यही निर्वाह कवि को आधुनिक कवियों में प्रतिष्ठित करता है। कवि परम्परा में बंधकर नहीं रहना चाहता–

---

1. काव्य की भूमिका– दिनकर, पृ0 1
2. कोयला और कवित्व, 'पुरानी और नयी कविताएँ'' –दिनकर, पृष्ठ–2
3. कोयला और कवित्व, ''कवि–2' दिनकर, पृ0–16

"पर कवि ही क्यों,? हंसी–खुशी में जो झूम रहा है,

निश्चय ही, अपने अतीत पर परदे गिरा चुका है।

तो फिर मैं ही रहूँ पड़ा क्यों नीचे उस पीपल के,

जिसकी डाली में मेरे सपनों के घर बन्धे हैं।"[1]

पारिवारिक संघर्षों, मित्रों और स्वजनों की स्वार्थपरकता ने कवि के हृदय पर गहरा आघात किया–

आराध्य के सम्मुख दिनकर ने अपने जीवन की पुस्तक का हर पृष्ठ खोलकर रख दिया है। दिनकर सारा जीवन द्वन्द्व में जीते रहे परन्तु जीवन के अन्तिम समय में टूट गये। इस टूटन का एक मात्र कारण–पारिवारिक संघर्षों, मित्रों और स्वजनों की स्वार्थ परकता है। दिनकर की अदम्य जिजीविषा पर स्वार्थमय जगत् ने निरन्तर आघात किये तो उसकी वेदना और समर्पण भाव इन शब्दों में व्यक्त हो उठा–

"दहक उठे जो अंगारे बन नए,

कुसुम कोमल सपने थे।

अंतर में जो गांस मारकर गये,

अधिक सबसे अपने थे।

अब चल उसके द्वार सहज जिसकी करूणा है।"[2]

दिनकर जी अपने ऊपर आई विपत्तियों से उद्वेलित नही होते हैं

---

1. कोयला और कवित्व, "अपनी कविताओं के बीच"–दिनकर, पृष्ठ –35
2. हारे को हरिनाम "हारे को हरिनाम"–दिनकर, पृ0 159

बल्कि वे उन्हें सहज भाव से ग्रहण करते है। दुःख उन्हें कातर नहीं बनाते, बल्कि अपने आराध्य के प्रति उसके आस्था–भाव को और दृढ़ करते हैं–

''राम तुम्हारा नाम कंठ में रहे,

ह्वदय जो कुछ भेजो, वह सहे,

दुःख से त्राण नहीं माँगू।

माँगू केवल शक्ति दुःख सहने की,

दुर्दिन को भी मान तुम्हारी दया,

अबकर ध्यान मग्न रहने की।

देख तुम्हारे मृत्यु–दूत को डरूँ नहीं,

न्योछावार होने में दुविधा करूँ नहीं।

तुम चाहो, दूँ वही,

कृपण हो, प्राण नहीं माँगू।''[1]

कवि आराध्य के प्रति अपने भक्ति–भाव को निवेदित करता हुआ कभी–कभी उसी प्रकार कातर हो जाता है, जैसी कातरता तुलसी की विनय–पत्रिका में देखी जा सकती है। वैसे भी कवि ने 'हारे को हरिनाम' को आराध्य के प्रति अपनी 'विनय पत्रिका' ही माना है। 'रश्मिलोक' की भूमिका में कवि ने लिखा – ''हारे को हरिनाम लिखकर मैने आशा की थी कि मेरी विनय–पत्रिका पूरी हो गई।''[2] यहाँ कवि ने रेणुका, हुंकार, और परशुराम की प्रतीक्षा की आवेग धर्मिता और 'नीलकुसुम' तथा 'कोयला और

---

1. हारे को हरिनाम, ''राम तुम्हारा नाम''–दिनकर, पृ0–3
2. रश्मि लोक– दिनकर, भूमिका पृष्ठ– 'ञ'

कवित्व' की बौद्धिकता से बचकर संतुलित रूप से अपनी कातरता को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

"मैं रेती पर खड़ा हूँ।

आगे गरजता हुआ पारावर है।

ऐसे में तुम कहाँ हो?

जिसे मैने अपना आराध्य,

माना है?

अदृश्य के माँझी।

कोई नाव भेजो,

मुझे भी पार जाना है।"[1]

यहाँ दिनकर के हृदय का उद्वेलन अभिव्यक्ति नहीं पा सका है, बल्कि दिनकर ने संघर्षो के पूरे विष को पीकर– इस संतुलन को अर्जित किया है। पहली दो पंक्तियों में दिनकर ने आराध्य को केवल अपनी स्थिति का संकेत दिया है। रेती उसके जीवन के सारे रस–स्रोतों के सूख जाने का प्रतीक है, और पारावर उन संघर्षो और समस्याओं की असीमता का जिनका कवि ने अब तक जीवन के रस–स्रोतों के सहारे सामना किया था। आज शुष्क रेती और गरजते पारावार की समानान्तरता के बीच दिनकर अपने उस आराध्य को गुहारता है जो अदृश्य का पथ–प्रदर्शक है। इस प्रकार कवि आवेगों के कम्पन की लहरें उठाये बिना जिस प्रकार आराध्य के चरणों में अपनी पीड़ा का निवेदन करता है, वह निस्सन्देह श्लाघ्य है।

1. हारे को हरिनाम, समुद्र के किनारे"–दिनकर, पृ0 81

'रश्मिलोक' में दिनकर ने लिखा है– ''धर्म में निराकार से साकार की ओर गया हूँ। कविता में मेरी यात्रा साकार से निराकार की ओर है।''[1] सच मुच हारे को हरिनाम की आस्था परकता में निराकारता साकारता में और साकारता निराकारता में इस प्रकार घुलनशील हो गई है कि उनको अगल–अलग करके नही देखा जा सकता। दिनकर यों तो आरम्भ से ही आस्था के कवि हैं। उस समय पर भी जब वे आवेग के कवि थे। उस समय भी जबकि वे क्रान्ति और विप्लव की बाते कर रहे थे। उस समय भी अनास्था के विषय में वे मौन रहे। अनास्था को उन्होंने कभी अपने जीवन–दर्शन की स्वीकृति नही दी। उन्हीं के शब्दों में–

''क्रोधवती कविता से

मेरा निकट का परिचय है

उसके सारे नखरे

मैं शौक से सहूँगा।

लेकिन अगर कोई

यह पूँछ बैठे

कि तेरी कविता में

अनास्था कहाँ है?

तो समझ में नहीं आता

कि मैं क्या कहूँगा।''[2]

1. रश्मिलोक, दिनकर, भूमिका पृष्ठ 'त'
2. हारे को हरिनाम, ''अनास्था''–दिनकर, पृष्ठ–60

दिनकर ने यहाँ आराध्य के प्रति दृढ़ आस्था–भाव को संतुलित अभिव्यक्ति दी है। आज के युग में जब नया और आधुनिक कहलाने के लोभ में रचनाकार अनास्था को मूल्य के रूप में ग्रहण करने लगा है, कवि का यह प्रगाढ़ किन्तु सधा हुआ आस्था–भाव हमें सुखद आश्चर्य के भाव से भर देता है। इस सम्बन्ध में विष्णुकान्त शास्त्री का यह मत हमें मान्य है कि ''जो हो, क्या वे कविताएँ इसलिए अनाधुनिक अतः तिरस्करणीय हैं कि इनमें आस्तिकता और भक्ति की भावना झलकी है? मैं ऐसा नहीं समझता। जिन्होंने ईश्वर की लाश बरामद कर ली है, उनकी वे ही जाने, मैं तो मानता हूँ कि आस्तिकता और नास्तिकता दोनो सर्वकालिक प्रवृत्तियाँ हैं। कभी किसी की प्रधानता हो सकती है, कभी किसी की''[1]

समर्पण का सम्बन्ध अहँ के निषेध से

व्यक्ति जब अहं को तराश कर अपने को आराध्य के अनुकूल बना लेता है। तभी समर्पण अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता प्राप्त करता है। दिनकर ने भी अपने अहं से उबरने की चेष्टा की है। आराध्य द्वारा प्रदत्त कष्टों से वह क्षुब्ध और कातर नहीं होते, बल्कि वह इन कष्टों से एक विशिष्ट प्रकार का सन्तोष अर्जित करते हैं–

''देवता, तुमने देह धरकर

मुझे लूटा है।

फिर भी सन्तोष है

कि मेरा अहंकार

---

1. विष्णुकान्त शास्त्री, ''हारे को हरिनाम'', राष्ट्रकवि दिनकर–पं0 डा0 गोपाल राय, पृष्ठ–177

तुम्हारे चरणों पर टूटा है।"[1]

मनुष्य क्षमताओं का पुंज है। वह पहाड़ों के सीने को भेद कर अपना मार्ग बनाना जानता है, उसके एक हाथ में विज्ञान और दूसरे में बौद्धिक सिद्धियाँ है। इसलिए दिनकर ने 'नीलकुसुम' में स्वर्ग के सम्राट को चुनौती दे डाली है–

"स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,

रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं ये:

रोकिये, जैसे बने, इन स्वप्न वालों को

स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं ये।"[2]

किन्तु "हारे को हरिनाम" में कवि अपनी सारी क्षमताओं को अपने आराध्य के समक्ष विसर्जित कर देता है, और अपने अहंकार के टूट जाने पर भी वह सन्तुष्ट है, क्योंकि उसकी समाप्ति आराध्य के चरणों पर हुई है। यहाँ दिनकर का अपने देवता या आराध्य के प्रति जो समर्पण–भाव है, उसमें भक्तिकालीन तन्मयता का अभाव है। भक्ति कालीन कवियों ने अपना समर्पण भाव आराध्य और आराध्य के सम्बन्धो के सतत मंथन से अर्जित किया था। जबकि दिनकर का यह समर्पण भाव संघर्षो में उनकी पराजय का सहज परिणाम था। 1963 में चार वर्षों तक पारिवारिक संघर्षों की पीड़ा में कवि पूरी तरह टूट गया। दिनकर लिखते हैं कि "ये चार वर्ष मैने साहित्य लिखकर नहीं, महर्षि रमण का साहित्य पढ़कर उन्हीं का फोटो देख गुजारे। किस्मत ने मेरे सिर पर इतनी ठोकरे मारी, भगवान ने दर्द के

1. हारे को हरिनाम, "अहंकार विसर्जन"–दिनकर, पृ0–67
2. नील कुसुम, "चाँद और कवि"–दिनकर, पृ0 8

हथौड़े से मुझे इस कदर पीटा कि मैंने जीवन के सामने जगदीश के सामने हार मान ली।"[1]

इस हार ही ने उन्हें अपने आराध्य के समक्ष पूरी तरह समर्पित कर दिया। वे सम्पूर्ण समर्पण की चेतना से गद्‌गद् हो उठे–

"प्रभो तुम्हारा नाम बाती है,

शरीर दिया है

वेदना तेल है।

तीनों का कितना

अच्छा मेल है।

शीतलता बढ़ती है,

आँखे जब नम होती है।

नाम जितना ही उजलता है,

वेदना उतनी ही कम होती है।"[2]

कवि स्वाभिमान, आत्मविश्वास के सारे आवरणों का परित्याग कर के निवेदन करता है–

" अब तो सब छोड़ कर

तुम्हारे चरणों पर पड़ा हूँ

मंदिर के बाहर पड़े पौधर के समान

तुम्हारे आँगन में धरा हूँ।"[3]

---

1. रश्मि लोक, भूमिका–दिनकर, पृष्ठ –झ
2. हारे को हरिनाम, "आराधना"–दिनकर, पृ0 24
3. हारे को हरिनाम, "संपाती"–दिनकर, पृ0 5

दिनकर का दयनीय भाव उन्हें भक्ति–काव्य की परम्परा से सीधे जोड़ता है। तुलसी और सूर ने जिस प्रकार गद्–गद कंठ के अपने आराध्य के प्रति निस्वार्थ समर्पण और अपनी तुच्छता की अभिव्यक्ति की थी, दिनकर ने भी भक्ति की उन्हीं सीमाओं का स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। वे क्योंकि चारो ओर से पराजित हैं, अतः उनके पास अहंकार को छोड़कर और कोई अर्पित करने योग्य वस्तु नहीं रह गई है। जो ज्ञान मनुष्य में अहंकार को जगाता है, कवि को उससे घृणा हो गई है। अब वे भक्ति की कामना करने लगे हैं–

"चारो ओर से हारा हुआ,

मैं पराजय का गीत गाता हूँ।

अपना टूटा हुआ अहंकार,

तुम्हारे चरणों पर चढ़ाता हूँ।

अपना यह ज्ञान वापस लो,

और देवता, मुझे भक्ति दो।"[1]

भक्ति काव्य में जिस प्रकार का समर्पण–भाव होता है, वह दिनकर की इन रचनाओं में विद्यमान है। भावुकता, आत्म साक्षात्कार की प्रवृत्ति, काव्यानुभव की ईमानदारी– ये सभी गुण दिनकर की इन रचनाओं में मिलते हैं। सुख और दुःख के सूत्र जिस परमपिता के हाथ में है कवि उसका स्तवन इन शब्दों में करता है–

"उषः लोक पुलकाकुल कल रोर

---

1. हारे को हरिनाम, "ज्ञान का रास्ता"–दिनकर, पृ0 22

मधुर जिसका प्रसाद है।

दुर्दिन की झंझा में बज्र–कठोर

उसी का शंखनाद है।

जिसका दिवस ललाट, उसी का निशा चिकुर है।

रम उसमें जो दिनकर में रमा

हृदय, आकुल मत होना।''[1]

कवि ने आराध्य की सर्व व्यापकता को भली प्रकार जान लिया है। प्रकृति–सौन्दर्य के प्रत्येक स्पन्दन में उसी का रूप अन्तर्निहित है, साथ ही कष्टों के कठोर आघातों से भी वही विद्यमान है। प्रकृति उसी का व्यक्त स्वरूप है। उस सर्वव्यापक ईश्वर के सम्मुख मनुष्य की क्षमताऐं नही उसका समर्पण–भाव ही अमर होगा–

''क्या पता, मेरा सोना मिट जाय

और लोहा बचे;

सभी कृतियों के बीच

समर्पण का कोई एक पद,

जो आज उपेक्षित है,

शायद वही पंक्ति

अथवा कोई छप्पय

या दोहा बचे।''[2]

---

1. हारे को हरिनाम–दिनकर, पृ0 160
2. हारे को हरिनाम, ''कीर्ति''–दिनकर, पृ0 69

जीवन के संध्याकाल में दिनकर आध्यात्मवादी

इधर जीवन के संध्याकाल में दिनकर अध्यात्म के प्रति विशेष रूचि लेने लगे थे। "हटो व्योम के मेघ पंथ से" कहकर गरजने वाला और देव–प्रतिमाओं के सामने "फूँक–फूँक ज्वाला अम्बर में" का उद्घोष करने वाला कवि अपने जीवन की संन्ध्या–बेला में "हारे को हरिनाम" का जाप करते हुए तीर्थ यात्रा पर दक्षिण गया हुआ था।"[1]

यह आध्यात्मिक सम्मान केवल अवस्था का परिणाम ही नहीं था, बल्कि उन परिस्थितियों की भी उसमें महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिनके आघातों ने दिनकर को कही गहरे तक पीड़ा पहुँचाई थी। क्रान्ति की हलचलों से प्रेरणा पाकर अपने काव्य जनमानस को हिलकोरने वाला कवि अब लिख रहा है–

'पानी का अचल होना,

मन की शान्ति और आभा का प्रतीक है।

पानी जब अचल होता है,

उसमें आदमी का,

मुख दिखलायी पड़ता है।

हिलते पानी का बिम्ब भी,

हिलता है।"[2]

---

1. "रामधारी सिंह दिनकर– पालने से चितातक, राजेश्वर प्रसाद सिंह, "राष्ट्रकवि दिनकर– डॉ0 गोपाल राय, पृष्ठ 16–17
2. हारे को हरिनाम, "शान्ति की कामना"–दिनकर, पृ0 28

इस प्रकार की रचनाओं में कवि ने उस भावुकता और आवेग ध ार्मिता पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। वह जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध ा में बहुत सन्तुलित दृष्टिकोण रखता है। मृत्यु उसे अब आतंकित नही करती बल्कि वह एक नये दृष्टिकोण से मृत्यु की व्याख्या करता है–

''जीवन भोज है,

शरीर केले का पत्ता है।

इस पत्ते पर आदमी

भोजन तो बड़े प्रेम से करता है।

लेकिन खाना खत्म होते ही

वह उसे फेंक देता है।

जूठा पत्ता भी कभी कोई

सम्भाल कर धरता है।''[1]

इन रचनाओं में व्यक्त कवि की आध्यात्मिक चेतना की विशेषता यह है कि यहाँ कवि ने भेद में अभेद की स्थापना की है। अपने आराध्य के साथ अभेदता की स्थापना करते समय कवि सगुण और निर्गुण के भेदों का निषेध करता हुआ कहता है–

''अदेह की विभा

देह में झलक मारती है।

और दैहिक ज्योति

अदेह की आरती उतारती है।

1. हारे को हरिनाम, ''जूठा पत्ता''–दिनकर, पृष्ठ–21

द्वेता द्वैत से परे

मेरी यह विनम्र टेक है,

प्रभो, मैं और तुम,

दोनों एक हैं।"[1]

इस अभेद दृष्टि में कहीं भी शुष्कता या सिद्धान्तों का निरूपण मात्र नहीं है बल्कि कवि ने सधे हुए ढंग से विचारों को काव्य में ढालने का प्रयत्न किया है। बच्चे और मेले का रूपक लेकर दिनकर ने जीव और जगत के सम्बन्ध की कितनी मार्मिक अभिव्यन्जना की है–

"मेला टूट गया,

और बच्चा अब घर लौटना चाहता है।

लेकिन घर की राह वह जानता ही नहीं है।

और घर लौटने की जो राह

आप से आप आन मिली है,

उसे वह पहचानता ही नहीं है।"[2]

वेदना–तत्व की प्रमुखता

भक्ति काल के सभी कवियों ने अपने काव्य में वेदना–तत्त्व को अपने–अपने ढंग से महत्व दिया है। सच तो यह है कि जब आराध्य के समीप्य के अभाव में आराधक वियोग की हार्दिकता का अनुभव करता है, तभी सच्चे अर्थों में उसकी आस्था सर्जनात्मक हो जाती है। दिनकर ने भी

1. हारे को हरिनाम, "धरती और आकाश"–दिनकर, पृष्ठ 145.
2. हारे को हरिनाम, "घर की राह"–दिनकर, पृष्ठ 34

अपने काव्य में इस वेदना–तत्व को अभिव्यक्ति दी है। यद्यपि उनकी वेदना भक्ति काव्य की परम्परा से जुड़ती है, किन्तु उसमें वैसी तीव्रता का अभाव है, जो कबीर, जायसी, सूर जैसे कवियों की निजी विशेषता है। इन कवियों ने अपनी वेदना का उदात्तीकरण कर लिया था। ये वेदना के भौतिक कारणों की सीमा का अतिक्रमण कर चुके थे अतः इन कवियों ने प्रायः अपनी वेदना के पार्थिव कारणों को अभिव्यक्ति नहीं दी है किन्तु दिनकर अभी अपनी वेदना का उदात्तीकरण नहीं कर पाये हैं; लौकिक सन्दर्भ उसमें बराबर बने रहते हैं–

"दहक उठे जो अंगारे बन नये,

कुसुम–कोमल सपने थे,

अन्तर में जो गाँस मार कर गये

अधिक सबसे अपने थे।"[1]

कवि ने "अन्तर की गॉस" से उत्पन्न वेदना को सच्चेमन से स्वीकार कर लिया है। दर्द अब उसकी चेतना विपादमय नहीं बनाता, बल्कि उसकी आस्था को दृढ़ करता है–

"जीवन दर्द का झरना है।

जो भी जीते हैं, दर्द भोगते हैं।

और दर्द भोगते–भोगते ही,

हमें मरना है।

दर्द नियति की दुकान की निहाई है।

---

1. हारे को हरिनाम, "हारे को हरिनाम" –दिनकर, पृष्ठ 159

दर्द भगवान के हाथ का हथौड़ा है।

देवता हम पर चोटें देकर,

हमें संवारता और गढ़ता है।

शायद यह बात सच है

कि आदमी दर्द में विकसित होता है,

खूबसूरत बनता और बढ़ता है।''[1]

कवि ने कहीं–कहीं अपनी वैयक्तिक वेदना को पूरे विश्व की वेदना से जोड़ने का प्रयत्न किया है। यथा–कवि अपने आराध्य से प्रार्थना करता है–

''मैं यह नहीं कहता

कि मेरी उम्र बड़ी हो।

पर जब तक जिऊँ,

वीणा सुर में बोलती रहे।

यह मेरा ही नहीं,

सबका दर्द खोलती रहे।''[2]

शैल्पिक रचना धर्मी द्वन्द्व

परम्परा और आधुनिकता की दृष्टि से शिल्पपक्ष का मूल्यांकन हम निम्नलिखित आधारों पर करेंगे।

1. भाषा 2. बिम्ब विधान 3. प्रतीक विधान और 4. छन्द–विधान

---

1. हारे को हरिनाम, ''दर्द''–दिनकर, पृष्ठ–65
2. हारे को हरिनाम, ''कला''–दिनकर, पृष्ठ–133

१. भाषा

दिनकर की काव्य की भाषा न तो रेणुका, हुंकार और परशुराम की प्रतीक्षा की भांति आवेग धर्मी है और न रसबन्ती और उर्वशी की भांति उसमें सुकुमारता विद्यमान है। नील–कुसुम, कोयला और कवित्व की भाँति यहाँ भाषा में शिल्प की अतिरिक्त सजगता ही उपलब्ध होती है। यहाँ भाषा में न वक्तृत्व की अनावश्यक स्फीति है और न मणिकुट्टिम शैली की पच्चीकारी। यहाँ तो कवि ने अनुभव और भाषा के बीच सीधा सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है। निरन्तर संघर्षो के आघातों से टूटा कवि अपने काव्यानुभव की अभिव्यक्ति के लिए एक नवीन काव्य–भाषा का निर्माण करता है। यह काव्य–भाषा अपने काव्यानुभव के समान ही अपनी मंथरता और सादगी से हमें आकर्षित करती है।'' उनकी कविता में वक्तत्व शैली का प्रभाव स्पष्ट रहा है। अब वक्तृत्रा बातचीत में बदल गयी है, स्वभावतः भाषा बोलचाल के करीब आ गयी है। कोशों पर आश्रित न रहकर संवेगों के साथ आने वाली जीवन्त भाषा कविता का माध्यम बने, यही अभीष्ट है। विशेषता बातचीत की शैली अपनाने वाली कविता के लिए तो यह अनिवार्य है।''[1] वे काव्यानुभव को शिल्प के चौखटों में बद्ध करके भाषा नहीं गढ़ते, बल्कि सीधी–सादी बातचीत की भाषा में अपने काव्यानुभव की ईमानदारी से हमें आश्वस्त करते हैं। यथा–

''बोलो तुम्हारा क्या आदेश है?

खिड़की खोलूँ?

---

1. ''हारे को हरिनाम''–विष्णुकान्त शास्त्री, राष्ट्रकवि दिनकर–सं0 डा0 गोपाल राय,पृष्ठ–180–81

और मछली की तरह

प्लावन में तैर जाऊँ?

या तुम्हारा इन्तजार करूँ?

कोई नाव तुम भेजोगे क्या?

इतना जो कुछ चारो ओर

टूट कर बिखर जाता है,

उसे फिर करूण्य से

सहेजोगे क्या?''[1]

यहाँ कवि समस्याओं के प्लावन में अपने आराध्य से आदेश चाहता है। वह उस आदेश के औचित्य पर विचार नहीं करना चाहता। समर्पण? पिघलाव से युक्त इस काव्यानुभव को कितनी स्वच्छता और स्वाभाविकता से अभिव्यक्ति दी गयी है। यहाँ हम दिनकर की काव्य भाषा का निम्नलिखित आधारों पर परीक्षण करेंगे–

क) शब्द चयन,   ख) सूक्तियाँ

(क) शब्द चयन

यदि हम शब्द चयन की दृष्टि से देखें तो पाएँगे कि रचना में तत्सम शब्दों का अनुपात सबसे कम है। यद्यपि त्राण, निस्तैल, अदृश्य, आयास, ग्लानि, उत्स, अनिस्तत्व, शोणित, वृन्त, विद्ध आदि शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है किन्तु पौधर, पुलपुला, निहाई, सिन्दूर, धोरे, नेमतो, बाँचने जैसे तद्भव शब्दों का भी अभाव नहीं, जो काव्यानुभव को विश्वसनीय

1. हारे को हरिनाम, ''बाढ़''–दिनकर, पृष्ठ–80.

बनाते हैं। उर्दू–फारसी के शब्दों का भी इन रचनाओं में मुक्त प्रयोग देखने को मिलता है जैसे– महफिल, दर्द, कलेजे, मुहाला, कोताही, कसूर, चश्मा, मौसम, दाग, कर्ज, खूबसूरत, मिजाज आदि। इस प्रकार दिनकर का शब्द–चयन भी इस बात का साक्षी है कि उन्होंने भाषा की सादगी और स्वाभाविकता पर सर्वाधिक बल दिया है। जिस प्रकार का विषय उन्होंने इन कविताओं के लिए चुना था उसे देखते हुए परम्परागत दार्शनिक और आध्यात्मिक शब्दों का प्रयोग पाठक के लिए आश्चर्य की बात न होता, किन्तु स्वाभाविकता और स्वच्छता का निर्वाह करते हुए इस प्रकार की शब्द–योजना निःसन्देह आधुनिक कही जायगी, क्योंकि आधुनिकता की सृजनात्मक सार्थकता काव्यानुभव की ईमानदारी से अभिव्यक्ति में है। दिनकर इस कसौटी पर निस्सन्देह आधुनिक कहे जा सकते है।

(ख) सूक्तियाँ

दिनकर की जिन रचनाओं में विचार–तत्त्व प्रबल हो गया है, उनमें सूक्तियों का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। अपने समकालीन कवियों में जिन कवियों ने अर्थ–गौरव और साहित्यिक सौन्दर्य से सम्पन्न सूक्तियों का प्रयोग किया है; उनमें दिनकर सम्भवतः अग्रणी हैं। सूक्तियाँ उस कवि की रचनाओं में अधिक उपलब्ध होती हैं जिसका चिन्तन सतही नहीं होता। जो चिन्तन को अनुभव की छननी में छान लेता है। दिनकर के काव्य के विषय में कहा जा सकता है कि उसमें चिन्तन और अनुभव एक बिन्दु पर संयोजित हो सके हैं। यही कारण है कि इन कविताओं में बहुत सुन्दर सूक्तियाँ उपलब्ध होती है। यथा–

(क) तेल की हाँडी निस्तैल होकर फूटे यह क्या कम है।''[1]

(ख) जो सभ्यता अदृश्य को नहीं मानती, वह आत्मा को कैसे पा लेगी।[2]

ग) आदमी का मारा आदमी, कुत्ते पालता है।[3]

घ) जीवन भोज है, शरीर केले का पत्ता है।''[4]

ड) ''गल जाने दे स्वर्ण, रूप में उसे स्वयं ढलने दो।''[5]

च) ''हिलते पानी का बिम्ब, भी हिलता है।''[6]

उपर्युक्त सूक्तियों में केवल विचार–तत्त्व नहीं है बल्कि यहाँ विचार तत्त्व को अनुभव के ताप में पिघलाया गया है और इसीलिए अध्येयता इन सूक्तियों से केवल वैचारिक उत्तेजना प्राप्त नहीं करता, बल्कि अनुभव की पुलक भी उसके तन–मन को सिहरा देती है। सूक्तियाँ किसी भी भाषा की अभिव्यक्ति–क्षमता का दस्तावेज होती हैं। दिनकर की काव्यभाषा की विलक्षण सामर्थ्य को ये सूक्तियाँ सशक्त रूप से रेखांकित करती है।

२ बिम्बविधान–

दिनकर ने काव्य में बिम्बों के महत्व को अनेकश रेखांकित किया है। वे मानते हैं कि ''कविता और कुछ चाहे करे या न करे, किन्तु चित्रों की रचना वह अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बनने वाले चित्र जितने ही स्वच्छ अर्थात् विभिन्न इन्द्रियों से स्पष्ट अनुभूत होने के योग्य

1. हारे को हरिनाम, ''निस्तैल पात्र''–दिनकर, पृ08
2. हारे को हरिनाम, ''कविता और विज्ञान''–दिनकर, पृ011
3. हारे को हरिनाम, ''बच्चे''–दिनकर, पृ0 16
4. हारे को हरिनाम, ''जूठापत्ता'', दिनकर पृ0 21
5. हारे को हरिनाम, ''रे मन'', दिनकर, पृ0 23
6. हारे को हरिनाम, ''शान्ति की कामना''– दिनकर, पृ0–28

होते हैं, वह कविता उतनी ही सफल होती है।"[1] लेकिन अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में दिनकर गुण और परिमाण में जितने श्रेष्ठ बिम्बों का उपयोग कर सके हैं उतने श्रेष्ठ बिम्ब उनके स्फुट काव्य में उपलब्ध नहीं होते।

"एक स्थिति वह है जिसमें दिनकर ने अलंकारिकता और बिम्बात्मकता पर सबसे अधिक बल दिया है। इस स्थिति की सबसे सुन्दर उदाहरण 'उर्वशी' है। 'उर्वशी' का पूरा का पूरा काम–सुख चित्रण प्रतीकों, बिम्बों और अलंकारों के द्वारा किया गया है। चित्रात्मकता की यह विशेषता 'नीलकुसुम' और 'कोयला और कवित्व' की अनेक कविताओं में विद्यमान है। दूसरी स्थिति वह है जिसमें अलंकरण कम होता गया है। बिम्बात्मकता और प्रतीकात्मकता की अपेक्षा सादी अभिव्यक्ति की ओर दिनकर बढ़ते गये है। इस सादी अभिव्यक्ति में व्यंजना की मात्रा बढ़ गई है। 'हारे को हरिनाम' की कविताएँ इस दूसरी स्थिति का प्रमाण है।"[2]

दिनकर के स्फुट काव्य में आधुनिकता के अनेक स्तर उपलब्ध होते हैं। मनुष्य की जीवन के प्रति आसक्ति को कवि ने कितने मर्मस्पर्शी और व्यंग्यात्मक ढंग से रेखांकित किया है–

"जीवन भोज है,
शरीर केले का पत्ता है।
इस पत्ते पर आदमी,
भोजन तो बड़े प्रेम से करता है।

---

1. काव्य की भूमिका– दिनकर, पृष्ठ–101
2. "दिनकर का परवर्ती काव्य", श्री हरदयाल, राष्ट्रकवि, दिनकर–सं० डा० गोपाल राय, पृष्ठ 51–52

लेकिन खाना खत्म होते ही,

वह उसे फेंक देता है।

जूठा पत्ता भी

कभी काई

सम्भाल कर धरता है।''[1]

यहाँ 'केले के पत्ते' और 'भोजन' के बिम्बों के माध्यम से जीवन और मृत्यु के सम्बन्धों का कवि ने बहुत ही मर्म स्पर्शी अंकन किया है। निस्सन्देह यह बिम्ब–योजना पूर्णतः आधुनिक है।

काव्य–सृजन एक विलक्षण प्रक्रिया है। रचनाकार जब अनुभव–जगत का मंथन करके सृजन में प्रवृत्त होता है, तब उसके हृदय में अपने भावी सृजन के प्रति एक भय की हल्की सी सिहरन होती है–और साथ ही कौतूहल का भाव भी। कवि ने इस स्थिति का अंकन करते हुए बहुत ही सुन्दर बिम्ब–योजना की है–

''कविता लिखते हुए

मुझे भय लगता है।

कविता लिखते हुए

मैं अब भी थरथराता हूँ।

मानों मैं कुमारी नारी होऊँ

और यह पहली ही बार हो।''[2]

---

1. हारे को हरिनाम, 'जूठा पत्ता,–दिनकर, पृ0 21
2 हारे को हरिनाम, ''अनास्था''–दिनकर, पृष्ठ 59

यद्यपि प्रथम समागम के पूर्व भय और कौतूहल का भाव लिए हुए कुमारी युवती का बिम्ब नया नहीं है, किन्तु सृजन की प्रक्रिया से उसे सम्बद्ध कर देने के कारण कवि ने कहीं–कहीं जीवन के शाश्वत सत्यों को काव्य बद्ध करने के लिए आधुनिक बिम्बों की सुन्दर नियोजना की है। ऐसे स्थलों पर विचार को कवित्व में ढालने की प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका बिम्ब की ही होती है। यथा–

''जन्म लेकर दुबारा न जनमो,

तो भीतर की कोठरी काली रहती है।

कागज चाहे जितना भी,

चिकना लगाओ,

जिन्दगी की किताब

खाली की खाली रहती है।''[1]

यहाँ कवि ने 'पुनर्जन्म' के औचित्य को प्रतिपादित किया है। किन्तु यह प्रतिपादन दो बिम्बों से ही काव्यानुभव का रूप धारण करता है। 'भीतर की कोठरी' और 'जिन्दगी की किताब' से कवि ने विचार का मूर्तीकरण किया है।

3 प्रतीक विधान–

जहाँ तक प्रतीक विधान का प्रश्न है, यहाँ प्रतीकों के प्रति कवि का रूझान कम रहा हैं। ''कोयला और कवित्व'' की 'ओ नदी', 'नदी और पीपल' तथा 'नदी का पेड़' जैसी कविताओं में कवि ने बहुत ही सूक्ष्म,

1. हारे को हरिनाम, ''पुनर्जन्म''–दिनकर, पृ0 139

सटीक तथा सार्थक प्रतीकों का प्रयोग किया था, और आशा बंधी थी कि परवर्ती रचनाओं में दिनकर प्रतीकों के क्षेत्र में नवीन मानदण्ड स्थापित कर सकेंगे। किन्तु दिनकर की आलोच्य प्रार्थनापरक रचनाओं में कवि 'सपाट बयानी' में इस तरह आक्रान्त रहा है कि प्रतीकों को वह बहुत कम स्थान दे पाया है। परिणाम यह हुआ है कि ''कोयला और कवित्व'' जैसे पारदर्शिता इन रचनाओं में उपलब्ध नहीं होती हैं।

प्रतीक विधान की दृष्टि से उनकी 'कमरा खाली है', 'आम का पेड़', 'स्वर्ग', 'पुनर्जन्म', 'सूखा पेड़' आदि कविताओं की चर्चा की जा सकती है। इन कविताओं में निश्चय ही कुछ नये प्रतीकों का आयोजन कवि ने किया है। कमरा खाली है'' एक दृश्यात्मक कविता है, साथ ही प्रतीकात्मक भी। 'कमरा' सम्भवतः इस जगत का प्रतीक है जहाँ मनुष्य छिपकली की भांति उद्देश्य रूपी कीट–पतंगो के अभाव में रेंगता हुआ निरर्थकता का अनुभव कर रहा है–

''कमरा खाली है,

और बत्ती जल रही है।

कीड़े–मकोड़े कहीं नही दीखते।

फिर भी दीवार पर

एक छिपकली चल रही है।''[1]

''आम का पेड़'' कविता में आम के पेड़ में प्रतीकों की विल्पात्मक सम्भावनाएँ निहित हैं। ''आम का पेड़'' वस्तुतः परम्परा का प्रतीक है।

---

1. हारे को हरिनाम, ''कमरा खाली है''– दिनकर, पृ0 32

परम्परा उस आम के पेड़ के समान है जो पुराना होने पर भी निरन्तर संसार को फल देता रहता है। इसी प्रकार परम्परा अपने आत्मदान के कारण ही निरन्तर प्रासंगिक बनी रहती है। इस प्रासंगिकता को रेखांकित करता हुआ कवि कहता है–

"मेरे बाग में आम का एक पेड़ है

× × ×

जवानी में उसने खूब फल दिये थे।

और बूढ़ा होने पर भी

वह हर साल फलता है।

× × ×

लेकिन एक ही सूरत है

जिससे पेड़ यह बता सके

कि आत्मदान उसका रूका नहीं है,

बूढ़ा हो जाने पर भी

फलने का शौक उसका चुका नहीं है।

फल पेड़ की आत्माभिव्यक्ति है,

उसकी कविता है।"[1]

संतो ने जिस प्रकार संसार को मेला बताया है, वैसे ही कवि ने 'मेले' और 'बच्चे' के प्रतीकों द्वारा जीव और जगत् के सम्बन्धों की काव्यात्मक व्याख्या की है। यहाँ प्रतीक–विधान परम्परागत हो गया है।

1. हारे को हरिनाम, "आम का पेड़,–दिनकर, पृ0 102

यथा–

"मेला टूट गया

और बच्चा अब घर लौटना चाहता है।

लेकिन घर की राह वह जानता ही नहीं है।"[1]

कवि ने जहाँ भी प्रतीकों का उपयोग किया है वहाँ उसकी क्षमता हमें आकर्षित करती है। इन कविताओं में प्रतीक जहाँ कहीं भी कौंधते हैं, जीवन के शाश्वत सत्यों को बृहत्तर और संवेगात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

4 छन्द विधान–

यहाँ इन कविताओं मे कवि ने छन्दों की व्यवस्थाओं से स्वयं को मुक्त करने का प्रयत्न किया है, दूसरी और तुक मिलाने के प्रति कवि के हृदय में विचित्र आकर्षण है। वह जहाँ भी अवसर मिलता है। अन्त्यानुप्रास के लिए समय निकाल लेता है। निस्सन्देह इन कविताओं को परम्परागत छन्दों की व्यवस्था के चश्मे से नहीं देखा जा सकता, किन्तु फिर भी मात्रिक छन्दों के प्रभाव के अवशेष प्रार्थनापरक काव्य में यत्र–तत्र बिखरे मिल जाते हैं। भवानी प्रसाद मिश्र का प्रभाव भी इन कविताओं के छन्द विधान पर मिलता है। वे भी मुक्त छन्द में लय की सर्जना तुकों के द्वारा ही करते हैं। दिनकर के समस्त कविताओं में छन्दों की यही पद्धति मिलती है। यथा–

"पानी जो बढ़ने लगा,

बढ़ता ही जाता है।

---

1. हारे को हरिनाम, "घर की राह"–दिनकर, पृ0 34

घर मेरा जल में डूबी हुई

घरनाई है।

पता नहीं बाढ़ क्या,

कहने को आई है।''[1]

दिनकर ने मात्रिक और वर्णिक छन्दों की परम्पराओं को छोड़ कर मुक्त छन्द को पूरी तरह स्वीकार कर लिया है। उनका छन्दविधान आधुनिक है किन्तु उसमें लय आन्तरिक नहीं होती उसे तुकों के माध्यम से कविता पर आरोपित किया जाता है, अतः इसे छन्द के परम्परागत ध्वंसावशेषों का उपयोग माना जा सकता है।

---

1. हारे को हरिनाम, ''बाढ़'' दिनकर, पृ0 80

अध्याय-पाँचवाँ

दिनकर के काव्य में विचारधारा और अर्न्तद्वन्द्व का सहसम्बन्ध

1. हिन्दी कविता के वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि दिनकर
2. उपभोक्ता मूलक संस्कृति के समर्थ प्रतिरोधक कवि दिनकर
3. परम्परा के प्रति उपयोग परक दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर
4. प्रगतिशील और प्रयोग परक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर।

दिनकर के काव्य में विचारधारा और अन्तर्द्वन्द्व का सहसम्बन्ध

दिनकर जी का जन्म एक ग्रामीण अँचल में एक कृषंक के घर हुआ था। बिहार में ग्रामीण अँचल में अत्याधिक गरीबी ने घर बसा रखा था। गरीबी कारण था– जमीदारों द्वारा कृषकों का शोषण, ग्राम में रहने वाले शाहूकारों का उत्पीड़न और सरकारी कर्मचारी–पटवारी व पुलिस सिपाही आदि का आतंक। दिनभर काम करने के पश्चात मजदूर को मजदूरी के नाम पर मार झेलनी पड़ती थी। सूखा पानी पीकर मजदूर वर्ग सोने को मजबूर किया जाता था। जमीदारों के जुर्मों का आतंक अलग था। सबके सब मुफ्त काम कराते थे। इस निर्धनता को दिनकर जी ने बहुत ही निकट से देखा था। दिनकर के मन में इस अन्याय का स्थाईभाव बन जाने के कारण मन सदैव इसके विरूद्ध संघर्ष करने को उद्धैलित था। इसी कारण से दिनकर जी का मन साम्यवादी व्यवस्था की ओर मुड़ गया। इसका प्रमुख कारण था कि इस शोषण के विरूद्ध साम्यवादी दल संघर्षरत थे।

दिनकर जी की माता जी धार्मिक स्वभाव की महिला थी। वे रामचरित मानस का पाठ नित्य करती थी। दिनकर जी के जीवन पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। दिनकर जी ने अनेक धार्मिक ग्रन्ध पढ़े। भारत का इतिहास पढ़ा। जिसके फलस्वरुप वे जान सके कि भारत पहले एक समृद्धिशाली देश था। बाद में इस भारत को अनेक बाह्य आक्रमण कारियों ने लूटा। इसके अलावा अंग्रेजों ने भारत को आर्थिक दासता कि गर्त में धकेल दिया। ग्राम के कुटीर उद्योग, बुनकर आदि विदेशी सस्ते मील के बने माल के आगे, लंका शायर के मील में बने कपड़ो के आगे ग्रामीण

जुलाहों द्वारा बनी खद्दर बेकार हो गई। सारे कारीगर मजदूर बन गये। ग्रामीण बेकारी फैल गई। इस दासता का प्रमुख कारण अंग्रेजी सत्ता थी। जिसे हटाने के लिए दिनकर आगे आये। अपने काव्य के माध्यम से नौ जवानों को उभारा।

दिनकर जी का विवाह अल्पायु में बिना उनकी मर्जी के किया गया था। दिनकर जी ने गरीबी के रहते हुए अपनी पढ़ाई पूरी की। पत्नी से मनमुटाव रहता था। इसका प्रमुख कारण उनकी माता जी और सम्मिलित परिवार था। जिसका बोझ उनके पिता जी दिनकर के कन्धों पर छोड़ गये थे। पत्नी से मनमुटाव रहने के कारण दिनकर को दाम्पत्य सुख नहीं मिला। तरूणाई पर आने पर दिनकर का प्रेम एक सुन्दर कन्या से हो गया। वह कन्या उनकी जाति की न होने के कारण दिनकर को पारिवारिक आदर्श के बन्धन को तोड़ सकने की असमर्थता ने विवाह बन्धन में नहीं बंधने दिया। उस कन्या का अपने जातिगत लड़के से विवाह हो गया। दिनकर ने इसमें कोई अड़ंगा नहीं डाला। उनका विचार था कि प्रेम त्याग चाहता है। जो प्रेमी, प्रेमिका को और प्रेमिका, प्रेमी को सुखी देखना चाहता है; वही आदर्श प्रेम कहलाता है।

दिनकर के अन्तर्द्वन्द्व में अतृप्त काम होने के कारण 'उर्वशी' प्रबन्धकाव्य का जन्म हुआ। इसके अलावा दिनकर ने शोषण और निर्धनता को बहुत ही पास से देखा था। इस कारण इसके निवारण के लिए भी काव्य में स्थान प्राप्त हुआ। दिनकर जी की विचार धारा का प्रवाह उनके अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप ही अग्रसर हुआ। सामाजिक असमानता के विरूद्ध दिनकर जी 'रश्मिरथी' ले आये। अपने विचार के अनुरूप इसकी कथा

चली। महाभारत के अनुरूप इसकी कथा को प्रवाह नहीं मिला।

दिनकर जी के काव्य में विचारधारा और अन्तर्द्वन्द्व के सह सम्बन्ध को सिद्ध करने के निमित्त मैने अध्याय को निम्न आधार पर वितरित किया है—

1. हिन्दी कविता के वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि दिनकर।
2. उपभोक्ता मूलक संस्कृति के समर्थ प्रतिरोधक कवि दिनकर।
3. परम्परा के प्रति उपयोग परक दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर।
4. प्रगतिशील और प्रयोगपरक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर।

१. हिन्दी कविता के वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि दिनकर

दिनकर जी हिन्दी कविता के वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि थे। वे सरकारी नौकरी, अध्यापक आदि नौकरियों से छूट कर संसद में पहुंच गये थे। वे अच्छा भाषण भी देते थे। साहित्यिक गोष्ठियों में भाग लेना उनका प्रमुख कार्य था। वे जहाँ कहीं भी जाते; उनसे मिलने के लिए जब लोग आते थे उस समय दिनकर जी की रचनाओं की चर्चा अवश्य करते थे। उन्होंने चार प्रबन्ध काव्य और अनेक स्फुट रचनायें लिखीं। द्वन्द्वात्मक जीवन के रहते हुए भी दिनकर की काव्य सृजन प्रक्रिया नहीं रूकती थी। वे आवेग के व्यक्ति थे। उनके विपरीत कार्य होने पर जोर जोर से चिल्लाना, क्रोधित होना, फिर थोड़ी ही देर में सामान्य स्थिति में आ जाते थे। सामान्य स्थिति में आने पर उनकी लेखनी अग्रसर हो जाती थी। यह उनमें विशेषता थी। इसी विशेषता के कारण दिनकर जी द्वन्द्वात्मक

मनःस्थिति में भी काव्य सृजन किया करते थे।

दिनकर जी की रचनाओं पर चर्चा होते होते बैठक काव्य गोष्ठी में परिणत हो जाया करती थी। दिनकर जी की इस वाचन प्रक्रिया ने स्थानीय छोटे मोटे अनेक कवियों को जन्म दिया।

दिनकर का काव्य अपने युग का दर्पण है। युग चेतना का प्रतिबिम्ब है और युग की गतिविधियों के चित्रों का सजीव चित्रफलकं है। दिनकर ने जिस समय काव्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय भारत परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। तत्कालीन शासन का दमन चक्र निर्बल एवं निरीह व्यक्तियों को बर्बरता के साथ कुचल रहा था। स्वतन्त्रता का नारा लगाने वाले युवक रक्त की गंगा में स्नान कर रहे थे। स्वदेश प्रेम के मतवाले देशभक्त हंसते–हंसते फांसी के फन्दे को चूम रहे थे। उनके मुंह से निकली हुई 'वन्देमातरम्' की ध्वनि दशों दिशाओं को झकझोर रही थी। उस समय सर्वत्र असंतोष, क्षोम एवं आक्रोश का वातावरण छाया हुआ था। कभी जलिया वाले बाग का हत्याकांड भारत के यौवन को ललकार रहा था। कभी साइमन कमीशन का विरोध और बहिष्कार के नारे प्राणों में हलचल उत्पन्न कर रहे थे। कभी लाला लाजपतराय का बलिदान देश में अग्निविस्फोट का कार्य कर रहा था। कभी सरदार भगतसिंह की फांसी देश व्यापी क्रान्ति का आह्वान कर रही था। कभी अंग्रेजी शासन की 'फूट डालो, शासन करो' की नीति साम्प्रदायिक दंगो को भड़का रही थी। कभी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिंद फौज के गगनभेदी नारे जनमानस को आन्दोलित कर रहे थे।

भारतीय राजनीति के क्षितिज पर सर्वत्र क्रान्ति एवं विद्रोह के

बादल छा रहे थे और पराधीनता से मुक्त होने के लिए देश में सतत् प्रयत्न चल रहे थे, परन्तु उन प्रयत्नों में लगातार असफलता मिलने के कारण चारो ओर किंकर्त्तव्य विमूढ़ता, आलस्य और निरासा का गहन अंधकार भी छाया हुआ था। उसी समय भारत की प्राची दिशा में 'दिनकर' का उदय हुआ, जिसने अरूणाम उषा जैसी रक्तरंजित क्रान्ति की लालिमा को देखा और भारत के आलस्य एवं तन्द्रा को दूर करने के लिए विद्रोह का विगुल बजाया, अन्याय एवं अत्याचार को चुनौती दी, संघर्ष के लिए यौवन को ललकारा, त्याग एवं बलिदान की भावनाएँ जाग्रत कीं, तत्कालीन राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त गतिविधियों को अपने काव्य में अंकित करके जनजीवन में व्याप्त आक्रोश एवं क्षोभ को वाणी प्रदान की।

दिनकर ने स्वयं कहा है– "मैं समय का पुत्र हूँ और मेरा सबसे बड़ा कार्य यह है कि मैं अपने युग के क्रोध, अधीरता और बेचैनियों को स्वतन्त्रता के साथ बांधकर छंदों मे उपस्थित कर दूँ।"[1] इसी कारण दिनकर ने अपने काव्य में तत्कालीन आक्रोश, क्षोभ, खीझ, अन्याय एवं अत्याचार को स्वर प्रदान किया है।

उस समय, जब कवि दिनकर का जन्म हुआ था, सिमरिया गरीब किसानों का एक गाँव था। इनके काव्यों में अत्याचार, अनाचार, शोषण और सामाजिक वैषम्य के प्रति जो विद्रोह के भाव व्यक्त हुए हैं, उनकी प्रेरणा इन्हें अपनी जन्मभूमि सिमरिया की शोषित, दलित, पीड़ित, निर्धन जनता के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं से ही मिली है।

दिनकर जी जब इन्टर में थे उसी समय इन्होंने सबसे पहला

---

1. चक्रवाल–दिनकर, भूमिका–पृ0 31.

खण्डकाव्य "प्रणभंग" लिखा। यह महाभारत की कथा है। दिनकर जी ने सामन्तशाही को शोषण युक्त कर्म के विरोध स्वरूप इस खण्ड काव्य की रचना की थी। उस समय दिनकर जी की आयु 21 वर्ष की थी। दिनकर जी विद्यार्थी जीवन से ही एक कुशल वक्ता थे। इन्टर में जिस समय वे पढ़ रहे थे विद्यालय के वार्षिकोत्सव में इन्होंने "प्रणभंग" का काव्य पाठ सुनाया। चूंकि अंग्रेजी सत्ता और राजाशाही, सामन्त शाही के विरूद्ध थे। इस कारण विद्यार्थियों के जागरण के लिए इन्होंने काव्य पाठ सुनाया था। यथा–

"जब रंग सकूंगा द्रोपदी
के बाल शोणित–धार से
जब मुक्त कर दूंगा धरा को
पापियों के भार से
कट जायगी कुरूक्षेत्र में
ज्वाला मुखी जब क्रान्ति की
झांकी तनिक–सी आयगी
हृद्‌देश में तब शान्ति की"[1]

दिनकर ने देखा था कि ग्राम की सुन्दर बालाओं को जमीदार के कारिन्दे उठाले जाते हैं और प्रातः काल छोड़ जाते हैं। इसलिए जनता को अपनी सुन्दर बालाओं के शीलभंग का बदला लेना चाहिये। इसका प्रमुख कारण है– अंग्रेजी शासन; जिसने इन सामन्तों, जमींदारों को जनता का

---

1. प्रणभंग–दिनकर, पृष्ठ–31.

शोषण आदि के लिए उत्पन्न किया है। दिनकर जी ने पापियों की संज्ञा इन्हीं लोगों से की है जो निर्धन असहाय लोगों को धन और धरम दोनों से लूट रहे हैं। दिनकर जी ने इस प्रकार अत्याचार और अनाचार को सहने वालो को पुरूषत्वहीन की संज्ञा देते हुए उसी विद्यार्थी सभा में प्रणभंग के एक और पद का वाचन किया था। यथा– उसका कुछ अंश उपस्थित है

''तो वीर जीवन का कहाँ,

रहता हमारा तत्व है?

इससे प्रकट होता यही

हममे न अब पुरूषत्व है।''[1]

बी.ए. आनर्स उत्तीर्ण करने के पश्चात दिनकर जी को छोटी मोटी नौकरियों से जीवन यापन करना पड़ा। अक्टूबर सन् 1934 इ0 को दिनकर जी ने सब रजिस्ट्रार के पद को सुशोभित किया। इसी समय दिनकर जी ने 1934 से सितम्बर 1947 तक सब रजिस्ट्रार पद पर रहते हुए दासता के कारागार में तड़पते हुए भारत की तत्कालीन भयावह स्थिति का चित्र कवि ने रेणुका, हुंकार, सामधेनी आदि काव्यों की रचना में खींचा। अंग्रेजी सरकार की नौकरी में रहते हुए अंग्रेजी सत्ता के उखाड़ फेंकने के लिए काव्य की रचना तो की पर उसे मंच पर सुनाने में असमर्थ रहे। उन्होंने स्वतः इसे स्वीकार किया है। वे दिल्ली' कविता के माध्यम से अपनी विवशता का बखान करते हैं–

''गुलची निष्ठुर फेंक रहा कलियों को तोड़ अनल में,

1. प्रणभंग–दिनकर, पृष्ठ–30

कुछ सागर के पार और कुछ रावी–सतलज–जल में,

हम मिटते जा रहे न ज्यों अपना कोई भगवान।

यह अलका छवि कौन भला देखेगा इस हलचल में?

बिखरी लट, आँसू छलके हैं,

देख, वन्दिनी है बिलखाती,

अश्रु पोंछते हम जाते हैं,

दिल्ली! आह! कलम रूक जाती।

अरी विवश हैं, कहो करें क्या?

पैरों में जंजीर हाय! हाथों–

में हैं कड़ियाँ कस जाती।''[1]

दिनकर जी ने अपनी विवशता तो दिखलाई, दीन हीन बनकर नहीं। हुँकार भरे शब्दों में क्रान्ति की आग उगलते हुए विवशता को कह डाला।

'कुरूक्षेत्र' काव्य का आरम्भ भी इन्हीं परिस्थितियों मैं हो चुका था। अनुकूल वातावरण नहीं मिल पाने के कारण इनका मन अत्यन्त अशान्त था। सरकार ने इनका तबादला सन् 1934 से सन् 1939 के बीच की कालावधि में बाइसबार किया था। इसका कारण ये राष्ट्रीय और राजनीतिक कविताएँ लिखा करते थे जिससे सरकार इन्हें सरकार–विरोधी समझती थी। फिर भी ट्रांझिट की छुट्टियों में इन्होंने खूब कविताएँ लिखीं। सन् 1942 के आन्दोलन में इनकी पोस्टिंग जिस सब डिवीजन में हुई वहाँ के

1. हुंकार, ''दिल्ली''–दिनकर, पृष्ठ–61

एक एस.डी.ओ. की हत्या कर दी गई, जिससे सरकारी क्षेत्रों में आतंक छा गया, फलस्वरूप सेना बुलाई गई और दमन चक्र चलने लगा। राजनीतिक क्रान्ति में सक्रिय भाग लेने वाले अनेक फरार रात में दिनकरं के घर आश्रय लेते थे, परन्तु सरकारी दमनचक्र से दिनकर सुरक्षित ही रहे। पूर्व एस.डी.ओ. के बाद उनकी जगह पर जिस अफसर की नियुक्ति हुई, उसने दिनकर के घर को ही सुरक्षित समझा और उन्हीं के साथ रहने लगे।

जो क्रान्तिकारी दिनकर जी के यहाँ रात को रूकते थे उन्हें अपनी लिखी हुई कविताएँ लिख कर दिया करते थे। ताकि क्रान्तिकारी उन कविताओं को गाँव-गाँव घूम-घूम कर ग्रामीणों में क्रान्ति की भावना भरते थे। दिनकर जी की क्रान्तिकारियों के हाँथों जो कवितायें भेजी गई। उनका वाचन गाँव गाँव युवकों की जुबान पर था। खेत खलिहानों में नीम लहरा रहे थे। यथा–

''आहें उठीं दीन कृषकों की

मजदूरों की तड़प–पुकारे

अरी! गरीबों के लोहू पर

खड़ी हुई तेरी दीवारें।''[1]

कृषक नवयुवकों द्वारा खेतों, खलिहानों में काम करते हुए गीत का वाचन हो रहा था, जो कृषकों में क्रान्ति का भाव उत्पन्न कर रहा था वह 'हुंकार' के अन्तर्गत 'हाहाकार' नामक कविता की पंक्तियाँ हैं–

''खेतों के ये बन्धु वर्षभर, क्या जाने कैसे जीते हैं?

---

1. हुंकार, ''दिल्ली'' –दिनकर, पृष्ठ–63

जुबाँ बन्द, बहती न आँख, गम था, शायद आँसू पीते हैं?

पर शिशु का क्या हाल; सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?

चूस–चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो–बिलय नगीना।

विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती;

अपना रक्त पिता देती यदि फटती आज बज्र की छाती।

कब्र–कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है;

'दूध–दूध' की कदम–कदम पर सारी रात सदा होती है।''[1]

इस प्रकार दिनकर जी ने सरकारी नौकरी करते हुए काव्य समारोहों में तो भाग नहीं लिया, परन्तु उनका काव्य जन–जन में नौजवानों की जुबानों द्वारा वाचन चलता रहा।

15 अगस्त सन् 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ। उस समय दिनकर जी ने सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और काव्य जगत में लेखन और वाचन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में अपना योगदान दिया।

दिनकर जी ने अपनी डायरी में 'उर्वशी' के बारे में लिखा है– ''कल रात उर्वशी काव्य पूरा हो गया। लगता है, माथे पर से एक बोझ उतर गया। पहले कवि चाहता है कि कविता मुझे पकड़ ले और जब कविता उसे पकड़ लेती है, तब कवि से न सोते बनता है, न जागते बनता है। अधूरी कविता क्षण–क्षण उसके दिमाग में सुई चुभोती रहती है और जब तक कविता पूरी न हो जाय, कवि दिन–रात परेशानी में पड़ा रहता है। रचना का यह दर्द उर्वशी के प्रसंग में मैने आठ वर्ष तक लगातार भोगा है।''[2]

1. हुंकार, ''हाहाकार''–दिनकर, पृष्ठ 38.
2. दिनकर की डायरी– दिनकर, पृष्ठ–1

'उर्वशी' कैसे लेखन में आयी इस पर दिनकर जी के विचार– ''सन् 1952 ई0 में आकाशवाणी केपेक्स श्री कचरि सिंह दुग्गर ने मुझसे कहा था कि रेडियो से प्रसारित करने के लिए आप हमें कोई पद्य–नाटक लिखकर दीजिए। 'उर्वशी' का आरंभ दुग्गर जी के उसी अनुरोध से हुआ था।''[1]

'उर्वशी' के प्रथम अंक का प्रसारण 1954 ई0 में दिनकर जी को करने का अवसर प्राप्त हुआ। उसी समय से दिनकर जी की कविताएँ रेडियो स्टेशन से प्रसारित होना प्रारम्भ हो गयी।

दिनकर जी ने 'उर्वशी' काव्य की रचना की कठिनाइयों के बारे में अपनी डायरी में लिखा है– ''इस काव्य की रचना में मुझे जितनी कठिनाई हुई है, उतनी कठिनाई किसी अन्य काव्य की रचना में नही हुई थी। कविता आकर जहाँ रूक गयी, उसे वहाँ से आगे ले चलने का रास्ता दो–दो वर्ष तक नहीं सूझा। इस काव्य की पाण्डु–लिपि और अन्य सामग्री को लिए हुए मैं कहाँ–कहाँ नहीं घूमा हूँ? यहाँ दिल्ली में कभी जयदयाल जी के घर में जा छिपता था, कभी चरतराम जी के घर में। एक बार सारी सामग्री के साथ कश्मीर चला गया था, लेकिन कविता की एक पंक्ति भी नहीं बनी। एक बार रांची के रामबहादुर हरखचंद के बगीचे में डेराडाल दिया था। वहाँ कुछ थोड़ा काम हुआ। लेकिन ज्यादा काम सन् साठ में हुआ और वह काम आखिर को दिल्ली और पटना में ही हुआ।''[2]

दिनकर जी अनगिनत कवि सम्मेलनों में गये। अपना काव्य पाठ ओजस्वी वाणी से सुनाया करते थे। गोष्ठी तो जहाँ रूकते थे वहाँ अपने

1. दिनकर की डायरी, दिनकर, पृष्ठ–1
2. दिनकर की डायरी, दिनकर, पृष्ठ–1

आप अपना रूप साकार कर लेती थी।

"12 फरवरी सन् 1962 ई० में दिल्ली में श्रीमती कमला रत्नम् के घर पर कवि गोष्ठी हुई।"[1] उस कवि गोष्ठी में बच्चन, नरेन्द्र, सुमन, कमला जी, भगवान सहाय और जगदीशचन्द्र माथुर, महानिदेशक आल इण्डिया रेडियो सम्मिलित हुए। उस गोष्ठी में उक्त कवियों के साथ–साथ दिनकर जी ने भी कविता का वाचन किया। चूंकि 'उवर्शी' का लेखन पूरा हो गया था। यह बात करीब करीब काफी कवियों को ज्ञात थी। इस कारण कवियों के आग्रह पर और विशेषकर कमला जी के आग्रह पर दिनकर जी ने 'उर्वशी' पर जो कविता पढ़ी उसका कुछ अंश प्रस्तुत है–

"चाहिये देवत्व,

पर, इस आग को धर दूँ कहाँ पर?

कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर?

वन्हि का बेचैन यह रसकोष, बोलो कौन देगा?

आग के बदले मुझे सन्तोष, बोलो कौन देगा?

× × ×

प्राण की चिर–संगिनी यह वन्हि,

इसको साथ लेकर,

भूमि से आकाश तक चलते रहो।

मर्त्य नर का भाग्य!

जब तक प्रेम की धारा न मिलती,

1. दिनकर की डायरी, दिनकर, पृष्ठ–40

आप अपनी आग में जलते रहो।

× × ×

इन प्रफुल्लित प्राण–पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,

गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ।

मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर

प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ।''[1]

16 अप्रैल 1962 को दिल्ली में आल इण्डिया रेडियो स्टेशन पर साहित्य समारोह में दिनकर जी ने सभापतित्व किया। अध्यक्षीय भाषण में दिनकर जी हिन्दी फिर अंग्रेजी में बोले देश भर के कवि आये हुए थे। इसके लिये दिनकर जी ने अपनी डायरी में लिखा है–

''आज रेडियो की ओर से साहित्य–समारोह था। देश भर के लेखक और कवि आये हुए थे। मैंने भाषण शुरू तो किया हिन्दी में, किन्तु आगे मैं अंग्रेजी में बोलने लगा। अहिंदी–भाषी प्रांतो के, विशेषतः दक्षिण के साहित्यकार बहुत प्रसन्न हुए। मुझे लगा, मेरा बोलना सार्थक हो गया।''[2]

10 मई 1962 ई0 दिल्ली में श्री राजेन्द्र बाबू का विदाई समारोह था। समारोह रामलीला मैदान में मनाया गया था। उस समारोह मे दिनकर जी, मैथिलीशरण गुप्त और रबिश सिद्दकी ने राजेन्द्र बाबू पर कविताएँ सुनाई। दिनकर जी की कविता गीत में थी। दिनकर जी ने कविता गाकर सुनाई थी। कविता निम्नानुसार है–

''नंदिग्राम के भरत, राजसर के निष्कलुष कमल है,

1. उर्वशी– दिनकर, पृष्ठ 42
2. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–44

जय चिरायु भारत–परंपरा के नवीन संबल हे।

राजदंड धर यती, तपोधन, सन्यासी मधुवन के;

जय अभंगव्रत, सिंहासन–शोभित वैराग्य विमस हे।

जनक वंश की विभा, रत्नदीपक अशोक के कुल के,

जय पुनीत गांधी–गंगा के परम श्रोत उज्ज्वल हे।

अनल–मुक्त–मन, वर वैष्णव जन, पर–पीड़न–भयहारी,

जय शीतल, जय निरभिमान, जय–जय निरीह, निश्छल हे।[1]

दिनांक 26 अगस्त सन् 1962 को दिल्ली में सायंकाल श्री मोतीलाल जी की प्रतिमा के अनावरण–समारोह में दिनकर जी गये। दिनकर के शब्दों में– ''मुझे एक छोटी–सी कविता भी पढ़नी थी। जवाहर लाल जी ने मेरी ओर नहीं देखा। मैने दो–एक बार दृष्टि पकड़नी भी चाही, मगर उन्होंने आंखें नहीं मिलायी। जान बूझ कर किया गया अभिनय। मैं भी जब मंच पर चढ़ा, मैने उनकी ओर निगाह नही की।

मगर इससे क्या होता है?

उनको तो है फक्र यह कि

मेरे बंदे हैं बहुत।

मेरी मजबूरी कि आका

दूसरा मिलता नहीं

जाग मछंदर, गोरख आया।''[2]

---

1. दिनकर की डायरी, दिनकर, पृष्ठ–46
2. दिनकर की डायरी, दिनकर, पृष्ठ–53

त्याग मूर्ति श्री मोतीलाल नेहरू पर जो कविता दिनकर जी ने पढ़ी, वह इस प्रकार है–

त्याग मूर्ति

''अरमान यही आजाद हिन्द की

नींव तले सो जाऊँ मैं,

विस्मृति ले मुझको लील,

किसी को याद नहीं फिर आऊँ मैं।

मैं स्वतन्त्रता का बलिदानी,

मेरी बलि का क्या पुरस्कार?

है खींच रही पल–पल आगे,

आशा की केवल यह पुकार।

मैं मिटूँ कि भारत जिये,

भविष्यत् में जीवन का नाद उठे।

मेरी हड्डी पर स्वतन्त्रता का,

कभी राज प्रसाद उठे।''[1]

(यह कविता मोतीलाल जी की एक अंग्रेजी सूक्ति का रूपांतर मात्र है)

1 दिसम्बर सन् 1962 को दिल्ली में वीर–रस कवि–सम्मेलन हुआ। उसका सभापतित्व दिनकर जी ने किया। कवि सम्मेलन का उद्घाटन रक्षा मंत्री चह्वाण ने किया था। दिनकर जी के शब्दों में– ''मैने भाषण तो दिया

---

1. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–54

ही, जोश में आकर एक कविता भी पढ़ दी, जिसकी रचना मैने आज ही दिन में की थी। 'जीत होगी, जीत होगी चाऊँ पै चह्वाण की।'..........

× × ×

सम्मेलन में आये हुए कवि काफी जोश में थे। युद्ध काल का काव्य कोलाहल मय हो उठता है, लेकिन चिंतन और कवित्व, दोनो दब जाते हैं। अभी पिछले ही वर्ष मेरा 'उर्वशी' काव्य निकला है, जिसकी चर्चा बड़े जोर से छिड़ी हुई है, श्री ब्रजेन्द्र अवस्थी जब अपनी कविता सुनाने लगे, उन्होंने सभापति की ओर यानी मेरी ओर हाथ चमकाते हुए कहा, 'इस समय उर्वशी की रचना गद्दारी है।' अर्थात् चीनी आक्रमण का एक कारण 'उर्वशी' काव्य भी है। मेरे मन के भीतर सहसा एक प्रतिक्रिया हुई, अरे उर्वशीकार, कविता की गर्दन पर धर कर पाँव खड़ा हो।''[1]

5 फरवरी सन् 1963 को पटना में राजेन्द्र बाबू से मिलने के लिए दिनकर जी उनके घर गये।

''गंगा ने दिनकर जी से कहा कि तुम्हारी नयी कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा' बाबू ने नहीं सुनी है। आज अच्छा मौका है। कविता इन्हें सुनादो।

राजेन्द्र बाबू को 'परशुराम की प्रतीक्षा' मैनें पूरी–की–पूरी सुना दी। कविता सुनने को भाटिया तो आये ही, दोनों नर्से भी आ गयीं। मगर नर्से तुरन्त चली गयीं। कविता शायद उनको समझ में नहीं आ रही थी।

राजेन्द्र बाबू कविता बड़े ध्यान से सुनते रहे और जहाँ–जहाँ अंधी हिंसा की बात आयी, वे मूछों मे मुस्कुराते रहे। जब मैंने पढ़ा–

1. दिनकर की डायरी– दिनकर, पृष्ठ–63

असि छोड़ भीरू बन जहाँ धर्म सोता है,

पातक प्रचंडतम वहीं प्रकट होता है।

............राजेन्द्र बाबू को कविता मैंने पूरे जोश से सुनायी, मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। यदि खड़ग का नाम लेना पाप हैं तो मैं मध्यम कोटि का गांधीवादी हूँ, क्योंकि मेरे जीवन–दर्शन पर गांधी जी का भारी प्रभाव है। अगर गांधी–धर्म आत्मरक्षा से तलवार उठाने को पाप नहीं समझता, तो मैं उत्तम कोटि का गांधी वादी हूँ।''[1]

29 नवम्बर सन् 1969 ई0 को वाराणसी में ढलुआ क्लब की ओर से कवि सम्मेलन था। पं0 सुमित्रा नन्दन पंत, श्री मती महादेवी वर्मा और दिनकर जी का ढलुआ क्लब में अभिनन्दन हुआ। अभिनन्दन भी मजाक की भाषा में किया था। पंत जी और महादेवी जी ने अपने भाषण में अपने को मूर्ख बताया और ढलुआ क्लब के द्वारा पूर्ण रूप से अभिनन्दनीय। जब दिनकर जी की बारी आयी तो उन्होंने एक सुभाषित पढ़ दिया–

''प्रत्येक मूर्ख को उससे भी,

कुछ बड़ा मूर्ख मिल ही जाता है,

जो उसे समझता है पंडित

जो उसका आदर करता है।[2]

व्यंग सटीक बैठा। सीताराम जी जो इसके आयोजक थे, अपनी–चोट सहलाते हुए कहा, ''हाँ, हाँ हम आप जैसों की खोज में रहते है।''[3]

---

1. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–81
2. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–143
3 दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–143

26 मार्च सन् 1971 को गोरखपुर में रात को कवि सम्मेलन हुआ–

"काल का अखाड़ा बड़ा, देश का अखाड़ा छोटा होता है। बड़े अखाड़े के पहलवान छोटे अखाड़े में लड़े तो हार सकते है। गांधी और जिना की कुश्ती देश के अखाड़ें में हुई थी। इसी लिये गांधी जी हार गये। जब वह कुश्ती काल के अखाड़े में बंगला देश में चल रही है। इस बार जीत गांधी की होना चाहिए। कविता के एक पद कीबानगी प्रस्तुत है–

"स्थान में संघर्ष हो, तो क्षुद्रता भी जीतती है।

पर समय के युद्ध में वह हार जाती है।

जीत ले दिक् में जिना, पर अन्त में बापू,

तुम्हारी जीत होगी काल के चौड़े अखाड़े में।[1]

24 जनवरी सन 1972 ई0 को रात में दिल्ली के लाल किले में कविसम्मेलन का दिनकर जी ने उद्‌घाटन किया। सभापति थे सोहन लाल द्विवेदी। " निर्भय हाथरसी ने एक जोरदार कविता सुनायी–

"यह काली–पीली आंधी है।

यह इन्दिरा नेहरू गांधी है।"[2]

वैरागी ने भी एक जोरदार कविता सुनायी, जिसका भाव था दो दिन और लड़कर पिंडी और लाहौर को भी निपटा देते।

"लगे हॉथ निपटा ही देते पिंडी और लाहौर को।"[3]

दिनकर जी के हृदय में इन्दिरा जी के लिए काफी मान–सम्मान

---

1. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–188
2. वही पृष्ठ–286
3. वही पृष्ठ–287

था। घर में जब कभी चर्चा घिरती थी। तब दिनकर जी हमेशा इंदिरा जी की प्रशासन क्षमता, दृढ़ता और कौशल की प्रशंसा करते थे। बंगला देश की मुक्ति के लिये युद्ध के समय इन्दिरा जी ने जिस परिपक्वता, संकल्प और दृढ़ता का परिचय दिया, उससे प्रभावित होकर दिनकर ने उन सब पर बहुत ही अच्छी पंक्तियां कवि सम्मेलन में उद्घाटन के अवसर पर सुनायी। यथा–

''माँ तुमने सदियों के बाद

विजय का मुकुट पहना है।

जान देने वाले बड़े बेटे

तुमने कम पैदा नही किये।

लेकिन वह मुकुट

एक बेटी का दिया गहना है।

माँ आशीष दो

कि तुम्हारी यह बेटी

खुश रहे, कायम रहें

शाद रहे।

नहाते समय भी

उसके सिर के बाल न टूटे

और यह देश

सच्चे अर्थों में आजाद रहे।''[1]

1. दिनकर, एक सहज पुरूष – शिवसागर मिश्र, पृष्ठ–66

इस प्रकार दिनकर जहाँ चलते वहाँ कवि गोष्ठी का रूप बन जाता था। जहाँ ठहरते, वहाँ कवि सम्मेलन हो जाता था। ऐसा कम कवियों के साथ रहा है। इससे यह कहा जा सकता हैं कि दिनकर जी वाचिक परम्परा के कवि हैं।

(२) उपभोक्ता मूलक संस्कृति के समर्थ प्रतिरोधक कवि दिनकर

उपर्युक्त विषय को समझने के लिए पहले हमें उपभोक्ता को समझना पड़ेगा। उपभोक्ता का शाब्दिक अर्थ है– ''दैनिक वस्तुओं का उपयोग करने वाला''[1]। 'मूलक' का शाब्दिक अर्थ है– '' उत्पन्न करने वाला''[2]। संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है– ''आचरण युक्त परम्परा''[3]। प्रतिरोधक का शाब्दिक अर्थ है– ''रूकावट, बाधा या निरस्कार करने वाला''[4]।

'उपभोक्ता मूलक संस्कृति के प्रतिरोधक' का अर्थ है– उपभोक्ता मूलक संस्कृति को यथा स्थिति में न स्वीकार करने वाला। दिनकर जी के समय उपभोक्ता मूलक संस्कृति का सूत्रपात रूस में लेनिन ने किया था। रूसी क्रान्ति से दिनकर ही नहीं गांधी जी भी प्रभावित थे, परन्तु गांधी जी लेनिन की हिंसात्मक क्रान्ति को श्रेष्ठ नहीं समझते है। दिनकर जी भी गांधीवाद से प्रभावित थे। लेनिन को दिनकर जी अपना नेता तो स्वीकार करते थे परन्तु उनकी आन्दोलन की पद्धतियों को स्वीकार नहीं करते थे।

---

1. राजपाल हिन्दी शब्दकोष– डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ 116
2. राजपाल हिन्दी शब्दकोष– डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ 669
3. राजपाल हिन्दी शब्दकोष– डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ 794
4. राजपाल हिन्दी शब्दकोष– डा0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ 534

उपभोक्ता मूलक संस्कृति–

आर्थिक जगत में मुख्य रूप से दो ही तत्व होते है–1 उत्पादक, 2. उपभोक्ता।

उत्पादक–

जो वस्तुओं का उत्पादन करता है। भारत में अंग्रेजों के आगमन के पूर्व वस्तुओं का उत्पादन अधिकांश तौर पर ग्राम में ही हो जाया करता था। कृषि यन्त्र (लुहार), लकड़ी की गाड़ियाँ आदि निर्माण (बढ़ई), कपड़ा बुनने, सूत कातने का कार्य (जुलाहा) द्वारा सम्पादन होता था। ग्रामीण आवश्यकताएँ ग्राम में ही हो जाया करती थीं। अंग्रेजी सत्ता के भारत में स्थापित होने के कारण भारत का ग्रामीण उद्योग नष्ट हुआ। इंगलैण्ड के कल कारखानों में बना सामान भारत में सस्ते दर पर आने के कारण भारत के ग्रामीण अंचल का उद्योग नष्ट हो गया। ग्रामों में बसने वाला कारीगर मजदूर बन गया। रोजी के लिए गाँव छोड़ कर भागने लगा। अब उत्पादक की संज्ञा बदल गई। किसान अपने उत्पादन कारीगरों के उत्पादन से बदल लेता था। अधिकांश तौर पर कृषक अपनी फसल का एक अंश ग्रामीण कारीगर–बढ़ई, लुहार, बुनकर व कृषि से संलग्न मजदूरों को दे देने की प्रथा थी। विनिमय की कठिनाइयों का सामना ग्रामीण लोगों को नहीं उठाना पड़ता था। आवश्यकतायें सीमित होने के कारण कोई किसी का शोषण नहीं कर पाता था। भारत एक शोषण विहीन था। पर अंग्रेजी सत्ता के भारत में पनपने के कारण भारत की ग्रामीण संस्कृति नष्ट हो गई। अंग्रेजी सत्ता के पूर्व भारत में उत्पादक और उपभोक्ता दो अलग अलग वर्गो का समावेश नहीं था। इंगलैण्ड की तरह भारत में भी अंग्रेजों ने

कलकारखाने लगाने प्रारम्भ कर दिये। भारत में श्रमिकों का वेतन कम था। इससे कारखाने में होने वाला लाभ अन्य देशों के उत्पादकों से अधिक था। यहीं से पूंजीवाद प्रारम्भ हुआ।

पूंजीवाद व्यवस्था को समाप्ति की दिशा में और उपभोक्ताओं के शोषण को रोकने के लिए समाजवादी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ यहीं से उपभोक्ता मूलक व्यवस्था का जन्म हुआ। इस व्यवस्था की सफलता के लिए अलग–अलग दार्शनिकों ने अपने मतों का प्रतिपादन किया है। भारत जिस समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित हुआ वह है–मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद।

द्वन्द्ववाद की व्याख्या करने वाले आधुनिक मार्क्सवादी चिन्तको में मारिस कार्नफोर्श ने विरोधों की एकता और संघर्ष को ही द्वन्द्व का आधार माना है। ये विरोध बिना एक–दूसरे की सहायता के नहीं समझे जा सकते हैं। वे द्वन्द्व की प्रकृति अलगाववादी प्रवृत्तियों के दर्शन करते हैं, उनको सन्देहों का निराकरण करके कार्न फोर्श ने स्पष्ट रूप सें बताया है कि "वस्तुएँ, तत्त्व, सम्बन्ध तथा पद्धतियाँ अलग–अलग रहने और चलने वाली नहीं हैं। विरोधी तत्त्व अलग न होकर उसी तत्त्व का एक अंग होता है जिसे उससे अलग भी नहीं किया जा सकता है।"[1]

मार्क्स और ऐंजिल्स के मतों की व्याख्या करते हुए लेनिन ने भी एंजिल्स के समान द्वन्द्ववाद की कसौटी प्रकृति को ठहराया है। उन्होंने इस बात को यों स्पष्ट किया है–

"द्वन्द्ववाद की कसौटी प्रकृति है और यह मानना होगा कि आधुनिक

1. डाइलेक्टिकल मेटीरियलिज्म– माउरिश कार्न फोर्थ, वाल्यूम 1, पृष्ठ 69, 78.

प्रकृति विज्ञान में इस कसौटी के लिए बहुत ही सामग्री दी है। इस प्रकार प्रकृति–विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति की क्रियाएँ द्वन्द्ववादी हैं, न कि अविभूतवादी।'[1]

स्टालिन ने द्वन्द्ववाद सम्बन्धी लेनिन के परम्परानुमोदित मत को स्वीकार किया तथा अपनी मान्यताएँ, द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद' शीर्षक प्रबन्ध में प्रकट कीं। उन्होंने लिखा है कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक प्रणाली है जो हमें उन आन्तरिक नियमों का ज्ञान कराती है, जिनके अनुसार इस भौतिक जगत का विकास होता है, अथवा इस भौतिक जगत के रहने वाले प्राणियों का विकास तथा उसके विचारो मे रूपान्तर होता है। दृश्य जगत की गति के नियमों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाला यह सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है। कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने, समझने और हृदयांगम करने का इसका दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक है तथा उन प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या कल्पना और सिद्धान्त विवेचन भौतिकवादी है।''[2]

दिनकर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण चाहते हैं, जिसमें न वर्ग–भेद हो और नहीं सामन्तवादी परम्परा। इसीकारण वे साम्यवादी परम्परा का आह्वान करते दृष्टिगोचर होते हैं–

''आज कंपित मूल क्यों संसार का,

अर्थ का दानव भयाकुल मौन है।

झोपड़ी हंस चौकती वह आ रहा,

---

1. मार्क्सवाद के विकास की कुछ विशेषतायें–वी.आई.लेनिन, पृष्ठ–39
2. जे.वी. स्टेलिन– डाइलेक्टिकल एण्ड हिस्टोरिकल मेटीरियलिज्म, पृष्ठ–1

साम्य की वंशी बजाता कौन है?''[1]

दिनकर जी सामन्तवादी शोषण और जातिगत भेदभाव को दूर करने और अमीर गरीब की खाई को पाटने के लिये साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित तो हैं परन्तु उस व्यवस्था को मूल रूप में स्वीकार नही करते। साम्य की वंशी बजाने वाला वही कवि एक अन्य स्थल पर सामाजिक वैषम्य की तस्वीर अपने प्रभु के समक्ष उपस्थित करता है जो कि उसकी भावुकता का दूसरा रूप है। कितना बड़ा अन्तराल है, साम्य व सनातन धर्म में। लेकिन कवि का भावुक ह्रदय और मन एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड् दगध–समाज के लिए कुछ न कुछ कर समाधान का संधान करता है। कवि का सनातनी परिवेश प्रस्तुत है–

''प्रभु! तब पावन नील गगन–तल,

विदलित अमित निरहि–निबल दल,

मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र जन,

आह! सभ्यता आज कर रही,

असहायों वर्ग शोणित–शोषण।''[2]

साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद इन दोनों शासन परम्पराओं के मध्य भारतीय जनता और विशेषतः बिहार की प्रकृति–पीड़ित जनता, त्रस्त थी। उस समय विरोधी आन्दोलन थे– अहिंसावादी व उग्रवादी। दिनकर का युवक कवि क्रान्तिवादियों के संस्कारों से अलंकृत हो रहा था। इसी कारण उसमें इन अत्याचारों को सहने की तथा अहिंसा की दुहाई देने की सामर्थ्य

1. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ 78–79.
2. रेणुका–दिनकर, पृष्ठ–2

नहीं थी। उसके अन्तर में ज्वाला थी, प्रचण्ड प्रतिशोध की। समाज की ऐसी दयनीय अवस्था में उसे गांधी और उसके प्रतीक युधिष्ठिर पसन्द नहीं थे, उसे रूचे थे तिलक, व उसके प्रतीक अर्जुन व भीम, जो इस कुव्यवस्था के बल पूर्वक उखाड़ फेंकने के लिए अधीर थे। कवि की दृष्टि में अहिंसा की बात सोचना अथवा विवेक की बात करना, सबसे बड़ा अविवेक है। अपनों को मूल क्रान्ति से भय खाना अथवा अपने पराये की बात सोचना पक्षपातपूर्ण और शोषक शत्रु की हित–कामना में है जो स्वजनों के साथ धोखा है, जो किंचित भी सहन नहीं। युधिष्ठिर का युद्ध की विभीषिका को देख शान्ति की बात करना दुर्भाग्यपूर्ण है। शोषण और अत्याचारों की इस घोर परम्परा में गाँधी की अहिंसा की बात करना, दिनकर की दृष्टि में स्वजन हितकामना नहीं, अपितु अपने शत्रु को बढ़ावा मात्र ही देना है। इसीकारण दिनकर भीम के मुख से उत्तर दिलाते हैं–

''इन कौरवों के लिए ही,

सब सामने संताप है,

फिर व्यर्थ ही इन दुर्जनों से

मोह करते आप हैं।''[1]

अर्जुन कहते हैं–

''हे तात! कैसा आपका

इन कौरवों पर मोह है?

कैसा जगा दुर्योधनादिक

---

1. प्रणभंग–दिनकर, पृष्ठ–30

दुष्ट पर अनुराग है?

हैं आप पड़ते मोह में

फूटा हमारा भाग है।''[1]

द्वितीय पद में अर्जुन का सम्बोधन अवश्य ही युधिष्ठिर की ओर है, लेकिन यह दोनो ही पात्र प्रतीकात्मक हैं। क्योंकि कवि के मुख्य लक्ष्य गांधी हैं जो सरकार के प्रति आन्दोलनों को वापिस लेने की सलाह किसान और मजदूरों को देने लगे हैं तथा किसानों को बकाया लगान की अदायगी के लिए कहने लगे थे।

दिनकर, जिस समाज के प्रतिनिधि कवि थे, वह समाज शान्ति की प्राप्ति के लिए बेचैन था। शान्ति, हृदय मे प्रस्फुटित होती है, उसे ऊपर से आरोपित नहीं किया जा सकता। आरोपित शान्ति में क्रान्ति के विस्फोटक अणु विद्यमान रहते हैं जिसकी परिणति हिंसात्मक और विध्वंसात्मक होती है तथा त्रस्त समाज के अंतस्तल में ऋणात्मक और धनात्मक प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। 'कुरूक्षेत्र' के रचना काल में भारत पर ब्रिटिश सत्ता द्वारा आरोपित शान्ति थी, जिसका ऊपरी आवरण कुटिल सामन्तवादी था, जिसके अन्दर समाज में विस्फोटक अणु क्रियाशील थे जिसका प्रतिबिम्ब स्वयं 'कुरूक्षेत्र' है। दिनकर का कवि रूप ऐसी शान्ति स्वीकारने मे असमर्थ था, जिसकी नीव निरीह जन के संघातों पर आधारित हो और ना ही वह अहिंसा की स्थापना ही चाहता था, जिस पर हिंसा का अंकुश पहले से ही वर्तमान हो। यह उचित है कि वैयक्तिक जीवन में हमें अहिंसा और शान्ति का ही प्रत्यय देना चाहिये, लेकिन यदि कुछ मुट्ठी भर आततायी समाज

1. प्रणभंग–दिनकर, पृष्ठ–30

के अमंगल के लिए कृत संकल्प हो जायें और पूरी व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने पर उतारू हो जायें तो ऐसी स्थिति में 'अहिंसा परमो धर्मः' नही बरन पाप है। इसी तथ्य को कवि ने भीष्म के माध्यम से निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है–

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू

त्याग–तप से कामले, यह पाप है।

पुण्य है विछिन्न कर देना उसे,

बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।''[1]

जमींदारी प्रथा की स्थापना

19 वीं. सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश पूंजीवाद भारत में एक प्रगतिशील कार्य भी कर रहा था वह था, राजाओं और सामन्तों का विनाश और इस प्रकार जर्जर सामन्तीय व्यवस्था को तोड़ने का कार्य।

''परन्तु सन् 1856 के विद्रोह पश्चात उसने अपनी नीति बदलदी और साम्राज्यवादी हथकण्डों को अपनाकर वह देशी सामन्तों का संरक्षक बन गया।''[2] बंगाल और उत्तर पश्चिम के अवध आदि सूबों में एक नवीन जमींदार वर्ग को जन्म दिया गया जो जनता के विरूद्ध ब्रिटिश शासन का, अपने स्वार्थो के कारण प्रबल समर्थक बन गया। इस प्रकार भारत की आत्म–निर्भर ग्रामीण–व्यवस्था की कमर अंग्रेजी शासकों ने तोड़ दी।[3] और

---

1. कुरूक्षेत्र–दिनकर, पृष्ठ–14
2. इण्डिया टुडे– आर.पी.दत्त, पृष्ठ–216
3. दि ब्रिटिश रूल इन इण्डिया–कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क डेली ट्रिव्यून, जून, 25 1853, क्वोरेड ''इन इण्डिया टुडे'' वाई आर.पी. दत्त

भारत का सम्बन्ध विश्व व्यापार से जोड़ दिया तथा एक नवीन वर्ग– जमींदार वर्ग को उत्पन्न किया जो औद्योगिक विकास में उनका सहायक हो सकता था।

जमीदार प्रथा की स्थापना हो जाने से क्रमशः व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा प्रबल होने के साथ–साथ जमीन के सम्बन्ध में एक धारणा भी बनने लगी। अब तक जमीन की उपज के सम्बन्ध में सामूहिक स्वामित्व की भावना थी, किन्तु अब जमीन का लगान या मालगुजारी बसूल करने के लिये मालगुजारों की नियुक्तियाँ प्रारम्भ होने लगी और बाद में वे ही मालगुजार जमींदार बन जाने लगे। जमीन और उसकी उपज पर गाँववालों का स्वामित्व मिटता चला गया। समूची जाति को जो विशे़ष हित था वह जमीन के नये मालिक के स्वार्थ तक सीमित हो गया। इससे केवल एक बहुत बड़ा आर्थिक परिवर्तन ही नहीं हुआ किन्तु ग्राम्य–समाज की परस्पर सहयोग और सहयोगपूर्ण सामूहिक–भावना भी लुप्त हो गयी।"[1]

पहले अनाज के रूप में लगान चुकाने की पद्धति होने के कारण किसान को अपनी पैदावार का विनिमय बाजार में करने की कोइ आवश्यकता नही होती थी। और गांव में निर्मित वस्तुएँ भी विनिमय के लिए बाजार में नहीं जाती थीं। लेकिन अब गांव का समस्त उत्पादन बाजार में जाने लगा और किसान का जीवन बाजार पर अबलम्बित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि गांव के समस्त व्यापार उद्योग नष्ट हो गये और किसान बाजार का दास बनकर गांव से बाजार की ओर दौड़ने लगा। पैदावार में भी उसकी दृष्टि धीरे–धीरे व्यापारिक पैदावार की ओर जानै लगी। सम्पूर्ण

1. हिन्दुस्तान की कहानी– जवाहर लाल नेहरू, पृष्ठ 373–374.

पैदावार और निर्मित वस्तुएँ बाजार के अधिकार में आने लगी और पैसे वाले बाजार के स्वामी बन गये। इन्हीं में से एक नये साहूकार और पूंजीपति वर्ग का जन्म हुआ। अपनी पैदावार को बेचकर भी जब किसान की आवश्यकताएँ पूर्ण न हो सकीं तो वह साहूकार से कर्ज लेने लगा। परिणामस्वरूप किसान गरीबी का शिकार होता चला गया और क्रमशः जमीन उसकी गई औजार उसके गए और वह श्रमिक बन कर रह गया। उसकी जीवन–व्यवस्था साहूकार–पूँजीपति के हाथ में चली गई।

उद्योगों के नाश से अपनी पुस्तैनी कला–कौशल से वंचित कारीगर भी भूमि की ओर लौटे। भूमि पर दवाब बढ़ा और भूमि हीन किसान की समस्या उत्पन्न होकर उद्योगों के उत्तरोत्तर नाश के साथ अधिकाधिक बढ़ती चली गई दूसरी ओर जमीन के वास्तविक मालिक स्वयं परिश्रम न करके जमींदार हो गये।

नयी भूमि व्यवस्था के परिणाम स्वरूप अंग्रेजों के पूँजीपति, भारतीय पूँजीपति, जमीदार–काश्तकार, मजदूर आदि नये वर्गों का निर्माण हुआ। सामन्तवादी व्यवस्था में जहाँ धन संचय अधर्म समझा जाता था और अन्न संचय धर्म, वहाँ पर अब धन–संचय धर्म बन गया। यह धन कारखानों और बैंकों में पहुँचने लगा, जो अब सम्पत्ति–संग्रह के स्थान बन गये थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के द्वारा उपनिवेशिक अर्थतन्त्र के रूप में जिस पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का बीजारोपण किया गया उसमें जो सम्पत्ति विकेन्द्रित थी उसका केन्द्रीयकरण होने लगा, बहुसंख्यक जनता दरिद्र बनी तथा सामाजिक व्यवस्था और जीवन के मूल्य भी बदल गए। देश में असन्तोष बढ़ने लगा और जगह–जगह पर काश्तकारों के कई विद्रोह भी हुए। लेकिन आपसी

ऐक्य के अभाव में तथा नवनिर्मित पूंजीपतियों, जमींदारों और साहूकारों के कारण ये विद्रोह सफल नहीं हो सके।

इस आर्थिक विषमता और शोषण में सुधार लाने के लिये कार्लमार्क्स ने श्रमजीवी वर्ग को समाज के अर्थतन्त्र और शासन तन्त्र का स्वामी बनने का सुझाव दिया, उन्हें अपना अधिकार प्राप्त कराने क`लिए अपने विरोधी स्वार्थ में लीन बड़े–बड़े पूंजीवादियों, उद्योग–पतियों या भूस्वामियों से संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। कवि दिनकर जी को कार्ल मार्क्स की यह विचारधारा पसन्द आई। उन्होंने भी स्वीकार किया अपने शोषकों के प्रति युद्ध करना, अपने अधिकारों के लिए लड़ना और अत्याचारों को न सहना ही प्रत्येक शोषित–पीड़ित व्यक्ति का धर्म है। मनुष्य को भाग्यवादी नहीं बनना चाहिए। उनके विचार से समाज की अर्थ प्रणाली पर ही व्यक्तियों का सुख–दुख बहुत कुछ निर्भर है। दिनकर साम्यवाद से प्रभावित हैं अतः अर्थ–वैषम्य का विरोध करते है। समाज में फैली आर्थिक विषमता का चित्र दिनकर की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"वे भी हैं यहीं, दूध से जो अपने स्वानों को नहलाते हैं।

ये बच्चे भी यहीं, कब्र में 'दूध–दूध' जो चिल्लाते हैं।"[1]

दिनकर ने अबोध शिशुओं को दूध के अभाव में स्वानो से भी हीन दशा में मरते देखा है; निर्बल शोषितों को लांछित, अपमानित, पददलित होते तथा ब्याज चुकाने के लिए नारी के लज्जा वसन बिकते देखा है, जिससे स्वभावतः उसका खून खौल उठा है, वह कहता है–

"हाय छिनी भूखों की रोटी,

---

1. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ 39.

छिना नग्न का अर्द्ध वसन है;

मजदूरों के कौर छिने हैं,

जिनपर उनका लगा दसन है।''[1]

दिनकर जी ने बिहार में ग्रामीण कृषि श्रमिकों को दिनभर काम करते देखा था और शायंकाल मजदूरी के स्थान पर डन्डों, जूतों की मार खाते देखा था। भूखे पेट दिन–भर काम करने के पश्चात भी एक लोटा सूखा पानी पीकर सो जाते देखा था। उन जमीदारों, साहूकारों को ललकारते हुए दिनकर जी कहते हैं–

''आहें उठी दीन कृषकों की

मजदूरों की तड़प–पुकारें,

अरी! गरीबों के लोहू पर

खड़ी हुई तेरी दीवारें।''[2]

दीनहीन जनों की कहानी कहते हुए वह आगे कहता है–

''अंकित है कृषकों के गृह में तेरी निठुर निशानी,

दुखियों की कुटिया रो–रो कहती तेरी मनमानी।''[3]

दिनकर ने अनुभव किया है– धन पिशाच, एकाधिकार और सर्वभक्षण की स्वार्थ वृत्ति के कारण वर्तमान सभ्यता नष्ट होती जा रही है। अतः दानवी सभ्यता के पोषक–समर्थक जनों के शान्तिनारे का वर्णन करते हुए वह कहता है–

---

1. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ 63
2. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ 63
3. हुंकार– दिनकर, पृष्ठ 63

"घूम रही सभ्यता दानवी, शान्ति! शान्ति! करती भूतल में,
पूंछे कोई, भिगो रही वह क्यों अपने विष दन्त गरल में।
टाँक रही हो सुई चर्म, पर शांत रहें हम, तनिक न डोलैं।
यही शान्ति, गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें।"[1]

दिनकर को पूंजीपतियों द्वारा शोषित जनता की करूण पुकार, दीनता के स्वर सुनाई पड़ते हैं। स्वतंत्र भारत में जनता के मन में असंतोष की लहर की ऐसी व्याप्ति, कल्पना से कवि स्वयं को हेयदृष्टि से देखता है। कवि के भावुक हृदय में यह असंतोष काँटों का गीत बन कर एक चुभन देता है। कवि ने साम्प्रदायिक युग परिवेश में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, विकृतियों, थोथेपन पर न केवल दृष्टि डाली है वरन् उन्हें नई शैली में व्यक्त करने का प्रयास भी किया है। उसे विश्वास होता है– विदेशी शासक को जैसे ताज गवाँना पड़ा, वही हल पूँजीपतियों की पूँजी का भी होने वाला है–

"वेपनाह जिस तरह रहे उड़
राजाओं के मुकुट हवा में।
उसी तरह ये नोट तुम्हारे
पापी! उड़ जाने वाले हैं।"[2]

जनता का शोषण करने वाले, साम्यवाद के भय से, कांग्रेस में रहकर अपने को बचा नहीं सकते, गाँधीवाद की भाँति पूँजीपतियों के लिए सहायक नही हो सकती। कवि दिनकर को आज, उपभोक्ता मूलक संस्कृति

1. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ 36.
2. नील कुसुम–दिनकर, पृष्ठ–77

यानी मार्क्स की साम्यवादी संस्कृति जहाँ उत्पादक के स्थान पर उपभोक्ता का हित साधन है, के स्थान पर गाँधी और बिनोवा के आदर्शो के अनुकरण में विश्व–कल्याण दिखाई पड़ता है। दिनकर स्वार्थ–साधना एवं संचय वृत्ति में लीन जनों से कहता है–

''कहों, मार्क्स से डरे हुओं का,

गाँधी चौकीदार नही है,

सर्वोदय का दूत किसी

संचय का पहरेदार नहीं है।''[1]

गांधी ने मार्क्सवाद से प्रभावित होकर वर्गहीन समाज की कल्पना की। वे सुधारात्मक धरातल पर पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहते थे। दिनकर गांधी जी से प्रभावित थे। इस कारण दिनकर ने साम्यवाद का समर्थन तो किया परन्तु वह समर्थन गांधीवादी दर्शन के अनुरूप था। दिनकर उपभोक्ता मूल संस्कृति के प्रतिरोध के रूप में गांधीवादी संस्कृति की स्थापना करते हुए समाज के उन लोगों को अवगत कराना चाहता है जो असत्य के आश्रित तथा हिंसा के कुत्सित भावों से परिपूर्ण हैं। ऐसे व्यक्ति गाँधी जी की नीति का सहारा लेकर कभी–भी पनप नहीं सकते। ऐसा व्यक्ति कभी भी हवा का झोंका पाकर नष्ट हो सकता है–

''हठी तुम्हारे पापों से,

फिर एक प्रलय छाने वाला है।

गाँधी ने भूचाल किया,

1. नील कुसुम– दिनकर, पृष्ठ–77

तूफान वही लाने वाला है।"[1]

३. परम्परा के प्रति उपयोग परक दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर

कविता के प्रति दिनकर की दृष्टि उपयोगिता मूलक रही है। द्विवेदी युग के कवियों की भांति कविता के महत्व की अधिमूल्यन परक चेतना उनमें वर्तमान है। उनका मत है कि "कविता ने संसार की बड़ी सेवा की है। यह दुःख में आँसू, सुख में हँसी और समर में तलवार बनकर मनुष्यों के साथ रही है। मनुष्य की चेतना को उर्ध्वमुखी रखने में कविता का बहुत प्रबल हाथ है।"[2] यहाँ दिनकर कविता के आवेशमय प्रभाव के वैविध्य और विस्तार को रेखांकित कर रहे हैं। क्योंकि दिनकर ने यह स्वीकार किया है कि "कविता का महत्व ज्ञान दान में नहीं सौन्दर्य की सृष्टि में है। ज्ञान देने वाली विधाएँ साहित्य से बाहर भी मौजूद है जो इतना ज्ञान देती हैं जितना किसी भी कविता के लिए अदेय है।"[3] स्पष्ट है कि दिनकर कविता के लक्ष्य की बात अपनी पहली मान्यता में नही कर रहे बल्कि उनका तात्पर्य कविता के प्रभाव से है– उसके आवेशमय प्रभाव से। कविता का यह आवेश मूलक प्रभाव आधुनिक कविता की प्रकृति के विपरीत जाता है। क्योंकि कविता में जहाँ संवेदना और ज्ञान का गूढ़ संश्लेष किया जाता है वहाँ दिनकर अपनी रचना और समीक्षा–दोनों में आवेश तत्व की सिद्धि कर बल देते हैं जो पारंपरिक और रोमानी दृष्टिकोण ही कहा जा सकता है।

---

1. नील कुसुम–दिनकर, पृष्ठ–78
2. मिट्टी की ओर–दिनकर, पृष्ठ–54
3. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ–24

दिनकर कविता के कथ्य के लिए द्विवेदी युगीन लम्बी श्वास खींचने की चेष्टा करते हैं। द्विवेदी युग जिस सांस्कृतिक फलक को अपनी कविता के कैनवास पर अंकित कर पाया उस पर वे मंत्र मुग्ध हैं। यहाँ 'पंत के सामने' वाली बात के सूत्र उनके हाथ से छूट जाते हैं। वे स्वीकार करने लगते हैं कि "सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन के अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती।"[1] यही कारण है कि उर्वशी के अतिरिक्त उनके अन्य प्रबन्ध काव्यों मे विचार शुद्ध सौन्दर्य पक्ष पर हाबी रहा है। दिनकर क्योंकि कविता से कथ्य के स्थूल ढाँचे की 'माँग' करने लगते है, अतः यह माँग अपनी परिणति इन शब्दों के साथ करती है। "हम कविता में ऐसी प्राणवत्ता और गुणों की कठोरता चाहते हैं कि वह फिर से मनीषियों के अध्ययन और मनन की वस्तु बन जाय।"[2]

वस्तुतः कविता में– स्वयं अपनी कविता में दिनकर सदैव चुनाव की सभ्यता से जूझते रहे हैं। 'प्रणभंग' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक उनकी काव्यगत मानसिकता परम्परा और आधुनिकता के द्वंद्व में उलझी रही है। एक ओर वे द्विवेदी युग के कथ्य के विराट् फलक को ललचायी दृष्टि से देखते रहे हैं तो दूसरी ओर छायावाद की उन्मुक्त सौन्दर्यानुभूति से वे मन्त्र मुग्ध हैं। कहीं भाषा में' मैथिलीशरण गुप्त की सफाई चाहते हैं तो कहीं अपनी कविताओं को नयी कविता का पायदान मान लेते हैं।"[3] वे तथ्य और

1. मिट्टी की ओर– दिनकर, पृष्ठ 59
2. काव्य की भूमिका– दिनकर, पृष्ठ 84.
3. नीलकुसुम, भूमिका– दिनकर, पृष्ठ– 'ड.'

शिल्प में सम्पूर्णतः आधुनिक नहीं हो सके और सम्पूर्णतः आधुनिक न हो पाने के समर्थन की अनुगूँज ही उनके गद्य में उपलब्ध होती है। उन्होंने कविता की उपयोगिता जब नैतिक सन्दर्भों में स्वीकार की तो उन पर द्विवेदी युग का साहित्य–बोध हाबी रहा था, बल्कि कहें कि मैथिलीशरण हाबी थे और इस पक्ष को हमें परम्परा के परिपार्श्व में ही ग्रहण करना होगा।

दिनकर यह स्वीकार करते हैं कि प्रगति के लिए अतीत के रचनात्मक ग्रहण की उपेक्षा नहीं की जा सकती–

''केवल अतीत के तिरस्कार से वर्तमान

की चेतना उत्पन्न नहीं होती।

आगे की ओर छलांग भरने के लिए

थोड़ा पीछे जाना ही पड़ता है।

इसलिए यह आदमी अपने को आधुनिक नहीं कहता पुराना ही समझता है।''[1]

स्पष्ट है कि व्यक्ति के इस पुरानेपन को वे उसके नयेपन का मूल स्रोत मानते हैं। व्यक्ति प्रगतिशील है, इसका आशय ही यह है कि उसने अतीत की सम्पूर्ण उपलब्धियों को आत्मसात किया है– उन्हें सहेज कर अपनी प्रगतिशीलता को प्रमाणिकता प्रदान की है–

''परम्परा से टूट जाना पाप है।

अनैतिहासिक होना भी पाप है।

---

1. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ–88।

तो क्या यह जमा हुआ आदमी भी पापी है? नहीं,

उसने पाप नहीं किया हैं!

वह चेतना के सभी सोपानों पर पाँव धरता आया है।''[1]

दिनकर यह स्वीकार करते हैं कि जो लोग परम्परा से पूर्णतः विच्छिन्न होकर नये पन को साधने का प्रयास करते हैं, वे अपने से एक नयी प्रकार की अनैतिकता का सूत्र पात करते हैं। आज का मनुष्य यदि विकासशील है तो इसलिए नहीं कि वह नया है, बल्कि इसलिए कि उसने यह नयापन अतीत के एक–एक कण को जगाकर अर्जित किया है। उसमें एक गहरा इतिहास–बोध झिलमिलाता है, जिससें उसे वर्तमान को समझने की अन्तदृष्टि प्राप्त होती है। जो अतीत को अनदेखा करके वर्तमान को चरम सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं उनकी परिणति ग्लानिमय अवसाद में होगी, ऐसी दिनकर की भविष्यवाणी है। ऐसे नवीनवादियों के बिडम्बनात्मक जीवन की कवि उन्हीं के मुख से अभिव्यक्ति देता है–

''ऐसा मत कहो कि हम इतिहास की पूर्णता है,

हम अनन्त शताब्दियों की आशा की पूर्ति हैं।

वास्तव मे हम रिक्तता की प्रतिमा हैं, इसमें

आकर मानवता की आशाएँ झूठी हो गई हैं।

हम इतिहास की पराजय के लेख हैं।

हम चरम परिणति भी हैं और चरम ह्रास भी।

ठीक विज्ञान और प्रविधि की तरह

---

1. दिनकर की डायरी, जगा हुआ आदमी– दिनकर, पृष्ठ 87–88

जो पूर्णता भी है और विनाश भी

सुनिश्चितता की खोज करते–करते हम

सन्देह के गर्त में गिर गये।

भीतर का जीवन जो कुछ चाहता है,

उसे बाहर का जीव नहीं चाहता

इसलिए हम अपने आप से

लड़ाई लड़ रहे हैं।"[1]

इस विघटित मनः स्थिति को ही दिनकर आधुनिकता की सबसे बड़ी सीमा मानते हैं। किन्तु इसे तो रूग्ण आधुनिकता की संज्ञा देना होगा। जैसा कि आधुनिकता काल की प्रवाहमान धारा को महत्व ही नहीं देती, बल्कि उसको अपनी प्रकृति के अनुरूप रचनात्मक ग्रहण भी करती है। वस्तुतः जिस नयेपन की चकाचौंध में मनुष्य मर्यादा–भंग को प्रगतिशीलता के मापदण्ड के रूप में ग्रहण करता है, उसकी परिणति को ही यहाँ कवि ने रेखांकित करना चाहा है।

दिनकर की परम्परा विषयक दृष्टि को समझने के लिए उनकी 'हारे को हरिनाम' में पर्याप्त संग्रहीत 'परम्परा' नाम्नी कविता का विशेष महत्व है। यह कविता न केवल रचनाकार की परम्परा के प्रति आस्था को रेखांकित करती है– बल्कि अतीत से विच्छिन्न सभ्यता की वेदना को भी यहाँ संवेदनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। आज सभी जिस तरह परम्परा को कोस रहे हैं, उसका निषेध करता हुआ कवि कहता है–

---

1. दिनकर की डायरी–दिनकर, पृष्ठ– 88–89

"परम्परा को अन्धी लाठी से मत पीटो

उसमें बहुत कुछ है

जो जीवित है

जीवन–दायक है

जैसा भी हो,

ध्वंस से बचा रखने के लायक है।"[1]

कवि की यह मान्यता है कि परम्परा समाज रूपी नदी को घाट की व्यवस्था देकर उसकी चेतना के जल को गहरा बनाती है। यह ठीक है कि परम्परा में विप्लवों की गति नहीं होती। उसमें वह आवेग नहीं होता जो नयेपन का आकर्षण लिये रहता है किन्तु उसकी मंथरता में संस्कृति की जिजीविषा को प्राणवत्ता मिलती है–

"पानी का छिछला होकर

समतल में दौड़ना

यह क्रान्ति का नाम है।

लेकिन घाट बांधकर

पानी को गहरा बनाना,

यह परम्परा का काम है।"[2]

क्रान्ति की जिस अव्यवस्था की ओर दिनकर ने संकेत किया है वह दरअसल विद्रोह की अव्यवस्था है। क्रान्ति के मूल में जो उदात्त लक्ष्य

---

1. हारे को हरिनाम, दिनकर, पृष्ठ 47

2. हारे को हरिनाम, दिनकर, पृष्ठ 47

विद्यमान होता है– उसको प्राप्त करने के लिए हर व्यवस्था पिछलेपन में बदल जाती है। ऐसा नहीं है। न ही क्रान्ति इतनी सपाट होती है, जितनी कवि ने संकेतित की है। क्रान्ति से कवि का आशय सम्भवतः उस तथा कथित आधुनिकता से है जो काल के सातत्य का लम्बा सांस खींच पाने में असमर्थ रहती है। सच तो यह है कि परम्परा के प्रतिलोम में दिनकर जिस आधुनिकता को विरोध की मुद्रा में प्रस्तुत करते हैं वह आधुनिकता का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार कोई रमणीय वस्तु अपने परिवेश की कुरूपता से और आकर्षण प्रतीत होता है, वैसे ही कवि ने परम्परा के आकर्षण को बढ़ाने के लिए स्थान–स्थान पर आधुनिकता के ऋणात्मक पक्षों को प्रस्तुत किया है।

परम्परा के सूत्र हाथ से छूट जानेपर व्यक्ति की असहायता का अंकन दिनकर ने बड़े संवेदन शील रूप में किया है। वे यह मानते हैं कि परम्परा समाज की आस्था का आधार है और उसके समाप्त हो जाने पर व्यक्ति शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता–

"मेरी एक बात तुम मान जाओ।

परम्परा जब लुप्त होती है,

लोगों की आस्था के आधार

टूट जाते हैं।

उखड़े हुए पेड़ों के समान

वे अपनी जड़ों से छूट जाते हैं।

परम्परा जब लुप्त होती है,

लोगों को नींद नहीं आती,

न नशा किये बिना

चैन या कल पड़ती है।

परम्परा जब लुप्त होती है

सभ्यता अकेलेपन के

दर्द से भरती है।''[1]

परम्परा व्यक्ति की आस्था का आधार है। यह व्यक्ति की उस शान्ति का स्रोत है, जिसके बिना व्यक्ति अपनी अस्मिता से विच्छिन्न हो जाता है। सभ्यता अपने मूल में यद्यपि एक सामूहिक और प्रगतिशील व्यवस्था का नाम है, किन्तु परम्परा से हट जाने पर, वह निरर्थकता और अकेलेपन की वेदना का अनुभव करती है। दिनकर वस्तुतः परम्परा से आस्था अर्जित करना चाहते हैं। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि आस्था का अर्जन परम्परा से ही क्यों? क्या आधुनिकता–बोध में आस्था के लिए कोई स्थान नहीं?

आस्था का सम्बन्ध जीवन के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण से जुड़ जाता है, जहाँ जीवन का निषेध करके किसी अदृश्य शक्ति की आराधना की जाती है वहाँ आस्था की प्रकृति दूषित हो जाती है। आधुनिकता भी क्योंकि जीवन के प्रत्येक पक्ष के प्रति रचनात्मक रूप में प्रतिश्रुत है, अतः हम यह नहीं कह सकते कि उसमें आस्था का पूर्ण अभाव है। आस्था की लब्धि प्रति बद्धता में नहीं होती बल्कि जीवन के प्रति खुलापन ही आस्था की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। स्पष्ट है कि कवि ने परम्परा को यदि

1. हारे को हरिनाम–दिनकर, पृष्ठ 47–48

वृहत्तर परिपार्श्व में रखकर देखा होता तो उसे आस्था से आपका एकान्त सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता न पड़ती।

दिनकर जी विज्ञान और तकनीकी विकास की अंधी दौड़ से चिन्तित हैं। उनकी यह चिन्ता उनकी कविता में भी मुखर हो उठी है–

"जा रहा हूँ धूप में शीतल द्रुमों की छाँव में,

छोड़कर पक्की सड़क मन के मटीले गाँव में,

दूर कोलाहल भरे संसार से,

दूर भोंपू, रेडियो, अखबार से,

दूर उस मन में जहाँ एकान्त है,

जिन्दगी चलती मगर सब शान्त है।"[1]

दिनकर तकनीकी विकास में निहित यांत्रिकता के प्रति वितृष्णा का भाव रखता है वह यहाँ सुन्दर अभिव्यक्ति पा सका है। कवि की यह मान्यता है कि जीवन की गति का आशय अशान्ति नहीं। शान्ति के परिप्रेक्ष्य में भी जीवन की गति सम्भव है। इसे कवि की परम्परा के प्रति आस्था ही कहा जायेगा। वे स्वीकार करते हैं कि–

"इस पुरातन वृक्ष के नीचे पहुँचते ही हृदय की,

हलचलें सब शान्त हो जाती,

बहुत बाते पुरानी याद आती,

और जब बादल हृदय के कूप से बाहर निकलकर

दृष्टि के पथ को उमड़ कर घेर लेते हैं

1. कोयला और कवित्व– दिनकर, पृष्ठ–24

सूझता कुछ भी नहीं निर्वाक् खो जाता कहीं पर,

मैं नयन खोले हुए निष्प्राण प्रतिमा–सा।''[1]

पुरातनता कवि को भावुक बनाती है, उसके कलाकार को जाग्रत करती है। वह अपने विवेक द्वारा परम्परा की पुरातनता के रूढ़िगत तत्वों को अलग कर पाने में समर्थ है। 'नदी और पेड़' नामक कविता में कवि ने प्रतीकों का आश्रय लेकर रचनाकार की उस सृजन–प्रक्रिया को रेखांकित किया है जो परम्परा का मंथन करके रूढ़ि को उससे अलगाते हुए रचना धर्मिता का निर्वाह करता है–

''और इतने में न जाने,

सोचकर क्या बात मन में हँस पड़ी तुम

मैं, न जाने, देख क्या सकुचा गया

एक पीलापत्र धारा में बहाकर

वृक्ष फिर अपनी जगह पर आ गया।''[2]

यहाँ सम्बोधन नदी के लिए है जो काल की सतत् प्रवाह मानवता का प्रतीक है। पीला पत्र उन रूढ़ियों का प्रतीक है जो समाज रूपी वृक्ष की हरीतिमा को श्री हीन बनाता है। यह समाज रूपी वृक्ष रूढ़िरूपी पीले पत्ते को काल की सतत् प्रवाह मानता है, अर्पित कर देता है और काल की अखण्ड चेतना में ये रूढ़ियाँ अस्तित्वहीन हो जाती है 'कहीं–कहीं' कवि विज्ञान और तकनीकी विकास के समानान्तर परम्परा के महत्त्व को प्रतिपादित करता दीख पड़ता है–

1. नदी और पीपल–दिनकर, पृष्ठ–8
2. कोयला और कवित्व, ''नदी और पेड़''–दिनकर, पृष्ठ 23

"अब भी सबसे, सुनो अमृत–सन्तान, श्रेष्ठ अमरत्व है।

जहाँ नहीं है पहुँच सका विज्ञान वहाँ भी तत्व है

सुनो कौन यह पतली सी आवाज बड़ा ही शोर है।

चिमनी का हो गया चतुर्दिक राज, धुँओं का जोर है।"[1]

सच तो यह है जब हम दिनकर–काव्य के सन्दर्भ में उनकी परम्परा और आधुनिकता विषयक दृष्टि का आकलन करते हैं तो यह स्पष्ट है कि परम्परा के महत्व को स्थापित करते–करते वे बुद्धि, विज्ञान और टेक्नालॉजी से एक सूक्ष्म सुरक्षात्मक युद्ध की नियोजना करने लगते हैं। यहाँ तक कि जब वे कविता, कवि अथवा उसकी अनुभूति की चर्चा करते हैं तब भी उनका मन परम्परोन्मुखी ही बना रहता है। वे अपने कवि को परम्परा के अश्वत्थ से संयुक्त करते हुए नये की पृष्ठभूमि का दावा करते हैं–

"हँसते हो हम पर? परन्तु हम नहीं चिढ़ेंगे।

हम तो तुम्हें जिलाने को मरने आये हैं।

मिले जहाँ भी जहर, हमारी ओर बढ़ा दो।"[2]

दिनकर कविता को उपयोगिता मूलक मानकर राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी साहित्यिक सहभागिता से कभी पीछे नहीं हटे। यहाँ तक कि "परशुराम की प्रतीक्षा" में उनकी राष्ट्रीयता आक्रोश बन कर स्खलित हो गयी किन्तु रोमांटिक अनुभूतियों के प्रति उनका एक सम्मोहक आकर्षण रहा है। प्रेम और सौन्दर्यपरक काव्य की धारा उनके राष्ट्रीय काव्य के समानान्तर बढ़ती रही है और सच पूछिये तो उनका अवचेतन पूरी काव्य–यात्रा

---

1. "पृथ्वी का प्राण", कोयला और कवित्व– दिनकर, पृष्ठ–31
2. कवि– दिनकर, पृष्ठ 16

में प्रेम सौन्दर्य की विद्या से ही मन्त्र मुग्ध रहा। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में दिनकर आध्यात्म की और मुड़ गये थे और "हारे को हरिनाम" की शिथिल चेतना में राष्ट्रीयता का आवेश और रोमान की मादकता नहीं मिलती।

इतिहास में यदि मानव–विकास का घटनामूलक सांस्कृतिक क्रम होता है तो साहित्य में समाज की धमनियों में बहने वाले रक्त की एक–एक बूँद से इतिहास का निर्माण होता है। दिनकर ने भी अपने ढंग से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में अपनी साहित्यिक हिस्सेदारी निभाई है। कवि की मान्यता है कि "मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उंतरी, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं, वे उस काल की अनुभूतियों थी जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था, वे भारत के पाँच सहस्त्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ थी जो, सौभाग्यवश हमारे ही काल में आकर फिर से जीना चाह रही थी।"[1]

राष्ट्र कवि दिनकर जी ने राष्ट्रीयता और शोषण के विरूद्ध आवाज उठाना उपयोगी समझा। इसके लिये उन्होंने पौराणिक कथानकों का सहारा लिया और उपयोगिता के आधार पर पौराणिक कथानकों को अपने अनुरूप प्रयोग किया। और सफलता भी प्राप्त की।

४. प्रगतिशील और प्रयोगपरक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर

क) प्रगति वाद का आरम्भ और जीवन दृष्टि–

सन् 1935 ई0 से प्रगतिवाद युग आरम्भ होता है। प्रगति का अर्थ

1. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ–34

ही होता है आगे को बढ़ना और यह प्रगति साहित्य जगत में नये भावों का बोधक हुयी। भावभूमि और कलाभूमि दोनों स्वरों पर अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन के पीछे मार्क्सवादी विचारधारा काम कर रही थी। प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी विचार धारा को अपना आधार मानकर रचा गया था।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सामाजिक विषमता का मूल कारण आर्थिक विषमता है। इसी पूँजीवादी अर्थ प्रणाली ने समाज में शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया है। राष्ट्र की अंर्थ–व्यवस्था पर चन्द पूँजीपतियों का एकाधिकार है। कुछ ही लोग धन पर अपना अधिकार बनाये बैठे हैं। उत्पादन विनिमय और वितरण पर पूंजीवादी अधिकार विद्यमान है। उत्पादक हैं किसान–मजदूर। खेती में, कारखानों में उनके पसीने से उत्पादन होता है, पर स्वामी बने बैठे हैं ये सफेद–पोश पूंजीपति। इन किसानों और मजदूरों को केवल जिंदा रहने के लिए कुछ टुकड़ें दे दिये जाते हैं।

मार्क्सवाद इस पूंजीवादी अर्थ–व्यवस्था का खुलकर विरोध करता है। वह धन का असमान वितरण नहीं चाहता। वह कहता है कि जब तक धन का असमान वितरण दूर नहीं हो जायेगा, उत्पादन के सभी साधनों पर जब तक समाज का अधिकार नहीं होगा, तब तक वर्तमान सामाजिक दुःख, दैन्य, दरिद्रता और सामाजिक न्याय क्षमता के आधार पर नहीं होगा। तभी नयी संस्कृति की स्थापना हो सकेगी। मार्क्सवाद यह भी मानता है कि मानवीय चेतना और सामाजिक मनोविज्ञान का निर्माण आर्थिक व्यवस्था द्वारा होता है। जब उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता.है तो उसी के

आधार पर सामाजिक दिल–दिमाग का भी परिवर्तन होते देखा जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है, कि सामन्तवादी युग की रीति–नीति आदि पूंजीवादी युग में बदल गयी, जीवन के मूल्य बदल गये, आचार विचार सभी बदल गये। इसलिए आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन हो जाता है। यह भी मार्क्स–वाद बतलाता है कि आर्थिक समता और सामाजिक न्याय पर आधारित समाजवाद जनतन्त्र पर आधारित होगा। इसके अभाव में यह निष्प्राण होगा। मार्क्स के अनुसार जनतन्त्र समाजवाद का एक आवश्यक अंग है।

मार्क्सवादी विचारधारा ने हमारे साहित्यकारों को प्रभावित किया। सामाजिक व्यवस्था जिन सिद्धान्तों की सत्यता प्रमाणित करती थी, उसी के आधार पर वे सिद्धान्त बड़ी आसानी से स्वीकृत किये गये। परिणाम स्वरूप प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक न्याय, समता और वर्गहीनता का स्वर गूँजने लगा। इस प्रबल और व्यापक स्वर के प्रभाव से सारा हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ।

यन्त्रों की यन्त्रणा से साधारण जन पिस रहा है। बड़ी पूंजी द्वारा प्राप्त विशाल यंत्रों से संचालित उद्योगों ने समाज में धनी और गरीब–दो वर्ग बना दिये हैं। प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली में मतदान के समय सभी समान दिखाई देते हैं परन्तु थोड़े समय की इस समानता से दोनों के बीच स्थित आर्थिक विषमता में कोई कमी नहीं आती– यह सभी ने अनुभव किया।

साम्प्रतिक युग–तथ्यों के प्रति सजग, सचेष्ट कवि दिनकर भी इस विचार धारा से प्रभावित हुए और इनके काव्यों में भी सामाजिक न्याय,

समता और वर्ग हीनता का स्वर गूँजने लगा।

कवि दिनकर ने निम्न वर्ग के जीवन को दुःखी देखकर अनुभव किया कि इनके दुःख दारिद्रय पूर्ण जीवन का मूल कारण है समाज के अर्थतन्त्र की दोषपूर्ण रचना। अतः उनके साहित्य में समाज में फैली अर्थ–विषमता के विरोध में व्रिदोही स्वर गूँजने लगा। समाज में फैली आर्थिक विषमता का चित्र स्पष्ट करते हुए दिनकर ने अपनी कृति 'हुंकार' में लिखा है–

> ''वे भी यहीं, दूध से जो अपने स्वानों को नहलाते हैं।
> ये बच्चे भी यहीं, कब्र में 'दूध–दूध' जो चिल्लाते हैं।''[1]
>
> × × ×
>
> ''शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
> मैं फाडूँगी हृदय, लाज से, आँख नहीं रो पायेंगी।''[2]
>
> × × ×
>
> विवश देखती माँ, अँचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती;
> अपना रक्त पिला–देती यदि फटती आज वज्र की छाती।
> कब्र–कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है;
> दूध, दूध! की कदम–कदम पर सारी रात सदा होती है।
> दूध, दूध! ओ वत्स! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ है,
> दूध, दूध! तारे बालों इन बच्चों के भगवान कहाँ है।''[3]

---

1. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–39
2. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–50
3. हुंकार–दिनकर, पृष्ठ–38

दिनकर ने आज की गिरी आर्थिक स्थिति और तज्जन्य वैषम्य का वर्णन तो किया ही है, साथ ही उस गरीब, विवश माँ की गोद के मासूम बच्चे के, बूँद भर दूध के अभाव में तड़प–तड़प कर मर जाने के मर्म स्पर्शी चित्र के माध्यम से भावुक वर्ग में वास्तविक वस्तुस्थिति का मान कराकर असन्तोष और क्रान्ति की भावना का उन्मेष करना चाहा है, बज्र की छाती फटने, कब्र–कब्र से बालकों की भूखी हड्डी के चिल्लाने और श्रद्धा और आस्था के केन्द्र मन्दिरों में दयालु देवता नहीं, बहरे पाषाणों के रहने तथा बच्चों के भगवान की अनुपस्थिति का मान कराकर हमारी सुषुप्त भावना को झकझोर कर जगा देना चाहा है।

कवि श्रमिकों एवं कृषकों को शोषकों द्वारा आहार के छीन लिए जाने, दनुजों द्वारा रक्त चूसे जाने, दिनभर बैल की तरह श्रम करके भी अन्न–वस्त्र के अभाव में विवश भाव से मौन रह कर संतोष करते, अपमानित, लांछित एवं पददलित होते देखता है और देखता है ब्याज चुकाने के लिए उनकी नारी के लज्जा वसन को बिकते तथा उनके नादान शिशुओं को दूध के अभाव में स्वानों से भी बुरी दशा मे तड़प–तड़प कर मरते। इससे उसका उक्त स्वभावतः खौल उठता है–

"अर्द्ध नग्न दम्पत्ति के गृह में मैं झोंका बन आऊँगी,

लज्जित हो न अतिथि–सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी।"[1]

× × ×

"बहनों की लुटती लाज देखकर काँप–काँप कर रह जाते हैं।"[2]

---

1. हुंकार, "वन फूलों की ओर"– दिनकर, पृष्ठ–50
2. हुंकार, "विपथमा"–दिनकर, पृष्ठ–89

× × ×

"श्वानों को मिलते दूध–वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा–वसन बेच जब व्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल–फलेलों पर पानी–सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको आमंत्रण है।"[1]

जिस व्यवस्था में नारी की लज्जा तक को महत्व नहीं दिया जाता, उस बर्बर व्यवस्था का क्या मूल्य? इसके विरोध में कवि कहता है–

"लपटों से लज्जा ढँको, कहाँ हो! धधको धधको घोर अनल,
कब तक ढँक पायेंगे इसको रमणी के दो छोटे करतल?
नारी का शील गिरा खण्डित, कौमार्य गिरा लोहू–लुहान,
भगवान भानु जल उठे क्रुद्ध, चिग्धार उठा यह आसमान।"[2]

समाज में शोषकों की कमी नहीं है। शोषक एक नहीं। शोषक मात्र जमींदार और पूंजीपति ही नहीं है जो गाँवों में निवास करते हैं और गाँव में रहने वाले कम आय के व्यक्तियों को छोटे–छोटे कर्ज दिया करते हैं। कर्ज की वसूली करते समय वे सबके साथ निर्दयता, निष्ठुरता से पेश आते हैं, किसी के साथ किसी तरह की सहानुभूति नहीं दिखलाते। कवि दिनकर ने गाँवों में निवास करने वाले ऐसे महाजनों को भी कर्ज की बसूली के लिए किसानों की भूमि नीलाम करवाते, उन पर झूठे मुकदमे चलाये जाते देखा

1. हुंकार, "विपथगा"–दिनकर, पृष्ठ–89
2. चक्रवाल–दिनकर, पृष्ठ–231–232

है। जमींदारों अथवा महाजनों से एक बार कर्ज ले लेने पर किसान कर्ज ली हुई रकम को चुका पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है कारण सूद की दर कड़ी होने की वजह से कर्ज ली हुई रकम में बृद्धि द्रुतवर गति से आती जाती हैं एक बार लिया हुआ कर्ज पुश्त दर पुश्त चुकता नहीं हो पाता है। सब तरह से, सब प्रकार से स्वयं को असमर्थ तथा परेशानी में पा कृषक को अपनी भूमि बेचने के लिए विवश होना पड़ता है। ऐसे ही कृषक की मनोदशा का चित्र प्रस्तुत करते हुए दिनकर ने लिखा है–

''ऋण में संपद गयी, सिर्फ दो बिघा भूमि थी हाथ,

× × ×

सात पुस्त तक जिसको सेकर पुरखे हुए निहाल,
उस माता को आज बेच दूँ? मैं ऐसा कंगाल?
अगले मास चला मैं रोता, छोड़ धरा औ धाम,
झूठे ऋण का हुआ मुकदमा, जमीं हुई नीलाम।
जग में जिसे बहुत है उसको ही न कभी संतोष,
राजा का कर सदा चुकाता कंगालों का कोष।''[1]

दिनकर जी ने अनुभव किया– धन–पिशाच जमींदारों की एकाधिकार और सर्वभक्षण की इस स्वार्थी वृत्ति के कारण वर्तमान सभ्यता नष्ट होती जा रही है। इस दानवी सभ्यता के पोषक–समर्थक जनों के शान्ति–नारे का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

''घूम रही सभ्यता दानवी, शान्ति! शान्ति! करती भूतल में,

1. धूप और छाँह– दिनकर, पृष्ठ–29–30

पूछे कोई भिंगो रही वह क्यों अपने विष–दन्त गरल में।

टाँक रही हो सुई चर्म, पर शान्त रहें हम, तनिक नडोलें।

यह शान्ति गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें।''[1]

कवि दिनकर के हृदय में साम्यवाद के प्रति श्रद्धा है, भारतीयता के प्रति विश्वास। कवि की साम्यवादी दृष्टि का कारण उसकी समझ है कि साम्यवाद में मानव–कल्याण की महती शक्ति छिपी है परन्तु कवि इस बात को भी स्पष्ट रूप से समझता है कि भारत जैसे गुलाम देश की सर्वप्रमुख समस्या है– अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को सर्व प्रथम पुनः प्राप्त करना। अपने कंधे पर पड़े परतन्त्रता के जुए को उतार फेंकने के लिए तत्पर, देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति का जितना महत्व हो सकता है उतना साम्यवाद का नहीं। साम्यवाद की स्थापना तो बाद की बात है, कारण विषमता से अधिक भयानकता परतन्त्रता में होती है। यही वह स्थल है जहाँ कवि का विचार साम्यवादियों के विचार से मेल नहीं खाता। दिनकर 'अरूण देश की रानी', लाल क्रान्ति के महत्व से अपरिचित नहीं। उसे अच्छी तरह ज्ञात है– फ्रांस में हुई राज्य क्रान्ति में न केवल प्रजातन्त्र का बल्कि समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व का सन्देश निहित था और साम्यवादियों की यह लाल क्रान्ति तो देश के विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित जनों के लिए वरदान ही है। कवि की दृष्टि भारतीय है अतः वह इस लाल क्रान्ति में काली भवानी और शिवा का रूप दर्शन करता है–

''जय विधायिके अमर क्रान्ति की! अरूणदेश की रानी

रक्त–कुसुमधारिणि! जगतारिणी! जय नवशिवे! भवानी!

1. हुंकार, ''हाहाकार''–दिनकर, पृष्ठ–36

अरूण विश्व की वाणी जय हो,

लाल सितारों वाली जय हो,

दलित–बुभुक्त, विषण्ण मनुज की,

शिखा रूद्र मतवाली, जय हो!

जगत ज्योति, जय–जय, भविष्य की राह दिखाने वाली;

जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली।''[1]

कवि को आश्चर्य होता है यह देख कर कि समता के हिमायती भारत की इस पराधीनता अवस्था में ही यहाँ साम्य की स्थापना के आकांक्षी हैं। वे उसे पहले स्वतन्त्र करने की बात नहीं सोचते। उनके सम्मुख दिल्ली के वीर जवानों को अपेक्षित सम्मान नहीं मिल पाता। दिनकर को उनके आचरण से दुःख होता है। उनकी दृष्टि में अच्छा तो यह होता कि मास्को–मुखी से साम्यवादी सर्वप्रथम उस दिल्ली के कलंक–मोचन की चेष्टा करते हैं–

''दिल्ली, आह कलंक देश की

दिल्ली, आह ग्लानि की भाषा,

दिल्ली, आह, मरण पौरूष का,

दिल्ली, छिन्न–भिन्न अभिलाषा

विवश देश की छाती पर ठोकर की एक निशानी

दिल्ली, पराधीन, भारत की बजती हुई कहानी।

× × ×

1. सामधेनी–दिनकर, पृष्ठ–66

माधव मुक्ति बोध, डा0 रामविलास शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजा कुमार माथुर, नेमीचन्द जैन आदि प्रयोगवादी कवियों का मत है–

आज हम देश–काल की परिधि से ऊपर उठकर अपनी सीमा विश्व–बन्धुत्क तक निर्धारित कर रहे हैं। नवीन युग–चेतना के आलोक से आलोकित मानव नवीन आदर्शों तथा नवीन संस्कृतियों के निर्माण मे संलग्न है। युग–चेतना की नवीन रश्मि धीरे–धीरे हमारी संकीर्णता को तोड़ कर विशालता का बोध करा रही है और राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख हो रही है। सारी पुरानी मान्यताएँ टूट रही हैं। अतः हमें अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए नवीन भाषा, नये उपमान, नये प्रतीक आदि का सहारा लेना पड़ रहा है। पुरानी मान्यताओं के माध्यम से हम अपनी नवीन भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकते, कारण हमारी भाषा प्राचीनता के आवरण में ढकी रहने के कारण आज अशक्त एवं शिथिल है। अतः परम्पराओं की कुहेलिकाओं से बाहर निकल कर हमें नवीन रूपों का सृजन करना पड़ेगा। इसीलिये ये प्रयोगवादी कवि नवीनता का राग अलापते हुए विषय, भाषा, भाव, छंद–विधान, उपमान आदि सबों में नवीनता लाना चाहते है। प्रयोगवाद की अपनी सबसे बड़ी विशेषता है अस्पष्टता और यही अस्पष्टता छायावाद का बड़ा से बड़ा दोष समझा जाता है। प्रयोगवाद फ्रायडवादी नीति से प्रभावित होने के कारण 'कला कला के लिए' का पुजारी है।

दिनकर की प्रयोग परक जीवन दृष्टि

यों तो हर सृजनधर्मी कवि मूलतः प्रयोगशील होता है क्योंकि इस

प्रयोगशीलता में ही उसके निजी वैशिष्ट्य का रहस्य निहित रहता है। दिनकर भी इस सामान्य तथ्य का अपवाद नहीं थे। उन्होंने 'प्रणभंग' से ही अपनी काव्यगत अस्मिता की तलाश आरम्भ कर दी थी और यह तलाश 'हारे को हरिनाम' तक अक्षुण रही। वे अन्य श्रेष्ठ कवियों की तरह अपना काव्य–पथ स्वयं सर्जित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार प्रयोगधर्मिता से न कोई महत्त्वपूर्ण कवि अछूता रहता है और न दिनकर ही उससे अछूते रहे। किन्तु 'नील कुसुम' के प्रकाशन से पूर्व उन पर अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित और समर्पित प्रयोगवादी आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ चुका था। सन् 1943 में जब सरकार ने उनका स्थानान्तरण करके पटना भेज दिया तब उन्होंने इलियट, नीत्से और वरट्रेन्डरसल को पढ़ा। इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि दिनकर से जुड़ा हुआ ''...................... आर्केष्ट्रा का गर्जन वाला यंत्र शिथिल हो गया, समुद्र का फेन लुप्त हो गया, आग की लपट खत्म हो गयी, केवल अंगारे बच गये, जो क्षारहीन और निर्धूम थे।''[1] यह स्थिति कवि के रचनागत विकास में एक बहुत बड़े बदलाव की सूचक थी। इस स्थिति से प्रभावित रचनाओं को हम पौराणिक ऐतिहासिक, राष्ट्रीय अथवा प्रेम सौन्दर्य परक किसी वर्ग में नही रख सकते थे। इनमें एक ओर तो प्रयोगवादी आन्दोलन का प्रभाव परिलक्षित होता है तो दूसरी ओर दिनकर के पिछले काव्य से पृथक वैशिष्ट्य उभरता दीख पड़ता है जो मूलतः प्रयोग धर्मी है। यद्यपि ये रचनायें प्रयोग के उस स्तर तक स्वीकार कर नहीं पाती जितना प्रयोगवादी आन्दोलन से जुड़े कवियों द्वारा संभव हुआ। किन्तु प्रयोगवाद से प्रभाव ग्रहण करने और 'स्वच्छ नीर

1. रश्मिलोक, भूमिका, दिनकर, पृष्ठ–क

के सोते'' की भाँति इन कविताओं में काव्यानुभव और अभिव्यक्ति की प्रकृति के बदलाव को देखते हुए हमने इन कविताओं को प्रयोग धर्मी माना है।

जिस समय दिनकर ने 'नील कुसुम' की रचना की वे राष्ट्रीयता की पथरीली भूमि पर अंगारे उगलने के दायित्व से मुक्त होने के लिए छटपटा रहे थे। स्वतन्त्रता पश्चात सामान्य राष्ट्रवासी की तरह दिनकर ने जिस समृद्धि–मूलक समत्व की कल्पना की थी, वह उन्हें टूटती और बिखरती दिखाई देने लगी। रामराज्य के विराट् नैतिक आदर्श के स्थान पर राजनीतिक भ्रष्टाचार का भयावह राक्षस जनता को आतंकित करने लगा। कवि को स्वतन्त्रता–संग्राम के उन अग्रणी नेताओं के चरित्र पर सन्देह होने लगा जिनके हाथों में सत्ता के सूत्र आ गये थे। उसने निर्भीकता पूर्वक इन नेताओं से प्रश्न किया–

''आजादी तो मिल गई, मगर, वह गौरव कहाँ जुगायेगा?
मर भूखे! इसे घबराहट में तू बेच न तो खा पायेगा।''[1]

दिनकर की सारी सुनहरी कल्पनाएँ सत्ताधीशों के अनैतिक गठजोड़ से टूटकर बिखर गई। दिनकर ने दुःखी मन से यह अनुभव किया–

''ऊपर–ऊपर सब स्वांग, कहीं कुछ नहीं सार,
केवल भाषण की लड़ी, तिरंगे का तोरण।
कुछ से कुछ होने को तो आजादी न मिली,
वह मिली गुलामी की ही नकल बढ़ाने की।''[2]

जिस स्वतन्त्रता के सपने दिनकर ने संजोये थे वह स्वतन्त्रता उसे

1. नीम के पत्ते, ''रोटी और स्वाधीनता''–दिनकर, पृ01
2. ''पहली वर्षगांठ''– नीम के पत्ते–दिनकर, पृ0 17

कहीं दृष्टिगोचर न हुयी। स्वतन्त्रता संग्राम के मध्य जिस उदात्तराष्ट्रवाद को उसने सम्पूर्ण निष्ठा के साथ स्वीकार किया था, उसमें भ्रष्टाचार ने दरारें डाल दी। अब आजादी की परिभाषा कवि को इन शब्दों में करनी पड़ी–

> ''आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
> आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई।
> फैशन वालों के लिए क्या फैशन निकला,
> मोटर में बांधो तीन रंग वाला चिथड़ा,
> औ गिनो कि आँखें पड़ती हैं कितनी हमपर
> हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर।''[1]

इस निराशा ने उनके काव्य को बदलाव के लिए प्रेरित किया। इस सम्बन्ध में यह भी दृष्टव्य है कि ''दिनकर का काव्य अधिकांशतः उनकी व्यक्तिगत एवं बाह्य परिस्थितियों से नियन्त्रित रहा है। परिस्थितियाँ उन पर हावी रही हैं, वे परिस्थितियों पर नियन्त्रण नहीं कर पाये है।''[1] वर्तमान का वैताली' बनने की आकांक्षा उनमें सदैव बनी रही। अब क्योंकि वातावरण में घुटन और निराशा व्याप्त थी, अतः दिनकर ने अपने काव्य की लीक बदलनी चाही। इसका एक कारण शायद यह भी रहा होगा कि ''यह वह समय था जब कवि मन में राष्ट्रीयता, ओज, उत्साह और कामाध्यात्म की भावनाएँ छन कर निराला की तरह 'रेत सा बन रह गया' की विषम एवं निरर्थकता की अनुभूति में परिणति हो गई थी।'[2] ऐसी मनः स्थिति में उन्हें

---

1. दिनकर का परवर्ती काव्य– हरदयाल, राष्ट्रकवि दिनकर– सं0 डा0 गोपालराय, पृष्ठ–50
2. ''कवित्व अंगारों से भस्मावृत्त कोयले तक' – गोविन्द रजनीश, राष्ट्रकवि दिनकर– सं0 डा0 गोपाल राय, पृ0 169

प्रयोगवादी आन्दोलन–अपने अधिक समीप लगा क्योंकि यही वह काव्यान्दोलन था जो आवेगधर्मिता के विरोध में जाता था, और जिसके सूत्र अज्ञेय जैसे सुलझे हुए चिन्तक और समर्थ कवि के हाथों में थे। उन्हें अनुभव हुआ कि ''कोलाहल तो बड़े जोर का था और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असबाबो को तोड़–फोड़ कर ही दम लेंगे। किन्तु यह नवागम का शोर हो गया है।''[1] उस समय जब समीक्षक प्रयोगवाद की मूल दृष्टि को निर्भ्रान्ति रूप से इलियट का अनुकरण सिद्ध कर रहे थे, तब दिनकर प्रयोगवादियों के सुर–में–सुर मिलाकर कह रहे थे कि ''हिन्दी में जो कुछ हो रहा है उसे इलियट आदि अंग्रेजी कवियों का अन्धानुकरण नही कहना चाहिए। अनुकरण का काम दो–चार या दस आदमी कर सकते हैं। पूरी की पूरी पीढ़ी अनुकरण के रोग से ग्रसित हो, ऐसा मानने का कोई ठोस आधार नहीं है।''[2] यही नहीं उन्होंने अपने को प्रयोगवाद का 'पिछलग्गू' कवि माना। ऐसा मानने के पीछे दिनकर के हृदय में यह झिझक रही हो कि 25 वर्षो तक राष्ट्रीयता और श्रृंगार की आवेग धर्मी रचनाओं के बाद उनका 'गियर' बदलने का प्रयत्न कहीं अप्रत्याशित और अप्रिय आलोचना का केन्द्र न बन जाँय। कहीं प्रयोगवादी ही उन्हें अस्वीकार न कर दें। यही कारण था। प्रयोगवाद के अधिमूल्यन और अतिरिक्त विनम्रता को लेकर वह इस क्षेत्र में आए।

बाद में जब प्रयोगवादी आन्दोलन की बाढ़ कुछ थमी तो सन् 1956 ई0 में दिनकर ने काव्य की भूमिका' नामक अपने आलोचना–ग्रन्थ में प्रयोगवाद का पायदान प्रस्तुत करने वाला कवि अनुभव करने लगा कि

1. नील कुसुम– दिनकर, भूमिका पृष्ठ ड.
2. नील कुसुम–दिनकर, भूमिका, पृष्ठ घ–ड.

"आज प्रयोगवादी कविता की सफलता के दो नहीं, मात्र एक प्रमाण खोजने की अपेक्षा कहीं यह आसान है कि उसकी विफलता के एक हजार प्रमाण तुरन्त एकत्र कर दिये जाएँ।"[1] वे दिनकर जो प्रयोगवादियों की ओर से उसे इलियट का अनुकरण मानने से इंकार कर रहे थे, कहने लगे कि "विचित्र संयोग है कि इमेजिस्ट कवियों मे जो नकली कवि थे, ठीक उन्हीं के लक्षण प्रयोगवाद के नकली कवियों पर चरितार्थ होते हैं; जो सीमाएँ या कमजोरियाँ असली इमेजिस्ट कवियों की थीं, अपने यहाँ के भी कितने ही नए सत्कवि ठीक उन्हीं दुर्बलताओं से पीड़ित दिखते थे।"[2]

दिनकर मानने लगे कि प्रयोग स्वयं में काव्य–सर्जना नहीं है, अनुभूति के अन्तः साक्षात्कार का साधन है। प्रयोगवादियों का प्रयोग असम्बद्ध वाक्यों, अथवा शब्द–क्रीड़ा में उलझ कर रह गया है। "होना यह चाहिए था कि प्रयोगवादी कवियों के हृदय में जो नए स्वप्न मंडराने लगे हैं, वे बाहर आते और पाठकों का उनसे परिचय कराया जाता। अथवा नए कवि जिस नवीन भंगिमा के कारण यह विशेष पसंद करते हैं, वह पाठकों में उतारी जाती। किन्तु, यह काम प्रयोग वाद में बहुत कम हो रहा है।"[3]

वस्तुतः दिनकर वादगत प्रतिबद्धता की उन सीमाओं को समझ गये थे जो प्रयोगवादियों के अधिकांश प्रयोगों को निरर्थक करती थी। अब दिनकर के लिए प्रयोग चमत्कार नहीं था, एक साधना थी। वे मानने लगे कि प्रयोगवाद अभी रास्ते में ही है और दिशा निर्देश कर रहा है।" इसलिए मेरा विचार है कि प्रयोग वाद हिन्दी–कविता को जिस ओर जाने का संकेत

1. काव्य की भूमिका–दिनकर, पृ0 58
2. काव्य की भूमिका– दिनकर ,पृष्ठ–59
3. काव्य की भूमिका– दिनकर ,पृष्ठ–59

दे रहा है, वह काव्य मात्र की सबसे श्रेष्ठ दिशा है और इसीलिए प्रयोग की साधना भी ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की जा सकती।"[1]

इस प्रकार दिनकर ने अन्ततः प्रयोगवाद को नहीं प्रयोगधर्मिता को स्वीकार किया। यह प्रयोग धर्मिता 'नील कुसुम' के बाद निरन्तर विकसित और प्रौढ़ होती गई है। यही कारण है कि नील कुसुम के बाद की उन रचनाओं को हमने अपने विवेचन का आधार बनाया है जिनमें प्रयोग धर्मिता के तत्व विद्यमान हैं।

1. काव्य की भूमिका–दिनकर, पृष्ठ–67

उपसंहार

साहित्य सृजन मानस मन्थन का प्रतिफल है। द्वन्द्वात्मक मनः स्थिति ही मानस मन्थन का कारण है। वैज्ञानिक सीधे सहज शब्दों में अपनी बात कह लेता है परन्तु साहित्यकार द्वन्द्व की विविध वीथियों में भटकता रहता है, और यह भटकाव साहित्य सृजन के विविध द्वार खोलता है। दिनकर का व्यक्तित्व भी अन्तर्विरोधों और जटिलताओं का पुंज है। दिनकर जी विभिन्न स्तरों पर एक साथ जीने वाले, अपने ही अन्तर्विरोधों में उलझे हुए, द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व वाले थे। इस कारण दिनकर जी के इस द्वन्द्व, संघर्ष और अन्तर्विरोध पर इस शोध–प्रबन्ध में कार्य प्रस्तुत किया गया है। दिनकर के काव्य में अन्तर्विरोध (द्वन्द्व) भाव जगत और शिल्प जगत दोनों में परिलक्षित हुआ है। आधुनिकता पर परम्परागत द्वन्द्व भी दिनकर में स्थान–स्थान पर दिखाई दिया है।

दिनकर व्यक्ति और रचनाकार के रूप में दिनकर का जन्म, रूप रंग, संस्कार, पारिवारिक परिस्थिति और दिनकर का परिवार के प्रति दृष्टिकोण पर अध्ययन किया है।

दिनकर का जन्म बिहार के एक छोटे से ग्राम सिमरिया और साधारण कृषक परिवार में हुआ था। परिवार धार्मिक वृत्ति का होने के कारण दिनकर पर भी पारिवारिक परिवेश का असर हुआ। तेजस्वी व्यक्तित्व, आकर्षक, सुडौल, सुन्दर शरीर वाले दिनकर के पिता को रामचरित मानस पूर्ण रूप से कण्ठस्थ था।

दिनकर जी स्नातक होने पश्चात, प्रधानाध्यापक, बिहार सरकार में सब रजिस्ट्रार, 1947 में बिहार सरकार के प्रचार विभाग में उपनिदेश, 1950 में मुजफ्फरपुर कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष रहे। किसी भी पद पर स्थाई

रूप से नहीं रह पाये। सारा जीवन संघर्षरत रहने के कारण दिनकर की विचारधारा में संघर्ष समा गया था।

दिनकर जी की पारिवारिक स्थिति अच्छी नहीं थी। बचपन में 13 वर्ष की उम्र में पिता का स्वर्गवास हो गया। परिवार का बोझ दिनकर जी के कंधों पर आ पड़ा। जिसे ढोते ढोते वे थक गये। अन्त में परिवार ने भी साथ नहीं दिया। पत्नी कर्कशवाणी की होने के कारण दिनकर जी को मानसिक सन्तुष्टि अप्राप्त थी। फिर भी दिनकर जी का अपने परिवार के प्रति दृष्टिकोण आदर्शात्मक था। दिनकर जी ने जीवनपर्यन्त अपने परिवार का निर्वाह किया। जीवन भर परिवार का बोझ ढोने वाले को जब सहारे की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उस समय उस व्यक्ति ने अपने को अकेले ही पाया।

दिनकर जी की अजीब सी छटपटाहट, आन्तरिक घुटन, टूटा व्यक्ति, बेचैन होता मन ने ऐसे साहित्य का सृजन किया जो मन के अन्तस्तल में प्रवेश करने वाला था।

प्रेरक परिस्थितियाँ ही व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। दिनकर की पारिवारिक परिस्थितियों ने प्रेम और कुण्ठा का निर्माण किया। सामाजिक परिस्थितियों ने दिनकर को संघर्षशील बनाया। राजनैतिक परिस्थितियों ने दिनकर को क्रान्तिकारी बनाया।

दिनकर जी के समकालीन सामाजिक परिवेश में बाल विवाह, बहुविवाह, दहेज का बोल बाला, आर्थिक विपन्नता के कारण सुकुमारियों का वृद्धों के साथ विवाह, विधवा समस्याएँ विद्यमान थी।

आर्थिक क्षेत्र में बेगारप्रथा, भुखमरी, शोषण समाज के अन्दर समाया हुआ था। दिनकर के काव्यक्षेत्र में पदार्पण के समय भारत पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था। भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर विद्रोह के बादल छाये हुए थे। अंग्रेजी दमन नीति के कारण निराशा रूपी अंधकार छाने लगा था। ऐसी स्थिति में दिनकर का काव्य उदय हुआ; जिसने अरूणाम ऊषा रूपी रक्त रंजित क्रान्ति का बिगुल फूँका, जिसने युवा वर्ग में नवीन उत्साह उत्पन्न किया। यह ऐसा समय था जब अंग्रेजी सत्ता ने ताल्लुकेदारों व जमींदारों के माध्मय से जनता को चूसकर बेकारी, निर्धनता की आग में झोंक दिया। अंग्रेजों की कूटनीतिक चाल ने हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष को जन्म दिया। अंग्रेजों के आतंक से दिनकर जी का मन तड़प उठा। यह तड़प दिनकर के काव्य 'हुंकार', 'रेणुका', व 'सामधेनी में स्पष्ट झलकती है।

अनेक समस्याओं के जन्म के साथ 15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। नेताओं का स्वार्थी भाव, और भृष्ट आचरण से जनता काँप उठी। चीन के आक्रमण से भारत कुछ सम्हला ही था कि पाकिस्तान का आक्रमण हो गया जिसमें भारत विजयी हुआ।

दिनकर का व्यक्तित्व, द्वन्द्वों का जटिल संपुंज था। यह सत्य है कि दिनकर जी द्वन्द्व के कवि थे लेकिन यह द्वन्द्व व्यक्तित्व के स्खलन का नहीं, अपितु प्रतिभा और शालीनता का द्योतक है। दिनकर का व्यक्ति पक्ष जितना ही कोमल और भावुक है। उनका सामाजिक पक्ष उतना ही प्रबल, आग्रह–शील एवं नियामक है। इन्हीं दो पक्षों के द्वन्द्व का इतिहास उनके कवि के विकास को समझने के लिए अमूल्य सहायक है।

दिनकर का मानना था कि काम और पराक्रम एक दूसरे के सहायक हैं। दिनकर के जीवन में जो कुछ कोमल है, उसके प्रति दिनकर का आन्तरिक आग्रह है और जो कुछ भीषण है, उसके लिए वे सामाजिक चेतना के आदेश से स्वीकार कर पाये हैं।

दिनकर का द्वन्द्व जिस तरह उनके जीवन में था, उसी तरह उनके साहित्य में भी प्रतिध्वनित और प्रतिबिम्बित हुआ। 'कुरुक्षेत्र' में हिंसा और अहिंसा का, 'रश्मिरथी' में कुलीनता और अकुलीनता का, 'उर्वशी' में काम और आध्यात्म का द्वन्द्व काव्यात्मक ढंग से व्यक्त हुआ। दिनकर ने मजहबी संकीर्णता पर चोट की तो दूसरी ओर 'संस्कृति के चार अध्याय में सामाजिक संस्कृति का समर्थन किया। चीन के आक्रमण के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ओजस्वी वीर स्वर मुखरित हुआ, तो 'हारे को हरिनाम' में संघर्ष से टूटे हुए व्यक्ति का हताश स्वर है।

दिनकर जी की द्वन्द्वात्मक पारिवारिक स्थिति और सामाजिक स्थिति ही दिनकर के काव्य में द्वन्द्वात्मक कृति बनी।

द्वन्द्व आशय और स्वरूप के अन्तर्गत–द्वन्द्व का सामान्य आशय, विभिन्न अभिमत और उनका विश्लेषण, द्वन्द्व निकटवर्ती सन्दर्भ में द्वन्द्व और संघर्ष, द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व, द्वन्द्व और अन्तर्विरोध, द्वन्द्व और विरोध और द्वन्द्व का समग्र स्वरूप विश्लेषित किया गया है।

द्वन्द्व का आशय लड़ाई झगड़ा व संघर्ष से है। लड़ाई, झगड़ा व संघर्ष दिनकर का पत्नी व बड़े पुत्र रामसेवक से ही अत्यधिक था जिसने उनके मन को सारे जीवन चैन की सांस नहीं लेने दी। द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व उनका अपने इष्ट मित्रों व कवियों से था जो दिनकर को सदैव पीठ में छुरा

भोंकते रहे। अन्तर्विरोध दिनकर का मानसिक था। विचारधाराओं का अन्तर्विरोध था। काम और आध्यात्म का अन्तर्विरोध, हिंसा और अहिंसा का अन्तर्विरोध था।

दिनकर का कवि ह्रदय कभी तो जीवन की विषमता से समाहूत हो उठता है, कभी उसके माधुर्य और आनन्द से पुलकित, प्रफुल्लित क्षणभंगुर जीवन, अस्थिर एवं परिवर्तन शील यौवन से इन्हें कभी एक संदेश मिलता है तो कभी सृष्टि के अनादि प्रवाह जीवन–क्रम से परमत्तत्व की जिज्ञासा की प्रेरणा; इस द्वन्द्वात्मक अनुभूति का करूण मधुर चित्रण कवि का अभीष्ट है।

'उर्वशी' में पुरुरवा के रूप में दिनकर जी के अतृप्त काम के द्वन्द्वात्मक भाव झलकते हैं।

द्वन्द्व समग्र स्वरूप के अन्तर्गत दिनकर की कृतियों में व्यक्त राग और विराग का द्वन्द्व, कर्म और पलायन का द्वन्द्व, आस्था और अनास्था का द्वन्द्व परिभाषित किया गया है।

वास्तव में राग और विराग का द्वन्द्व के अन्तर्गत: आकर्षण और विकर्षण, अभाव और निषेध के कारण ही दिनकर का झुकाव रसबन्ती की ओर गया। श्रृंगार की मादकता, कामनी का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचता है, पर संस्कार में ठूँस–ठूँस कर भरा हुआ संसार की अनित्यता और नश्वरता का विश्वास उन्हें पुनः पीछे को ढकेलता है।

कर्म और पलायन के द्वन्द्व के अन्तर्गत पलायनवादी स्वर की तुलना में कर्मवाद का स्वर इतना प्रबल नहीं है जितना विराग की तुलना में राग

का। संसार की नश्वरता, विफलता, कटुता और विषमता के निराशावादी स्वर आशावादी कर्मवाद के स्वर से कहीं अधिक मुखर और प्रखर है। द्वन्द्व के अन्तर्गत दिनकर का कर्मवाद परिपक्व और प्रौढ़ नहीं हो सका है। यहाँ पलायन से कर्म की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया विचार मूलक ही अधिक है।

आस्था और अनास्था के द्वन्द्व दिनकर के काव्य में दो स्थान पर दृष्टगत हुए हैं। पहला जीवनगत आस्था–अनास्था तथा दूसरा ईश्वरगत आस्था–अनास्था।

आस्था का भाव, अलौकिक और नैसर्गिक के प्रति विस्मय भाव है और यह विस्मय आस्था पर ही टिका हुआ है; परन्तु आगे चलकर इस अव्यक्त विराट सत्ता के प्रति दिनकर के मन में उपालम्भ और आक्रोश के भाव ही अधिक जागते हैं। सृष्टि–निर्माण के दार्शनिक विस्वासों के प्रति उसमें एक अनास्था है; संसार के उद्देश्यहीन अस्तित्व के प्रति खीझ है। संस्कार से दिनकर आस्तिक हैं अवश्य, पर दार्शनिक तर्कों पर विश्वास नहीं है।

यह द्वन्द्व दिनकर के निजी संस्कार और तर्क–बुद्धि का है। दिनकर के काव्य का संक्षिप्त परिचय के अन्तर्गत चार प्रबन्ध काव्य –प्रणभंग, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी और उर्वशी का संक्षिप्त परिचय है। ये चारो प्रबन्ध काव्य पौराणिक गाथाओं से लिये गये है और शेष 21 काव्य संग्रह हैं। तीन बाल काव्य हैं।

रेणुका दिनकर की प्रारम्भिक कृति है, उसकी मिट्टी में कहीं

'हुंकार' की जड़ें जमीं हैं; कहीं 'रसबन्ती', कही 'द्वन्द्वगीत', कहीं 'सामधेनी' और कहीं 'कुरुक्षेत्र' समाया हुआ है।

रसबन्ती की रसिक रचनायें हृदयकली को प्रफुल्लित करने वाली हैं। वास्तव में 'रसबन्ती' की कवितायें पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इससे पूर्व अपने हृदय मे श्रृंगारिक भावों का दमन किये बैठा था, जो फूटना चाहते थे व समयानुरूप इनगीतों में प्रस्फुटित हो गए।

द्वन्द्वगीत में लिखित कविताओं में एक लम्बा समय होने के कारण प्रसाद जी के 'आँसू' तथा बच्चन की 'मधुशाला' जैसा विचार, तारतम्य नहीं, हाँ छन्दगत एकता अवश्य है। इसके विपरीत उनमें विचार व भाव दृष्टि से वैविध्य है। उसमें एक ऐसे व्यक्ति की संवेदना है जो बहुधा खिन्न, विचारशील और द्वन्द्वग्रस्त है तथा विविध विषयों के सन्दर्भ में सोच है। कुरुक्षेत्र दिनकर का एक प्रबन्धकाव्य है। इस काव्य का मुख्य आधार महाभारत है। दिनकर ने अतीत के सुन्दर ढाँचे में वर्तमान की व्यथा–कथा को ढालकर आधुनिक जीवन मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन किया है, जिसके अंक में गांधी के अहिंसक आँसुओं की नही, अपितु रसेल और तिलक के उग्र कर्मवाद की छाप है।

सामधेनी के मुख्यभाव 'हुंकार' की भाँति ही हैं जो राष्ट्रीय व सामाजिक हैं। लेकिन इसमें 'हुंकार' जैसा आक्रोश, ओज और वेग नहीं हैं। 'सामधेनी' नाम समिधा से उत्पन्न है जिसमें कवि कविता रूपी संग्रह से देश के क्रान्तियज्ञ में अग्नि प्रज्ज्वलित करना चाहता था।

'बापू' में दिनकर ने महात्मागांधी के निधन से उत्पन्न अपने मन की व्यथा को व्यक्त किया है। दिनकर ने क्रान्ति और युद्ध से दूर हट कर

शान्तिपूर्वक दूत बनाकर 'बापू' की रचना की।

'इतिहास के आँसू' मुक्तक काव्य संग्रह में दिनकर ने दस ऐतिहासिक कविताओं का संकलन किया है।

'धूप और धुआँ' मुक्तक काव्य में दिनकर ने 1947 के बाद की कविताओं का संग्रह किया है। स्वराज्य से फूलने वाली आशा की धूप और उसके विरूद्ध जन्में हुए असन्तोष का धुआँ, ये दोनो ही इन रचनाओं में यथा स्थान प्रतिबिम्बित हैं। इस संग्रह की समस्त कविताएँ स्वतन्त्रता, राष्ट्रहित, राष्ट्र–पिता एवं बलिदानी वीरों के प्रति श्रद्धान्जलि तथा सेनानी वीरों के प्रति उनकी वीर भावना विषयों से सम्बन्धित है। अतः यह एक तृषित धारा का पावन गीत है।

रश्मिरथी प्रबन्ध काव्य प्रबन्ध की दृष्टि से 'कुरूक्षेत्र' की अपेक्षा अधिक पुष्ट है और सशक्त है। इसकी कथावस्तु में चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। इसमें कवि का कथ्य, प्रतिपाद्य, विचार, सन्देश और मानवतावादी आदर्श अत्यन्त मूर्तिमान हुआ है।

दिल्ली मुक्तक काव्य में दिनकर ने दिल्ली के प्रति समय–समय पर लिखी हुई चार कविताएँ संग्रहीत की हैं। दिनकर जी स्वतः एक कांग्रेसी थे। फिर भी उन्होंने कांग्रेसी सत्ताधारियों को सचेष्ट किया। यही 'दिल्ली' कृति की एक विशेषता है। 'नीम के पत्ते' मुक्तक काव्य में दिनकर ने देश के राजनीतिक नेताओं पर अनेक व्यंग्यात्मक कवितायें लिखी हैं।

'नीलकुसुम' मुक्तक काव्य 40 कविताओं का एक संग्रह है। यह चार भागों में वितरित है। 1– युग प्रेरित शान्तिवादी तथा मानवता वादी रचनायें हैं। 2. विचार प्रधान, सामाजिक और व्यक्तिवादी रचनायें हैं। 3. जिज्ञासा–प्रेरित

दार्शनिक रचनायें हैं। 4. स्फुट कल्पना प्रधान, श्रृंगारिक रचनाएं हैं।

'चक्रबाल' मुक्तक काव्य में समय–समय पर रचित कविताओं की चयनिका है।

'सीपी और शंख' में 44 मुक्तक कविताओं का संग्रह है। दिनकर सेक्स को पाप नहीं मानते हैं। वह तो नर–नारी के मध्य बहने वाला कोमल प्रवाह हैं; दिनकर की धारणा है कि मन को संयत रखने पर, वृत्तियाँ भी निर्मल रहती हैं; विषय से सम्बन्धित रचनाएँ इस मुक्तक काव्य में संग्रहीत हैं।

'नए सुभाषित' मुक्तक संग्रह में सौ विषयों पर दो सौ पद हैं। इनमें प्रेम और सौन्दर्य पर लिखे मुक्तक हैं।

'उर्वशी' प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु वैदिक कालीन है। दिनकर की यह कृति कामाध्यात्म है। दिनकर का मन अतृप्त काम–वासना के फलस्वरूप किसी कल्पित नारी के यौवन का आनन्द लेने के निमित्त उर्वशी का दिनकर के मस्तिष्क में जन्म हुआ। उर्वशी के प्रेमी पुरूरवा स्वयम् दिनकर जी हैं। उर्वशी से काव्य के माध्मय से शारीरिक भोग की पूर्ति कल्पना जगत में करते हैं। दिनकर काव्य के माध्यम से उर्वशी से पुररूवा बनकर भोग भी भोगकर आनन्द की अनुभूति करते हैं। 'उर्वशी' का कामाध्यात्म दिनकर की सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' मुक्तक काव्य में चीन के आक्रमण के पश्चात् की गई कविताओं का संग्रह है। सभी नवीन कविताओं में चीन के आक्रमण से उत्पन्न कवि की हार्दिक प्रतिक्रिया ही व्यक्त हुई हैं। ये कविताएँ

राष्ट्र–प्रेम से सम्बन्धित वीर रस की संग्रहीत कविताएँ हैं।

''कोयला और कवित्व'' मुक्तक काव्य दिनकर के घूमते आयुवृत्त के समय रचित है। 'रसबन्ती' में दिनकर के जिस सरल व्यक्तित्व का उदय हुआ, वह धीरे–धीरे यथार्थ की ओर झुक गया, जिसमें नर–नारी के शाश्वत स्वरूप की परख हुई। बाद में यही भाव 'कोयला और कवित्व' में आध्यात्म की ओर झुका जिसमें निर्वेद की झलक आने लगी।

''मृत्ति तिलक'' मुक्तक काव्य में वर्तमान काल के महर्षियों के प्रति श्रृद्धा प्रदर्शन सम्बन्धी, राष्ट्र–प्रेम सम्बन्धी, सत्कामना–प्रकाशिनी, पत्रात्मक और कुछ अन्य भाषा–भाषी कविताओं की काव्य रचनाओं का अनुवाद है।

''आत्मा की आँखें'' नामक संग्रह में दिनकर की मौलिक की तरह दिखने वाली अनुदित कविताएँ हैं। इन कविताओं में दो मूल भावों–काम तथा व्यवहार अथवा प्रगतिवाद के प्रसंग में हैं।

''हारे को हरिनाम'' मुक्तक काव्य में पुरूषार्थ के विघटन की कहानी है। ये वे ही कविताएँ हैं जिनमें प्रिय के द्वारा तोड़े गए विश्वास की पीड़ा से तिलमिलाया हुआ कवि प्रभु की शरण में जाकर उनकी करूणा से अपने अभावों को भर देना चाहता है।

बाल साहित्य– के अन्तर्गत 'धूप छाँह' 'चित्तोर का साका', 'मिर्च का मजा', 'सूरज का व्याह' काव्य संग्रह हैं। मुक्तक काव्य और प्रबन्धकाव्यों की रचनायें रचने वाले ने बाल काव्य की उक्त रचनायें भी की हैं। इन कविताओं में मौलिकता है तथा भाषा इनकी अत्यन्त सरल है। इनमें बालकों को अच्छी सीख दी है।

दिनकर के पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों पर आश्रित काव्य में द्वन्द्व के अन्तर्गत दिनकर ने चार पौराणिक प्रबन्ध काव्यों–प्रण भंग, कुरूक्षेत्र, रश्मिरथी और उर्वशी की रचना की है।

दिनकर स्वभाव से आस्तिक कवि हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके ह्रदय में सम्मान और आस्था का भाव है। पारिवारिक कलह, सामाजिक शोषण, असमानता, ऊँच–नींच का भेदभाव, राजनैतिक विफलताओं ने उनके मस्तिष्क को द्वन्द्वात्मक बना दिया था। दिनकर का द्वन्द्व परिवार, सरकार व समाज से था। इसी कारण दिनकर ने पौराणिक सामग्री का उपयोग अपनी मानसिक परिस्थिति के अनुरूप किया है।

प्रणभंग एक लघु काव्य है। इसमें उस विचार के बीज विद्यमान हैं, जिसका वृक्ष 'कुरूक्षेत्र' के रूप में हमारे सम्मुख आया। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। श्रीकृष्ण के महल में दुर्योधन और अर्जुन के मध्य श्री कृष्ण ने सहायता रूपी बटवारे में निहत्थे श्री कृष्ण अर्जुन को और सारी सशस्त्र सेना दुर्योधन को दी। भीष्म पितामह ने प्रण किया था कि कृष्ण को मैं शस्त्र ग्रहण करा दूंगा। कथा यहीं तक शस्त्र ग्रहण करने तक चलती है। 'प्रण–भंग' के रचना काल में दिनकर के मस्तिष्क में युद्ध निंदित व क्रूर कर्म है इस प्रकार का विचार था। दिनकर का युद्ध के प्रति द्वन्द्वात्मक विचार था, कि युद्ध भाई–भाई को लड़ाते हैं। उनके सत्यानाश का कारण बनता है। युद्ध में खून–खराबा, आहतों की चीत्कार ही सर्वत्र व्यापती है।

दिनकर का एक और मुख्य विचार था कि सामन्तवाद तथा साम्राज्यवाद दोनों शासन परम्पराओं के मध्य भारतीय जनता विशेषकर बिहार की जनता त्रस्त थी।

दिनकर में इन अत्याचारों को सहने तथा अहिंसा की दुहाई देने की सामर्थ्य नहीं थी। उसके अन्तर में ज्वाला थी, प्रचण्ड प्रतिशोध की। समाज की ऐसी दयनीय अवस्था में उसे गांधी और उसके प्रतीक युधिष्ठिर पसन्द नहीं थे। उसे रूचे थे तिलक व उसके प्रतीक अर्जुन व भीम जो इस कुव्यवस्था को बल पूर्वक उखाड़ फेंकने के लिए अधीर थे। गांधी के प्रतीक युधिष्ठिर का युद्ध की विभीषिका को देख शान्ति की बात करना दिनकर को भाया नहीं। शोषण और अत्याचारों की इस घोर परम्परा में गांधी की अहिंसा की बात करना, दिनकर की दृष्टि में स्वजन हित कामना नही, अपितु अपने शत्रु को बढ़ावा मात्र देना है। काव्य के अन्तिम चरण में दिनकर में एक दार्शनिक रूप का भी अंकुरण होता है। वह गीतों को आध ार मान, कर्म का प्रबल अनुयायी बनने का प्रयत्न करता है। मोह वह भी युद्ध में व्यर्थ की बात समझता है।

जनता के हितार्थ कृष्ण ने अपना प्रणभंग कर दिया कि ''मैं शस्त्रग्रहण नहीं करूंगा'। इस कारण गांधी जी को आन्दोलन में कहीं कहीं हिंसा का पुट आ जाने के कारण आन्दोलन वापस नहीं लेना चाहिये। उन्हें अपना अहिंसा का व्रत तोड़ देना चाहिये।

दिनकर हीनता ग्रन्थि को प्रतिशोध के द्वारा समाप्त कर देना चाहते थे। प्रतिशोध से पापाचार समाप्त होता है। शान्ति स्थापित होती है।

जीवन की खीझ अपने जीवन की अन्तदृष्टि में लेकर दिनकर ''कुरूक्षेत्र'' में उतरे थे।

दिनकर की दृष्टि में प्रेम ही जीवन का उत्कर्ष है, जिसकी अनुपस्थिति में जीवन नीरस हो जाता है, मर जाता है। दिनकर के भीष्म के हृदय में

अतृप्त काम का द्वन्द्व था। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो दिनकर का भीष्म युद्ध में लड़ने नहीं–अपितु एक प्रकार से किसी न किसी भाँति अपने जीवन की खीझ, अपने जीवन की अन्तर्दृष्टि में लेकर आया था।

दिनकर की मनोवृत्तियाँ निवृत्तिमार्गी नहीं अपितु प्रवृत्ति मार्गी हैं। उनके अनुसार संसार की सभी सांसारिक वस्तुएँ भोग की सामग्री हैं, उनसे मुक्ति पाना अनुपयुक्त है। ज्ञानमयी निवृत्ति से चिन्ताओं का ह्रास नहीं होता और नही संसार को छोड़ने में इच्छाओं का समाधान है, अपितु मानसिक तुष्टि, शारीरिक पुष्टि से ही प्राप्त होती है। जो वस्तु शरीर को प्राप्त नहीं उसी से मन को चिन्ता होती है, वही द्विधा का कारण बनती है। अतः दिनकर की भोगवादी वृत्ति ही भोगवादी द्वन्द्व है।

क्रोध दिनकर की मनोवृत्ति थी। प्रतिशोध का आधार ही क्रोध है। प्रतिशोध से पौरूष का विकास होता है।

दिनकर सरकार के हाँथों बिके थे। मनुष्य इसी कारण सत्य और न्याय का पक्ष भी खुलकर नहीं ले पाता। दिनकर के विवश आँसू हमें भीष्म की आँखों में दीख पड़ते हैं।

दिनकर भाग्यवाद के विरोधी और पुरूषार्थ के समर्थक हैं। ''रश्मिरथी'' में दिनकर ने कर्ण के माध्यम से भाग्यवाद का विरोध और पुरूषार्थ का समर्थन किया है। दिनकर का विश्वास था कि उद्यम, पौरूष में विधि के अंक, किस्मत के पाँशे तक को पलट देने की क्षमता निहित है।

फ्रायड की भाँति दिनकर भी काम को ही परम पुरूषार्थ मानते थे। उनका मत था कि जीवन की गति धर्म से नहीं, अपितु काम से ही है। इसीलिए काम ही धर्म के स्थान पर मनुष्य का पुरूषार्थ है।

दिनकर के काम रूपी मानसिक द्वन्द्व ने कामाध्यात्म की उत्पत्ति की। ''उर्वशी'' में दिनकर ने कामाध्यात्म की रचना की है। दिनकर नारी से 'नानारव' से आक्रान्त मानव थे। इन्द्रियों के सुखों से उठी नाना–ध्वनियों को वे शरीर की शिराओं से पीते थे और उससे आगे किसी अव्यक्त अमूर्त आनन्दलोक में वे जीते थे। समाधि में मनुष्य की बृद्धि तथा मन की चंचलता दोनो स्थिर और प्रायः लुप्त हो जाती है। वह समाधि की स्थिति मे खोया हुआ अबोध रहता है। आत्मा की यह अबोध निर्लिप्त अवस्था तथा मन का स्थितिप्रज्ञ होना अथवा करना ही तो आध्यात्मवाद का अभीष्ट विषय है काम की परिणति भी वही अवस्था है, जिसमें मनुष्य अबोध स्थिति में पहुंच मन को विश्रान्त कर लेता है। दिनकर के अनुसार–अगर यही मन शान्ति प्राप्त कर मनुष्य को अबोधावस्था में छोड़ दे, तो बुरा क्या है? यही वह अनुभूति है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य स्वयम्भू अथवा शिवोहम् की समाधि से स्वयम् को विभूषित समझता है, जहाँ उसकी आत्मा परमात्मा से अंश मात्र ही नहीं, उसी में एक रूप हो जाती है।

दिनकर की पत्नी और प्रेयसी का द्वन्द्व–दिनकर की प्रेमिका पुरूरवा की प्रेमिका उर्वशी का रूप लेकर उभरी और दिनकर की पत्नी का रूप लेकर पुरूरवा की पत्नी ओशीनरी का ''उर्वशीकाव्य'' में पदार्पण हुआ। दिनकर के प्रबन्ध काव्य के कथानक प्राचीन पौराणिक हैं परन्तु उनके पात्रों में दिनकर की मानसिकता का पुट है, जो दिनकर के चरित्र का प्रतिपादन करती है। दिनकर द्वन्द्व के कवि थे। परिवार से द्वन्द्व, पत्नी से द्वन्द्व, सरकार से द्वन्द्व, सवर्णो से द्वन्द्व, सामन्तों से द्वन्द्व रहा है। उसी के अनुरूप उन्होंने पौराणिक पात्रों के मुख से इन्हीं द्वन्द्वात्मक स्थितियों का

निराकरण किया है।

दिनकर का शिल्पात्मक प्रयोगपरक द्वन्द्व के अन्तर्गत भाषा—चूंकि दिनकर के वैचारिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के द्वन्द्व थे। इस कारण दिनकर की भाषा भी स्थान—स्थान पर उसी के अनुरूप होती चली गई। दिनकर के लिये भाषा मात्र माध्यम नहीं है। वह उनकी कविता की वक्तृत्व शक्ति की भी वाहक थी। छायावादी कवियों की सघन और पारदर्शी भाषा की प्रतिक्रिया में दिनकर द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और छायावादी सुकुमारता दोनों का खमीर लेकर भाषा के क्षेत्र में आये। इसीलिए वे भाषा के क्षेत्र में प्रयोगधर्मी माने जांयेगे।

उर्वशी में काम का द्वन्द्व था। इसी से दिनकर के काव्य में कामाध्यात्म उत्पन्न हुआ। काम को मानवीय शक्ति के रूप में चित्रांकन को कामरूपी चालू शब्दों का प्रयोग न कर तत्सम—बहुल भव्य भाषा का प्रयोग किया है। कुरूक्षेत्र में दिनकर की भाषा सहज गतिमयी प्रसाद पूर्ण हो गयी। 'रसबन्ती' में दिनकर ने मधुर शब्दावली का प्रयोग किया है। नये सुभाषित तथा एनार्की जैसी कविताओं में चालू भाषा का प्रयोग किया। दिनकर किसी भी परिस्थिति पर तुरन्त प्रतिक्रिया करते हैं। उनकी कविता उन्हीं प्रतिक्रियाओं का कलात्मक प्रतिफलन है।

दिनकर जी ने छायावाद की लाक्षणिक शैली के दूरान्तय, अस्पष्टता और अत्यधिक साँकेतिकता समर्थ भाषा का निर्माण किया जिसके कारण छायावाद परवर्ती कवियों में दिनकर का स्थान शीर्ष पर रखा जाता है।

बिम्ब विधान के बारे में दिनकर जी के विचार—''कहानी में जो स्थान मनोविज्ञान का है, कविता में वही स्थान चित्र को दिया, जाता है।''

सर्वाधिक रमणीय बिम्ब 'उर्वशी' में मिलते हैं। जब उनकी प्रेयसी दिवा स्वप्न लोक में आकर बसती थी, उसी समय दिनकर की 'उर्वशी' पर कलम चलती थी। वस्तुतः 'उर्वशी' की बिम्ब योजना अत्यन्त समृद्ध है, विराट और कोमल, उदात्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है।

प्रतीक विधान का उपयोग दिनकर ने उतना नहीं किया जितना छायावादी काव्य में मिलता है।

'कुरुक्षेत्र' की प्रतीकात्मकता उसके चरित्रों को लेकर है। भीम 'यथार्थोन्मुख न्याय भावना' के, युधिष्ठिर अहिंसा के प्रतीक थे।

'रश्मिरथी' में कर्ण को कलंकित मानवता का मूक प्रतीक माना है। 'उर्वशी' में दिनकर का प्रतीक पुरूरवा है। अतृप्त काम के प्रतीक दिनकर ने अपने द्वन्द्वात्मक विचार के अनुरूप पुरूरवा को उत्पन्न किया।

काव्य रूप दिनकर की रचना धर्मिता की प्रौढ़ता के मूल्यांकन का एक महत्वपूर्ण आधार है।

पौराणिक प्रबन्धकाव्यों में दिनकर ने परिपाटी की लीक को छोड़कर अपने द्वन्द्वात्मक विचारों के अनुरूप काव्य रूप को स्वीकार किया है।

छन्द विधान के अन्तर्गत दिनकर की विशेषता थी कि अन्तस के उमड़ने वाले भावों की अभिव्यक्ति में दिनकर ने लय और स्वर का संयोजन किया जिससे उसमें प्रेषणीयता बढ़ गयी। दिनकर ने ब्रज भाषा के कवित्व और सवैयों से जुड़ी सुकुमारता का परिहार करके अपने दिनकरीय ओज और वैचारिक गरिमा को अभिव्यक्ति प्रदान की। दिनकर ने नवीन छन्दों का निर्माण किया है।

जिनको दिनकरीय छन्द भी कह सकते हैं। परन्तु इन छन्दों की लय परम्परागत है किन्तु छन्द का विस्तार और संकोच दिनकर का अपना है। सूक्तियों का बहुत सुन्दर प्रयोग दिनकर ने किया है। इस प्रकार दिनकर को हम सहज ही एक नवीन काव्यभाषा का विधायक मान सकते हैं।

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में द्वन्द्व के अन्तर्गत अध्याय को दो भागों में वितरित किया है। समसामयिकता से प्रेरित राष्ट्रीयता और द्वन्द्व और भाषिक प्रयोग धर्मी द्वन्द्व।

राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी होने का सुयश दिनकर को 'हुंकार' के प्रकाशन पश्चात प्राप्त हुआ। दिनकर ने अपने काव्यों में सर्वप्रथम सामयिक जीवन की चुनौती को न केवल स्वीकार किया बल्कि उसका एक प्रभावशाली उत्तर भी दिया। कवि दिनकर अपने वर्तमान कालिक संघर्ष से प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि देश की वर्तमान दशा पर आकृष्ट होती है। दिनकर नये युग के निर्माण हेतु क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का जितना सुन्दर निरूपण दिनकर के काव्य में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं। उन्होंने दक्षिण पंथी और उग्रपंथी दोनों धाराओं को राष्ट्रीय आन्दोलन में काव्य बद्ध किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति पश्चात भी दिनकर युग धर्म से जुड़े रहे। दिनकर ने अनुभव किया कि स्वतन्त्रता उस व्यक्ति के लिए नहीं आई जो शोषित है, पीड़ित है; बल्कि उपभोग तो वे लोग कर रहे हैं जो सत्ता के केन्द्र में हैं। दिनकर ने नेताओं पर करारे व्यंग्य किये।

अतीत और वर्तमान के बीच दिनकर तनाव ग्रस्त (द्वन्द्वात्मक) रहें

हैं। प्राचीन भारत सोने की चिड़िया और आधुनिक अभावों में जीता भारत उनके समक्ष नाचता रहा।

दिनकर को समसामयिक परिस्थितियों के प्रति असन्तोष ने उन्हें द्वन्द्वात्मक भावों की ओर ढकेल दिया। इसी कारण दिनकर का राष्ट्रीय काव्य आवेग मूलक बन गया।

वे वर्तमान समस्याओं का निदान आतंकवाद में मानते हैं किन्तु उनके आतंकवाद पर गांधीवादी अहिंसा का अंकुश है। वे विध्वंश चाहते हैं किन्तु उसे आपद्धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं।

भारतीय संस्कृति से प्रभावित दिनकर ने नगपति हिमालय का मानवीकरण किया। वह निष्क्रिय, प्रतिक्रियाहीन जनमानस का प्रतीक है। दिनकर के मन में अछूतोद्धार का भाव समाहित था। इसी के कारण दिनकर में द्वन्द्वात्मक समाहित हुआ। उन्होंने पौराणिक पात्रों को अपने द्वन्द्वात्मक भावों के अनुरूप प्रस्तुत किया।

दिनकर अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों को समझते हुए भारत की स्वतन्त्रता के लिए कभी गरमदल और कभी नरमदल के द्वन्द्वात्मक भाव को लेकर अग्रसर थे। दिनकर क्रान्ति का उद्घोष करने में गरमदल के साथ थे परन्तु दिनकर के मस्तिष्क में 'बुद्ध' भी समाये हुए थे।

दिनकर राष्ट्रीय आन्दोलन की हूबहू घटनाओं को काव्य में स्थान देते आये हैं। दिनकर जी साम्राज्यवाद के साथ साथ सामन्तवाद के भी विरोधी रहे हैं। वे राष्ट्रवाद को विश्व–मानवता के प्रसार में बाधक मानते थे। दिनकर का युद्ध के प्रति द्वन्द्वात्मक भाव ही ने राष्ट्रवाद के संकुचित

दृष्टिकोण का विरोधी बनाया जो राष्ट्र और राष्ट्रीतया को कुछ भौगोलिक सीमाओं में बांधकर मानवतावाद या अन्तर्राष्टीयतावाद का एकान्त निषेध करता है। इसी कारण दिनकर राष्ट्रीयता की सीमाओं को लांघकर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थक बन जाता है।

भाषिक प्रयोग धर्मीद्वन्द्व के अन्तर्गत दिनकर ने व्याकरणिक भाषा का उपयोग नहीं किया है। क्लिष्ट शब्दों का उपयोग तो किया है, जो भावों के अनुरूप चल सकें, उन्हीं का प्रयोग किया है।

दिनकर जी समर्थ शब्द शिल्पी है। उनके काव्य में शब्दों की कोई परिधि निर्धारित नहीं की जा सकती। वे तत्सम्, तद्भव, विदेशी आदि की सीमा रेखाओं में नही बंधते बल्कि शब्द चयन में सीमाओं को अतिक्रमण से एक नवीन काव्य भाषा का निर्माण करते हैं। वे अपने भावों की प्रबलता के अनुरूप शब्दों को खोज लाने में सिद्ध हस्त हैं।

दिनकर ने मूर्तिकरण की इस प्रक्रिया के बीच कहीं–कहीं लक्षणा और व्यंजना का सुन्दर उपयोग करते हुए स्पृहणीय पारदर्शिता अर्जित की है। उनकी लक्षणा पृथ्वी–आकाश को मिलाने का काम नही करती बल्कि जग–जीवन से सम्बन्धित विषयों को अपने में बांधकर उन्हें सुन्दर बना देती है। वे लक्षणा का प्रयोग काव्यानुभव को तीव्र बनाने के लिए करते हैं।

दिनकर ने हिन्दी कविता को कोई नया मुहावरा नहीं दिया किन्तु परम्परागत मुहावरों की तरह सटीक और सार्थक मुहावरों का उपयोग किया।

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में अलंकारों के उपयोग में उन पर

परम्परा का प्रभाव अधिक रहा है। दिनकर ने अलंकारों को अपना साधनमाना साध्य नहीं। दिनकर जी साधारणीकरण के उद्देश्य की पूर्ति में सादृश्यमूलक उपमादि अलंकारों में अलंकार–विन्यास की सफलता की एक महत्वपूर्ण कसौटी हैं।

बिम्ब–विधान में दिनकर ने राष्ट्रीय काव्य के अन्तर्गत परम्परागतबिम्बों का ही प्रयोग किया है। दिनकर अपनी भाषा के आवेग–तत्त्व में बिम्बों को इस प्रकार एकात्म कर लेते हैं कि ये बिम्ब बासे मालूम नहीं पड़ते।

छन्द विधान की दृष्टि से दिनकर ने परम्परा का ही अनुसरण किया है। यद्यपि उन्होंने यत्र–तत्र छन्दों के बन्धन को तोड़ने का उपक्रम किया है किन्तु वे अन्ततः पुराने छन्दों में ही अपनी दिनकरीय क्षमता को व्यक्त करपाते हैं। दिनकर का छान्दिक गति पर अचूक अधिकार है। दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में जो आवेग है, प्रभाव का जो नुकीलापन है उसमें अनेक छन्दों के चयन एवं छान्दिक गति की भी अपनी भूमिका है।

दिनकर के अन्य स्फुट काव्य रचना धर्मिता में द्वन्द्व के अन्तर्गत परम्परा और आधुनिकता बोधीय द्वन्द्व एवं शैल्पिक रचना धर्मी द्वन्द्व का विश्लेषण किया है।

परम्परा और आधुनिकता बोधीय द्वन्द्व–दिनकर सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। आस्तिक हैं। मर्यादाओं से बंधे थे। दिनकर प्रेम–सौन्दर्य परक रचनाओं के प्रणयन में छायावादी गोपनशीलता को दिनकरीय सहज विश्लेष्य आवेग का ताप प्रदान करते चलते हैं।

प्रेम और सौन्दर्य परक काव्य में दिनकर ने केवल अपनी अनुभूतियों

को ही काव्यवद्ध नही किया, बल्कि प्रेम सौन्दर्य, काम, नारीत्व पर अपने दृष्टिकोण को भी अभिव्यक्ति दी है। विशेष रूप से काम की विवेचना उन्होंने बहुत ही विस्तृत रूप से की है। आज के मनुष्य की अपराधिक वृत्तियों के पीछे अतृप्त काम की कुण्ठा भी काम करती है।

भारतीय काम विषयक चिन्तन आदर्शमूलक रहा है। ऋषियों ने अनैतिक शारीरिक सम्बन्धों को कभी भी समर्थन नहीं दिया। दिनकर ने 'काम' के अर्थ—विकास की पूरी परम्परा का उपयोग किया है। दिनकर काम—दर्शन का परम्परा—समर्थित और कामाध्यात्म रूपी काव्यात्मक उपयोग करते हैं। दिनकर जी के विचार से—काम की ये जो निराकार झंकृतियाँ हैं, वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाएँ स्पर्श के द्वारा, सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं, वह अधूरा और अपूर्ण है। पूर्णता पर वह तब पहुंचता है, जब हम सौन्दर्य के निदिध्यासन अथवा समाधि में होते हैं।

पारिवारिक संघर्षों, मित्रों और स्वजनों की स्वार्थ परकता ने दिनकर के हृदय पर गहरा आघात किया है। सारा जीवन द्वन्द्व में जीने वाला दिनकर जीवन के अन्तिम क्षणों में टूट—गया। 'हारे को हरिनाम' में दिनकर ने 'रेणुका', 'हुंकार' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' की आवेग धर्मिता और 'नीलकुसुम' तथा 'कोयला और कवित्व' की बौद्धिकता से बचकर संतुलित रूप से अपनी कातरता को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

''हारे को हरिनाम'' में दिनकर का दयनीय भाव उन्हें भक्ति—काव्य की परम्परा से सीधे जोड़ता है। दिनकर ने आराध्य के प्रति निःस्वार्थ समर्पण और अपनी तुच्छता की अभिव्यक्ति की है।

दिनकर ने भेद में अभेद की स्थापना की है ऐसा करते समय

दिनकर ने सगुण और निर्गुण के भेदों का निषेध किया है।

दिनकर ने अपनी वैयक्तिक वेदना को पूरे विश्व की वेदना से जोड़ने का प्रयत्न किया है।

शैल्पिक रचना धर्मी द्वन्द्व— के अन्तर्गत भाषा न तो रेणुका, हुंकार और परशुराम की प्रतीक्षा की भाँति आवेग धर्मी है और न रसबन्ती एवं उर्वशी की भाँति उसमें सुकुमारता विद्यमान है। नील कुसुम, कोयला और कवित्व की भाँति यहाँ भाषा में शिल्प की अतिरिक्त सजगता ही उपलब्ध होती है। निरन्तर संघर्षों से टूटा कवि अपने काव्यानुभव की अभिव्यक्ति के लिए एक नवीन काव्य–भाषा का निर्माण करता है।

दिनकर के शब्दचयन में तत्सम शब्दों का अनुपात सबसे कम है। पर तद्भव शब्दो का प्रयोग काव्यानुभव को विश्वसनीय बनाते हैं। उर्दू–फारसी शब्दों का भी मुक्त प्रयोग हुआ है। दिनकर ने भाषा की सादगी और स्वाभाविकता पर सर्वाधिक बल दिया है।

सूक्तियों का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। दिनकर की काव्य भाषा की विलक्षण सामर्थ्य को उनकी सूक्तियाँ सशक्त रूप से रेखांकित करती है।

बिम्बविधान–अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में दिनकर गुण और परिमाण में जितने श्रेष्ठ बिम्बों का उपयोग कर सके हैं, उतने श्रेष्ठ बिम्ब उनके स्फुट काव्य में उपलब्ध नहीं होते। 'उर्वशी' का पूरा का पूरा काम–सुख चित्रण, प्रतीकों, बिम्बों और अलंकारों के द्वारा किया गया है। चित्रात्मकता की यह विशेषता 'नीलकुसुम' और 'कोयला और कवित्व' की अनेककविताओं में विद्यमान है।

प्रतीक विधान में दिनकर का रूझान कम रहा है। दिनकर की आलोच्य प्रार्थनापरक रचनाओं में कवि सपाट बयानी में इस तरह आक्रान्त रहा है कि प्रतीकों को वह बहुत कम स्थान दे पाया है। दिनकर के प्रतीक जहाँ कहीं भी कौंधते हैं जीवन के शाश्वत सत्यों को बृहत्तर और संवेगात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

छन्द विधान— में दिनकर ने छन्दों की व्यवस्थाओं से स्वयं को मुक्त करने का प्रयत्न किया है पर तुक मिलाने के प्रति दिनकर का विशेष आकर्षण रहा है। उसे जहाँ कहीं भी अवसर मिलता है अन्त्यानुप्रास के लिये समय निकाल लेता है। दिनकर ने मात्रिक और वर्णिक छन्दों की परम्पराओं को छोड़ कर मुक्त छन्द को पूरी तरह स्वीकार किया है।

दिनकर के काव्य में विचारधारा और अन्तर्द्वन्द्व का सह सम्बन्ध के अन्तर्गत दिनकर हिन्दी कविता के वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि, उपभोक्ता मूलक संस्कृति के समर्थ प्रतिरोधक कवि, परम्परा के प्रति उपयोग परक दृष्टि के समर्थक कवि और प्रगतिशील और प्रयोगपरक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। हिन्दी कविता की वाचिक परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि कवि दिनकर— दिनकर जिस समय अंग्रेजी सरकार में सब रजिस्ट्रार के पद को सुशोभित कर रहे थे उस समय दिनकर के काव्य की युवावस्था थी। दिनकर जी अंग्रेजी सरकार के प्रति क्रान्तिकारी भाषण तो नहीं दे सकते थे। उन्होंने इस कमी की पूर्ति प्रबुद्ध नागरिकों की कवि गोष्ठियो में अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा स्वदेश प्रेम जगाकर की। इसमें 'हुंकार' ने सबसे अधिक सफलता प्रदान की। दिनकर जहाँ भी जाते उसी स्थान पर गोष्ठी का रूपक धारण हो

जाता था।

दिनकर ने पराधीनता की बेड़ियों को काटने के लिए रक्तरंजित क्रान्ति को देखकर विद्रोह का बिगुल फूंका, अन्याय एवं अत्याचार को चुनौती दी, संघर्ष के लिए यौवन को ललकारा, त्याग एवं बलिदान की भावनाएँ जाग्रत कीं। दिनकर ने कवि गोष्ठियों के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त गतिविधियों को अपने काव्य में अंकित करके जनजीवन में व्याप्त आक्रोश एवं क्षोभ को वाणी प्रदान की। जो क्रान्तिकारी दिनकर के यहाँ रूकते थे उन्हें अपनी लिखी हुई कविताएँ लिखकर जनता को सुनाने को दिया करते थे। क्रान्तिकारी उन कविताओ को गाँव–गाँव घूम कर ग्रामीणों में क्रान्ति की भावना भरते थे।

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति पश्चात दिनकर ने सरकारी नौकरी छोड़ दी। उन्मुक्त होकर अनेक काव्य समारोहों, कवि सम्मेलनों और कवि गोष्ठियों को जन्म दिया। आल इण्डिया रेडियो स्टेशनों पर काव्य समारोहों में दिनकर ने भाग लिया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि दिनकर जी स्वतः एक वाचिक परम्परा को अग्रसर करने वालों में एक थे। क्योंकि दिनकर जी जहाँ पहुँचते वहाँ कवि गोष्ठी का रूप बन जाता था, जहाँ ठहरते भोर कवि सम्मेलन हो जाता था।

उपभोक्ता मूलक संस्कृति के समर्थ प्रतिरोधक कवि दिनकर– आर्थिक जगत को प्रभावित करने वाले दो ही तत्व उत्पादक और उपभोक्ता हैं। उत्पादक पूंजीवादी संस्कृति से सम्बन्धित है और उपभोक्ता साम्यवादी संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। पूंजीवादी व्यवस्था का`समाप्ति की दिशा में और उपभोक्ताओं के शोषण को रोकने के लिए समाजवादी व्यवस्था का

सूत्रपात हुआ। दिनकर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण चाहते थे, जिसमें न वर्ग–भेद हो और न सामन्तवादी परम्परा हो।

इसी कारण दिनकर ने साम्यवादी परम्परा का आह्वान किया; परन्तु उस व्यवस्था को मूल रूप में स्वीकार नहीं किया।

दिनकर ने साम्राज्यवादी और सामन्तवादी शासन के मध्य भारत विशेषकर बिहार की जनता को अपनी आंखों से पिसते हुए देखा था। इसकारण दिनकर उग्रता की ओर अग्रसर हुए। प्रचण्ड प्रतिशोध का भाव था।

शोषण और अत्याचारों से पीडित हृदय को गांधीरूपी युधिष्ठिर पसन्द नहीं आये। भीम और अर्जुन के द्वारा वीर वाणी उद्घोषित की। 'कुरुक्षेत्र' की रचना दिनकर की इसी सामन्तवादी व्यवस्था का विरोध था।

अंग्रेजों की कूटनीति और व्यापार प्रणाली ने भारत के ग्रामीण कुटीर उद्योग को नष्ट कर कारीगरों को मजदूर बना दिंया। नयी भूमि व्यवस्था के परिणाम स्वरूप अंग्रेजी पूंजीपति, भारतीय पूंजीपति, जमींदार, काश्तकार और मजदूर आदि नये वर्गों का निर्माण हुआ।

इस आर्थिक विषमता और शोषण के सुधार हेतु मार्क्स में श्रमजीवी वर्ग को अर्थतन्त्र और शासन तन्त्र का स्वामी बनने का सुझाव दिया। दिनकर इस विचार धारा से प्रभावित हुए और उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष का आह्वान किया।

दिनकर ने अर्थ–बैषम्य का विरोध किया काव्य के माध्यम से दिनकर ने वातावरण तैयार करने का प्रयत्न किया। 'हुंकार' काव्य में

दिनकर की हुंकार से क्रान्ति को बल मिला।

दिनकर के काव्य में पूंजीपतियों द्वारा शोषित जनता की करूणा भरी वाणी का समायोजन है।

गांधी जी ने भी मार्क्सवाद से प्रभावित होकर वर्ग हीन समाज की कल्पना की। गांधी जी से प्रभावित दिनकर ने भी साम्यवाद का समर्थन किया परन्तु गाँधीवादी दर्शन के अनुरूप।

परम्परा के प्रति उपयोगपरक दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर– ''कविता ने संसार की बड़ी सेवा की है। यह दुख मे आँसू, सुख में हँसी और समर में तलवार बनकर मनुष्यों के साथ रही है। मनुष्य की चेतना को उर्ध्वमुख दिखने में कविता का बहुत प्रबल हाथ है।'' यहाँ दिनकर कविता के आवेशमय प्रभाव के वैविध्य और विस्तार को रेखांकित कर रहे हैं। दिनकर का आवेशमूलक प्रभाव आधुनिक कविता के विपरीत जाता है। कविता में जहाँ संवेदना और ज्ञान का गूढ़ संश्लेष किया जाता है, वहाँ दिनकर अपनी रचना और समीक्षा दोनों में आवेश तत्व की सिद्धि पर बल देते हैं, जो पारंपरिक और रोमानी दृष्टिकोण ही कहा जा सकता है।

स्वयं अपनी कविता में दिनकर सदैव चुनाव की सभ्यता से जूझते रहे हैं। 'प्रण–भंग' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक उनकी काव्यगत मानसिकता परम्परा और आधुनिक के द्वन्द्व में उलझी रही है। दिनकर की परम्परा विषयक दृष्टि 'हारे को हरिनाम' में पर्याप्त संग्रहीत है। दिनकर की परम्परा के प्रति आस्था अतीत से विच्छिन्न सभ्यता की वेदना को संवेदनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। परम्परा को कोसने वालों का दिनकर ने 'हारे को

हरिनाम' नामक काव्य में निषेध किया है। परम्परा समाज की आस्था का आधार है और उसके समाप्त हो जाने पर व्यक्ति शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता।

कवि दिनकर की यह मान्यता है कि जीवन की गति का आशय अशान्ति नहीं। शान्ति के परिप्रेक्ष्य में भी जीवन की गति सम्भव है। दिनकर अपने विवेक द्वारा परम्परा की पुरातनता के रूढ़िगत तत्वों को अलगकर पाने में समर्थ है। 'नदी और पेड़' नामक कविता में दिनकर ने प्रतीकों का आश्रय लेकर रचनाकार की उस सृजन–प्रक्रिया को रेखांकित किया है जो परम्परा का मंथन करके रूढ़ि को उससे अलगाते हुए रचना धर्मिता का निर्वाह किया है। परम्परा के महत्व को स्थापित करते करते दिनकर बुद्धि, विज्ञान और टैक्नालाजी से एक सूक्ष्म सुरक्षात्मक युद्ध की नियोजना करने लगते हैं। यहाँ तक कि जब वे कविता, कवि अथवा उसकी अनुभूति की चर्चा करते हैं तब भी उनका मन परम्परोन्मुखी ही बना रहता है। दिनकर अपने कवि को परम्परा के अश्वत्थ से संयुक्त करते हुए नये की पृष्ठ भूमि का दावा करते हैं।

दिनकर कविता को उपयोगिता मूलक मानकर राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी काव्यात्मक सहभागिता से कभी पीछे नहीं हटे।

प्रेम और सौन्दर्यपर काव्य की धारा उनके राष्ट्रीय काव्य के समानान्तर बढ़ती रही है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में दिनकर आध्यात्म की ओर मुड़ गये थे।

दिनकर की मान्यता है कि उनकी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरी, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं। वे भारत के पाँच

सहस्त्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ थीं जो सौभाग्यवश हमारे ही काल में आकर फिर से जीना चाह रही थीं। दिनकर ने राष्ट्रीयता और शोषण के विरूद्ध आवाज उठाना उपयोगी समझा। इसके लिये उन्होंने पौराणिक कथानकों का सहारा लिया और उपयोगिता के आधार पर पौराणिक कथानकों को अपने अनुरूप प्रयोग किया और सफलता भी प्राप्त की। प्रगतिशील और प्रयोगपरक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर– मार्कसवादी विचार धारा के अनुसार सामाजिक विषमता का मूल कारण आर्थिक विषमता है। इसी पूँजीवादी अर्थ प्रणाली ने समाज में शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया। उत्पादन, विनिमय और वितरण पर पूँजीवादी अधिकार विद्यमान है। मार्क्स ने धन के असमान वितरण का विरोध किया है। इस असमानता को दूर करने के लिए उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होना चाहिये।

सामन्तवादी युग की रीति–नीति आदि पूंजीवादी युग में बदलगयी, जीवन के मूल्य बदलगये, आचार विचार सभी बदल गये। इसी कारण आर्थिक जगत की व्यवस्था परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन हो जाता है।

मार्क्स वादी विचार धारा ने हमारे साहित्यकारों को प्रभावित किया। दिनकर भी इस विचार धारा से प्रभावित हुआ और उनके काव्यों में सामाजिक न्याय, समता और वर्ग हीनता के स्वर गूँजने लगे। कवि दिनकर श्रमिकों एवं कृषकों को शोषकों द्वारा आहार के छीन लिए जाने, दनुजों द्वारा रक्त चूसे जाने, दिन भर बैल की तरह श्रम करके भी अन्न–वस्त्र के अभाव में विवश भाव से मौन रह कर संतोष करते, अपमानित, लांछित एवं

पददलित होते देखता है। और देखता है व्याज चुकाने के लिए उनकी नारी के लज्जा वसन को बिकते तथा उनके नादान शिशुओं को दूध के अभाव में स्वानों से भी बुरी दशा में तड़प—तड़प कर मरते। इससे उसका रक्त स्वभावतः खौल उठता है। 'हुंकार' में दिनकर का क्रान्तिकारी स्वर गूँज उठा।

एक बार लिया हुआ कर्ज पुस्त दर पुस्त चुकता नहीं हो पाता है। सब तरह से, सब प्रकार से स्वयं को असमर्थ तथा कठिनाइयों मे पा कृषक को भूमि बेचकर श्रमिक बनते देखा। 'धूप और छाँह' नांमक कविता में दिनकर गरज उठे।

दिनकर साम्यवाद लाने के पूर्व स्वतन्त्रता लाने के पक्षधर है। स्वतन्त्रता प्राप्ति पर ही समता, शोषण मुक्त समाज की स्थापना सम्भव है।

प्रयोग परक जीवन दृष्टि के समर्थक कवि दिनकर—सन् 1943 ई0 मे हिन्दी काव्य जगत में प्रयोगवाद का जन्म हुआ जिसके जन्मदाता थे श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय'।

अज्ञेय द्वारा सर्वप्रथम प्रयोगवादी कविता संग्रह 'तार सप्तक' निकाला। इस पुस्तक में अज्ञेय जी ने श्री गजानन माधव मुक्तिबोध, डा0 राम विलास शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजा कुमार माथुर, नेमचिन्द जैन आदि प्रयोगवादी की रचनायें सम्मिलित कीं।

हमें अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए नवीन भाषा, नये उपमान, नये प्रतीक आदि का सहारा लेना पड़ रहा है। पुरानी मान्यताओं के माध्यम से हम अपनी नवीन भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। कारण हमारी

भाषा प्राचीनता के आवरण में ढकी रहने के कारण आज अशक्त एवं शिथिल है। अतः परम्पराओं की कुहेलियों से बाहर निकल कर हमें नवीन रूपों का सृजन करना पड़ेगा। इसीलिए ये प्रयोगवादी कवि नवीनता का नारा अलापते हुए विषय, भाषा, भाव, छंद–विधान, उपमान आदि सबों में नवीनता लाना चाहते हैं। प्रयोगवाद की सबसे बड़ी विशेषता है अस्पष्टता और यही छायावाद का बड़ा से बड़ा दोष है। प्रयोगवाद फ्रायडवादी नीति से प्रभावित हैं। दिनकर भी इस सामान्य तथ्य का अपवाद नहीं हैं। उन्होंने 'प्रण भंग' से ही अपनी काव्यगत अस्मिता की तलाश आरम्भ कर दी थी और यह तलाश 'हारे को हरिनाम' तक अक्षुण्ण रही। वे अन्य श्रेष्ठ कवियो की तरह अपना काव्य पथ स्वयं सर्जित करने का प्रयत्न करते हैं। दिनकर भी प्रयोगधर्मिता से अछूते नहीं रहे।

'नील कुसुम' के प्रकाशन से पूर्व दिनकर पर अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित और समर्थित प्रयोगवादी आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ चुका था। दिनकर 'नीलकुसुम' के समय राष्ट्रीयता की पथरीली भूमि पर अँगारे डालने के दायित्व से मुक्त होने के लिए छटपटा रहे थे।

दिनकर ने अपने को प्रयोगवाद का पिछलग्गू माना है। इसके पीछे दिनकर के हृदय में यह झिझक रही हो कि 25 वर्षों तक राष्ट्रीयता और श्रृंगार की आवेग धर्मिता को काव्य में स्थान देता रहा हूँ, उसमें बदलाव अप्रत्याशित और अप्रिय आलोचना का कहीं केन्द्र न बन जाँय। यही कारण था कि प्रयोगवाद के अधिमूल्यन और अतिरिक्त विनम्रता को लेकर इस क्षेत्र में आये।,

दिनकर मानने लगे कि प्रयोग स्वयं में काव्य–सर्जना नहीं है,

अनुभूति के अन्तः साक्षात्कार का साधन है। प्रयोग वादियों का प्रयोग असम्बद्ध वाक्यों अथवा शब्द–क्रीड़ा में उलझ कर रह गया है। होना यह चाहिये था कि प्रयोगवादी कवियों के हृदय में जो नए स्वप्न मंडराने लगे हैं, वे बाहर आते और पाठकों का उनसे परिचय कराया जाता।

दिनकर बादगत प्रतिबद्धता की उन सीमाओं को समझ गये थे जो प्रयोग वादियों के अधिकांश प्रयोगों को निरर्थक करती थी। अब दिनकर के लिये प्रयोग चमत्कार नहीं था, एक साधना थी। वे मानने लगे कि प्रयोगवाद अभी रास्ते में ही है और दिशा निर्देश कर रहा है।

दिनकर का विचार था कि प्रयोगवाद हिन्दी कविता को जिस ओर जाने का संकेत देता है, वह काव्य की सबसे बड़ी दिशा है और इसीलिए प्रयोग की साधना भी ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की जा सकती।

इस प्रकार दिनकर ने अन्ततः प्रयोगवाद को नहीं प्रयोग धर्मिता को स्वीकार किया है। यह प्रयोग धर्मिता 'नील कुसुम' के बाद दिनकर के अग्रिम काव्यों में निरन्तर विकसित और प्रौढ़ होती गई।

क) उपजीव्य ग्रन्थ

ख) उपस्कारक ग्रन्थ

ग) पत्रा-पत्रिकायें

(क) उपजीव्य ग्रन्थ– (अकारादि क्रम से)

(सभी ग्रन्थों के रचयिता–श्री रामधारी सिंह 'दिनकर')

पद्य–कृतियाँ

पुस्तक	प्रकाशक	प्रकाशन काल
1. उर्वशी	चक्रवाल प्रकाशन, कुल्हड़िया हाउस अशोक राजपथ, पटना–4	1973
2. कुरुक्षेत्र	उदयांचल, राजेन्द्र नगर, पटना–16	1971
3. कोयला और कवित्व	" "	1964
4. चक्रवाल	" "	1956
5. द्वन्द्वगीत	" "	1954
6. दिनकर की सूक्तियाँ	" "	1965
7. दिल्ली	चक्रवाल प्रकाशन पटना 4	1954
8. धूप और धुआँ	अजन्ता प्रेस, पटना 4	1951
9. नये सुभाषित	उदयांचल, पटना–4	1978
10. नीम के पत्ते	" "	1963
11. नील कुसुम	" "	1954
12. परशुराम की प्रतिक्षा	" "	1963
13. प्रणभंग	प्रकाशन, दिल्ली	1976
14. बापू	उदयांचल, आर्यकुमार रोड पटना–4	1977
15. मृत्ति तिलक	" "	1964
16. रसबन्ती	" "	1966
17. रश्मिरथी	" "	1978

18. रेणुका ״ ״ 1935

19. वट पीपल ״ ״ 1961

20. सामधेनी ״ ״ 1948

21. सीपी और शंख״ ״ 1966

22. हारे को हरिनाम ״ ״ 1970

23. हुंकार अजन्ता प्रेस, पटना–4 1955

गद्य कृतिया

1. काव्य की भूमिका उदयांचल, पटना–4 1958

2. संस्कृति के चार अध्याय उदयांचल, पटना–4 1966

3. दिनकर की डायरी उदयांचल, पटना–4 1973

बाल साहित्य (काव्य)

1.चित्तौर का साका उदयांचल, पटना–4 1964

2.धूप छाँह उदयांचल, पटना–4 1964

3.मिर्च का मजा चक्रवाल प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना–4 1964

4.सूरज का व्याह ״ ״ 1964

ख उपस्कारक ग्रन्थ

(संस्कृत)

1. अथर्ववेद संहिता जयदेव शर्मा, अजमेर
2. ऋग्वेद संहिता जयदेव शर्मा, अजमेर
3. चित्यूपनिषद व्यंकेश्वर स्टीम प्रेस–कल्याण
4. छान्दोग्य उपनिषद गीताप्रेस–गोरखपुर
5. मुण्डोपनिषद गीताप्रेस–गोरखपुर
6. तैत्तरीय उपनिषद गीताप्रेस–गोरखपुर
7. गीता–शंकर भाष्य गीताप्रेस–गोरखपुर
8. महाभारत गीताप्रेस–गोरखपुर
9. मनुस्मृति गीताप्रेस–गोरखपुर
10. श्रीमद् भागवत गीताप्रेस–गोरखपुर
11. विष्णुपुराण गीताप्रेस–गोरखपुर
12. स्कन्द पुराण गीताप्रेस–गोरखपुर
13. ब्रह्म पुराण गीताप्रेस–गोरखपुर
14. ब्रह्माण्ड पुराण गीताप्रेस–गोरखपुर
15. विक्रमोर्वशीय–कालिदास– स्टीम वेंकटेश्वर प्रेस कल्याण
16. तंत्र लोक व्यंकटेश्वर स्टीम प्रेस कल्याण
17. सतपथ ब्राह्मण व्यंकटेश्वर स्टीम प्रेस कल्याण

हिन्दी

1. आधुनिकता के हासिये में उर्वशी– डा0 जयसिंह नीरद, दिल्ली, 1977
2. उर्वशी : विचार और विश्लेषण– डा0 वचन देव कुमार– पटना, 1968

3. उर्वशी : उपलब्धि और सीमा– डा0 विजेन्द्र नारायण सिंह–पटना 1967

4. उर्वशीः कला और विचार– डा0 नागेन्द्र

5. उर्वशी : संवेदना और शिल्प– डा0 टीकाराम शर्मा, दिल्ली 1976

6. उर्वशी : एक अध्ययन – टी0 मधुसूदन, दिल्ली

7. कामायनी की काव्य भाषा–रमेशचन्द्र गुप्ता, दिल्ली

8. कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन–द्वारकाप्रसाद सक्सेना, आगरा,1973

9. कामायनी– जयशंकर प्रसाद, इलाहाबाद, 1972

10. कुरुक्षेत्र मीमांसा– कान्तिमोहन शर्मा, नईदिल्ली

11. खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ– विश्वम्भर मानव

12. छायावाद की प्रासंगिकता, रमेशचन्द्र शाह, दिल्ली 1973

13. तीसरा सप्तक– अज्ञेय, दिल्ली, 1959

14. दिनकर की काव्य भाषा का संरचनात्मक अध्ययन, डा0 सुरेशचन्द्र दुबे, दिल्ली

15. दिनकर का काव्य–द्वारका प्रसाद सक्सेना, नई दिल्ली, 1979

16. दिनकर के साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति–डा0 रमारानी सिंह, गाजियाबाद, 1984

17. दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व–डा0 जगदीश प्रसाद, दिल्ली 1977

18. दिनकर एक सहज पुरूष– शिवसागर मिश्र, दिल्ली, 1981

19. दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ– आचार्य कपिल, पटना, 1951

20. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि– प्रो0 कामेश्वर शर्मा, वनारस

21. दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन, डा0 वीजेन्द्र नारायण सिंह, इलाहाबद, 1967

22. दिनकर –पं0 शिव बालक राय, प्रयाग

23. दिनकर : जीविनी और कृतित्व– डा0 सावित्री सिन्हा, दिल्ली 1970

24. दिनकर की राष्ट्रीयता, तारक नाथ बली

25. दिनका का परवर्ती काव्य– डा0 हरदयाल

26. दिनकर की उर्वशी– रमाशंकर तिवारी, वाराणसी

27. दिनकर कृत उर्वशी के स्रोतों का अध्ययन– डा0 मनोहर लाल, मेरठ, 1974

28. दिनकर सृष्टि और दृष्टि– डा0 गोपाल कृष्ण कौल, गाजियाबाद, 1968

29. महाकवि दिनकर : उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ– डा0 विनय कुमार जैन–दिल्ली–6

30. दूसरा सप्तक– अज्ञेय, दिल्ली, 1970

31. प्राचीन भारतीय साहित्य– एम0 विन्टर नित्ज

32. मार्क्सवाद के विकास की कुछ विशेषतायें, आर्द0 लेनिन

33. मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास– डा0 एन.रवीन्द्रनाथ, दिल्ली

34. युग चेतादिनकर और उनकी उर्वशी–राजपाल शर्मा, दिल्ली 1973

35. युग चारण दिनकर– डा0 सावित्री सिन्हा, दिल्ली 1973

36. राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्य कला– डा0 गोपाल राय, पटना, 1975

37. रामधारी सिंह दिनकर : पालने से चिता तक– राजेश्वर प्रसाद सिंह

38. रामधारी सिंह दिनकर– मनमथनाथ गुप्ता

39. विश्व इतिहास की झलक– पं0 जवाहरलाल नेहरू

40. विद्रोह और साहित्य– डा0 नरेन्द्र मोहन

41. स्नातकोत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्य– डा0 बनवारी लाल शर्मा

42. समानान्तर– रमेश चन्द्र शाह

43. साहित्य की आस्था तथा अन्य निबन्ध– महादेवी वर्मा

44. हारे को हरिनाम– विष्णुकान्त शास्त्री

45. हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन– देवी प्रसाद गुप्त

46. हिन्दी शब्दकोष–डा0 हरदेव बाहरी, दिल्ली

अप्रकाशित शोध–ग्रन्थ

1. उर्वशीः स्रोत एवं उद्भावना– डा0 सुनीति– उस्मानियाँ वि0वि0

2. दिनकर : काव्य कला दर्शन– डा0 प्रतिभा जैन, विक्रम वि0वि0

3. दिनकर की काव्य भाषा– यतीन्द्र तिवारी, कानपुर वि0 वि0

4. दिनकर कृत उर्वशी के स्रोतों का अध्ययन– डा0 मनोहर लाल शर्मा, मेरठ वि0वि0

5. राष्ट्रकवि दिनकर की काव्य कला– डा0 शिखर चन्द्र जैन, गुजरात वि0वि0

अंग्रेजी

6. पर्सनलटी– एन इन्टर डिसिप्लिनरी एप्रोच– एल.पी. थाम्स

7. डाइलेक्टिव मेटिरियालिज्म– माउरिशकार्न फोर्श

8. ब्रिटिश रूल इन इन्डिया– कार्ल मार्क्स

9. दि मैन हिम सेल्फ– ई0 फ्राम

10. थ्योरीज एण्ड पर्सनलिटी– हाल एण्ड हिन्डसे

ग) पत्र–पत्रिकायें

1. इण्डिया टुडे– आर.पी. दत्त
2. ज्योत्सना– दिनकर विशेषांक, जुलाई 62
3. धर्मयुग– दिनकर स्मृति अंक–77
4. समीक्षा– दिनकर स्मृति अंक
5. साहित्य सन्देश, अक्टूबर
6. हिन्दी वार्षिकी– डा0 नगेन्द्र